प्राक्कथन

आरम्भिक निवेदन

बचपन की कुछ रचनाओ के पश्चात्, जिन्हे मै एक प्रकार के खिलौने मानता हूँ, फिर से लेखनी उठाने का सौभाग्य मुझे जेल मे ही प्राप्त हो सका। वहाँ मैने छोटे-बडे बारह नाटक लिखे। इनमे एक पौराणिक, दो ऐतिहासिक एव नौ सामाजिक है, और एक पौराणिक, एक ऐतिहासिक और एक सामाजिक, तीन नाटक, इस जिल्द मे प्र— — हो रहे है।

बाल्यावस्था से ही मुझे नाटको से अनुराग रहा है। इस अनुराग के कारण मुझे पहले हिन्दी और हिन्दी के द्वारा बँगला, फिर अँगरेजी और अँगरेजी के द्वारा अन्य देशो के नाटक तथा नाटक-साहित्य पर अनेक ग्रन्थ पढने एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, बँगला और अँगरेजी नाटक देखने का अवसर पडता रहा है। नाटको के प्रति इसी अनुराग के कारण कला-सम्बन्धी ग्रन्थो के अध्ययन एव मनन का भी अवसर आया है और इस प्रकार श्रेष्ठ-कला तथा कला के अन्तर्गत श्रेष्ठ नाटक के सबध मे आपसे-आप कुछ मत स्थिर होते गये है। इन्ही मतो की नीव पर इन नाटको की रचना हुई है। अत पाठको के सम्मुख इन नाटको को रखते हुए मै जिस प्रकार की कला को श्रेष्ठ कला और जिस प्रकार के नाटको को श्रेष्ट नाटक मानता हूँ उसका भी इस प्राक्कथन द्वारा सक्षिप्त विवेचन कर देना उचित समझता हूँ। परन्तु, इस विवेचन का यह अर्थ न समझ लिया जाय कि इन टूटे-फूटे नाटको के लिखने म मैने कोई महान् कार्य करने का सकल्प किया था और मै यह समझ रहा हूँ कि उसमे मुझे सफलता मिली है। जेल के एकान्तवा का समय व्यतीत करने के लिए ही मैने इन नाटको का

लिखना आरभ किया, फिर अनेक मित्रो के सग होने पर भी, तीनो द
के जेल-जीवन मे यह कार्य चलता रहा। बिना किसी सकल्प या निश्
के, अनायास ही, इन नाटको की रचना हुई है और मै भलीभाँति जान
हूँ कि श्रेष्ठ कला और श्रेष्ठ नाटक-सवधी मेरे ही मतो की कसौटी प
कसे जाने से ये नाटक खरे न उतरेगे।

ललित कला

यह बात निर्विवाद है कि सृष्टि मे मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान उसक
ज्ञान-शक्ति के कारण है। विद्वानो ने मनुष्य के ज्ञातव्य पदार्थो को मो
रूप से दो विभागो मे बाँटा है—एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। यह
उन्होने 'प्राकृतिक' ओर 'कृत्रिम' शब्दो को अत्यन्त व्यापक अर्थ मे लिया है
प्राकृतिक विभाग मे वे वस्तुएँ ली गयी है जिनके निर्माण मे मनुष्य का को
हाथ नही रहता और कृत्रिम विभाग मे वे वस्तुएँ जिनका निर्मा
वह स्वय करता है। कृत्रिम विभाग को विद्वानो ने दो मोटे उप-विभाग
मे बाँटा है—एक विज्ञान और दूसरा कला। कला के, हमारे पूर्वी
विद्वानो ने ६४ विभाग किये है, किन्तु मोटे रूप से इसके भी दो विभाग है
एक वह कला जिसका कोई पार्थिव उपयोग है और दूसरी ललित कला जो
अपने सौदर्य से मनुष्य के हृदय को आनन्द पहुँचाती है। ललित कला का
यथार्थ मे पार्थिव क्षेत्र ही नही है। उसके दर्शन अथवा श्रवण से मनुष्य के
हृदय मे भावो की जाग्रति होती है और रस का प्रादुर्भाव होकर उसे आनद
मिलता है। ध्यान रखने की बात यह है कि ललित कला के आनद को
उत्पन्न करनेवाले दो ही मार्ग है—आँखे और कान। मनुष्य की पाँचो
ज्ञानेन्द्रियो मे आँख और कान इन्ही दो इन्द्रियो का पार्थिवता के सग कम से
कम प्रत्यक्ष ससर्ग होता है, अत इनके द्वारा जिन भावो और रस की उत्पत्ति
होकर इस रस की चरम सीमा पर जिस आनद की प्राप्ति होती है, उसकी
तुलना हमारे भारतीय प्राचीन ऋषि-महर्षियो ने मोक्ष-सुख से की है। इसी

इस प्रकार की कला का निर्माण करनेवाला कलाकार अपनी वस्तु के निर्माण करने के पूर्व उसकी कोई निश्चित योजना बनाता है अथवा बिना योजना बनाये ही निर्माण का कार्य आरभ कर देता है, अथवा योजना बनाने के पश्चात् जैसे-जैसे उसका कार्य आगे बढता जाता है वैसे-वैसे उस योजना मे परिवर्तन होता जाता है। इस सबध मे एक ही बात नही कही जा सकती। हमे तीनो प्रकार के कलाकार मिलते है, परन्तु बहुधा तीसरे प्रकार के कलाकारो की कृतियाँ ही सर्वश्रेष्ठ होती है। बात यह है कि ये कलाकार अपनी वस्तु की पहले से योजना बना लेने पर भी, निर्माण के समय अपने कार्य मे इस प्रकार तल्लीन हो जाते है कि उन्हे अपने और अपने कार्य के बीच मे भिन्नता का भास ही नही होता। उनका कार्य उन्हे अपनी बनायी हुई योजना के भीतर बद्ध नही रहने देता और उनका कार्य जिस ओर उन्हे ले जाना चाहता है, उस ओर, बिना जाने, मत्र-मुग्ध की भाँति वे खिचे हुए चले जाते है। फिर भी इतनी बात तो माननी ही होगी कि किसी भी कला-जन्य महान् वस्तु के निर्माण मे यदि पूरी योजना न हो तो भी उसके प्रधान उद्देश का निश्चय तो पहले से ही हो जाता है। इस सबध मे रूस के एक प्रसिद्ध नाटककार और कहानी लेखक शिकाव ने लिखा है—

"प्रत्येक कलाजन्य रचना का कोई एक उद्देश अवश्य होना चाहिए और उसे अपने समक्ष रखकर रचना करनी चाहिए। पर, ऐसा न करके, यदि तुम बिना किसी उद्देश को अपने दृष्टिकोण में रखकर, कला के पथ पर अग्रसर होगे तो तुम न केवल अपना व्यक्तित्व, वरन् अपना विशेषत्व भी नष्ट कर दोगे।"

यहाँ अब यह प्रश्न उठता है कि इस उद्देश की महानता का निर्णय किस कसौटी से किया जाय, जब कि अब तक यही निश्चय नही हो सका कि मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश है तथा मनुष्य का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन किस ओर और किस प्रकार जा रहा है, तब कलाजन्य वस्तु के उद्देश की महानता का निर्णय कैसे हो ? यदि एक काल के तत्ववेत्ताओ ने मनुष्य-

जीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के सबध मे एक बात कही है तो दूसरे काल के तत्ववेत्ताओ ने उसके ठीक विपरीत। किसी समय यदि मनुष्य-जीवन का सर्वप्रधान ध्येय ईश्वर-प्राप्ति रहा है तो किसी समय ईश्वर के अस्तित्व पर ही सबसे अधिक कुठाराघात हुआ है। किसी काल मे यदि समाज के सामूहिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष माना गया है तो किसी काल मे व्यक्तिगत जीवन की उन्नति ही सबसे प्रधान बात। जिस समय मे, जिस प्रकार के विचार की प्रधानता रही है उस समय के कलाकारो की कृति भी उसी विचार के अनुरूप निर्मित हुई है। बात यह है कि जिस काल मे मनुष्य उत्पन्न होता है, जिस वायुमण्डल मे उसका लालन-पालन और शिक्षण होता है, उसका मस्तिष्क और हृदय उसी काल एव उसी वायुमण्डल के अनुसार बन जाता है तथा उसकी छाप उसकी कृतियो मे रहती है, यहाँ तक कि यदि उससे वह बचना चाहे तो भी वच नही सकता। इसीलिए कला को मनुष्य-समाज का चित्र भी कहा जाता है और प्रत्येक कलाकार की कृति मे हमे उसके समय के समाज का किसी न किसी प्रकार का चित्र अवश्य ही देखने को मिलता है।

इस प्रकार यद्यपि मनुष्य-जीवन और कला के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के सबध मे एक ही बात कहा जाना सभव नही है तथापि प्रत्येक कलाकार को अपने मतानुसार मनुष्य-जीवन और उसके साथ ही, अपनी कृति का कोई न कोई उद्देश निश्चित तो करना ही पडता है।

ससार मे अब तक किये गये समस्त अनुसन्धानो मे मेरी दृष्टि से देश, काल और पात्र के परे सबसे बडा अनुसन्धान वेदान्त के 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' महावाक्य मे भरा हुआ है। 'सभी ब्रह्म है' इससे वडे सत्य का मनुष्य अब तक पता नही लगा पाया है। समस्त सृष्टि एक ही तत्व है, यह वैज्ञानिको की भी सबसे बडी खोज है। इसका अनुभव करना ही मै मनुष्य का सबसे बडा ज्ञान मानता हूँ। जब तक यह पचभूतमय शरीर है तब तक

मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये विना नही रह सकता। इस अनुभव के पश्चात् मनुष्य वैसे ही कर्म करेगा जो सवके लिए हितकारी हो, क्योंकि समस्त सृष्टि मे एकता का अनुभव होने के पश्चात् अपना-पराया यह भेद-भाव उसके लिए रह ही नही जायगा एव जिस प्रकार अपनी भलाई मे दत्तचित्त रहना मनुष्य का स्वभाव है उसी प्रकार समस्त सृष्टि की भलाई मे दत्तचित्त रहना उसका स्वभाव हो जायगा। और, आगे वढकर यह कर्म जव वह निष्काम होकर करेगा तव उसके लिए दु ख भी न रहेगा और वह सदा आनन्द का उपभोग करता रहेगा। 'सर्व खल्विद ब्रह्म' ज्ञान का अनुभव, इस अनुभव के अनुरूप समस्त के उपकार मे दत्तचित्त रहनेवाला कर्म और इस कर्म को निष्काम कर, आनद का उपभोग ही मै मनुष्य-जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश मानता हूँ, तथा जो ललित कला मनुष्य को अपने सौदर्य-द्वारा उसके हृदय मे भावो और रसो का प्रादुर्भाव कर उसे आनद देते हुए इस आदर्श को प्राप्त करने मे सहायता पहुँचाती है उसीको सर्व-श्रेष्ठ ललित कला।

इस प्रकार की ललित कला की नीव 'आदर्शवाद' (Idealism) ही रहेगा, परन्तु आदर्शवाद की नीव पर स्थित रहते हुए भी इस कला का वाह्य स्वरूप 'यथार्थवादी' (Realistic) होना आवश्यक है। वात यह है कि आदर्शवाद जव तक यथार्थवाद से ढँका हुआ न हो तव तक वह मनुष्य की पहुँच की वस्तु नही रहता और अस्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार के आदर्शवाद से ऊव उठने के कारण ही पश्चिम ने यथार्थवाद की शरण ली। इँग्लेण्ड और फ्रॉस के जगप्रसिद्ध नाटक-कार शेक्सपियर और मोलियर के समय से वहाँ की रचनाओ का यथार्थवादी होना आरभ हुआ और इँग्लेण्ड के प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकिन्स और थैकरे के समय यह यथार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया। परन्तु, जिस प्रकार यथार्थवाद से ढँके रहने के विना, आदर्शवाद मनुष्य की पहुँच के परे की वस्तु होकर अस्वाभाविक हो जाता है, उसी प्रकार आदर्शवाद

की नीव के बिना यथार्थवाद भी पोचा रहता है। नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने इस यथार्थवादी शैली मे परिवर्तन कर 'स्वाभाविक-वाद' (Naturalism) को जन्म दिया, जिसके भीतर यद्यपि आदर्शवाद लहरे लेता रहता है परन्तु उसका बाह्य स्वरूप यथार्थवादी रहता है। इब्सन के पश्चात् पश्चिम के प्राय सभी प्रसिद्ध लेखक इसी प्रणाली पर चले है। स्वीडन के स्ट्रेन्डवर्ग, रूस के टॉल्सटाय, फ्रॉन्स के रोमा रोलॉ, जर्मनी के टामसमैन और इँग्लेण्ड के वर्नार्ड शा आदि सभी इसी प्रणाली के लेखक रहे है और है।

नाटक

ललित कलाओ मे जिस प्रकार काव्य-कला का सर्वोच्च स्थान है उसी प्रकार काव्य-कला मे दृश्य-काव्य का। श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य के श्रेष्ठ होने का यह कारण तो है ही कि जहाँ श्रव्य-काव्य केवल कानो द्वारा आनद देता है वहाँ दृश्य-काव्य कानो और आँखो दोनो मार्गो द्वारा, परन्तु इसीके साथ दृश्य-काव्य का स्थान ऊँचा होने का यह कारण भी है कि उसमे पाँचो ललित कलाओ का इकट्ठा समावेश रहता है। नाटक मे जो दृश्य दिखाये जाते है उनसे शिल्प, मूर्ति और चित्र-कला के देखने का आनन्द मिलता है, एव नृत्य, गायन और कथोपकथन से सगीत और काव्य का।

भारतवर्ष मे नाट्यशास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ भरत मुनि का मिलता है। यद्यपि पाणिनि के व्याकरण मे नाट्य-शास्त्र के शिलालिन्द और कृशाश्व दो आचार्यो के नाम मिलते है, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। भरत मुनि के ग्रन्थ मे इस कला का विवेचन इतनी बारीकी से किया गया है कि इसके पूर्व इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये होगे इसका सहज मे अनुमान हो सकता है।

नाटक मे अभिनय करनेवाला किसी अन्य व्यक्ति का रूप धारण कर, उसके अनुसार आचरण करता है इसलिए भरत मुनि ने नाटक का उपयुक्त

लिए कलाओ मे ललित कलाओ का सर्वोच्च स्थान है। ललित कलाओ के पाँच मोटे उपविभाग किये गये है—शिल्प, मूर्ति, चित्र, सगीत और काव्य। इनमे काव्य-कला सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। मनुष्य जो कुछ देखता या सोचता है उसे दूसरे के प्रति प्रकट करने की उसकी नैसर्गिक इच्छा होती है। सुन्दरता से इसका प्रकाशन, चाहे वह जिस रूप मे भी हो, ललित कला है। किसी वस्तु-विशेष को देखने, सुनने अथवा किसी बात पर विचार करने के पश्चात् मस्तिष्क मे कल्पनाएँ उठती है, क्योकि कुछ सीमा तक ही बुद्धि की पहुँच है। जहाँ बुद्धि की पहुँच नही है वहाँ मनुष्य केवल कल्पना का आश्रय लेता है। जिन ललित कलाओ का कोई स्थूल आधार है जैसे शिल्प, मूर्ति आदि का पाषाण, धातु, काष्ठ, मृत्तिका इत्यादि, अथवा चित्र का पट आदि, उनके निर्माण मे कल्पना को उतनी स्वतत्रता नही मिलती जितनी काव्य-कला मे, क्योकि काव्य-कला का आधार कोई स्थूल पदार्थ न होकर केवल शाब्दिक सकेत है। ललित कलाओ मे काव्य-कला के सर्वश्रेष्ठ स्थान माने जाने का यही कारण है।

ललित कलाओ से प्रेम रखनेवाले सभी सज्जन जानते है कि ललित कला-विशेषज्ञो मे दो दल है। एक ललित कला का कार्य केवल मनोरजन मानता है। उसका मत है कि, 'कला का उद्देश कला ही है' (Art for art's sake)। दूसरा दल कहता है—'कला का कार्य उपदेश देना है।' मुझे कला-विशेषज्ञो मे पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एव अर्वाचीन दोनो ही प्रकार के विद्वानो के मत पढने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जहाँ मुझे प्राचीन भारतीय विद्वान् मम्मटाचार्य, विश्वनाथ, क्षेमेन्द्र और पडितराज जगन्नाथ आदि तथा प्राचीन यूनानी विद्वान् अफलातूँ (Plato) और अरस्तू (Aristotle) इत्यादि के कला-सबधी विवेचनो के अध्ययन का अवसर आया है वही मुझे आधुनिक पश्चिमी विद्वान् जर्मनी के कैन्ट, शैलिंग, हीगल और शोपेनहर, फ्राँस के वॉल्टेयर, वफीयर और

टेन तथा इँग्लेड के हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉन रास्किन और क्लाइव बैल आदि के मतो को पढने का भी अवसर मिला है। इन विद्वानो के मतो के अध्ययन और मनन के पश्चात् मै तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि कला के सबध मे यह विवाद ही निरर्थक है। जो लोग कला को उपदेश देने का एक साधन मात्र मानते है अथवा जो कुछ भी ऊट-पटाँग लिखकर कला का उद्देश कला ही है यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है, वे दोनो ही, कला के साथ अन्याय करते है। कला धर्म नही है कि जिसके द्वारा पद-पद पर उपदेश दिया जावे और न वह ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य का केवल मनोरजन हो, क्योकि केवल मनोरजन तो ऐसा मनोरजन भी हो सकता है जिसका परिणाम दु ख-प्रद हो। फ्राँस के जगविख्यात साहित्यिज्ञ रोमा रोलाँ ने अपने सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास 'ज्यॉक्रिस्टोफीन' मे एक स्थान पर लिखा है—

"कला के लिए कला! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो बलवानो का है। कला! जीवन को वैसे ही जकड कर पकडना जैसे गरुड अपने शिकार को पकडता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन-मण्डल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड जाना। इसके लिए तुम्हे सुदृढ़ पंजो, महान् पंखो और बलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु, तुम हो क्या? तुम हो मकानो में फुदकनेवाली मामूली चिडिया, जिसे ज्योही मांस का नन्हॉ-सा टुकडा मिल जाता है त्योही उस पर इधर-उधर चोच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियो से लडते हुए चेचें करती हैं। कला के लिए कला! रे तुच्छ मनुष्य! कला वह मार्ग नही है जिस पर अपने को पथिक समझनेवाले सभी चल सके। इस पर कहा जायगा कि क्यो नहीं, जब कि कला में मजा है, जब कि उसमें सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रक्खो, यह वह आनन्द है जो लगातार कडे से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है—यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य बलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है—नियंत्रित, सयमित, सर्या-

दित जीवन। कला जीवन का सम्राट् है। सीजर के समान सम्राट् होने के लिए सीजर की-सी बलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट् होना तो दूर रहा, साधारण राजाओ की छायामात्र हो। तुम साधारण अभिनेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नही कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियो तथा दोषो के द्वारा पैसा पैदा करते है उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियो से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढते हो। तुम जान-बूझकर तत्परता से अपने देशवासियो की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियो, उनकी कायर प्रयत्नहीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओ, उनकी कामुक मनोवृत्तियो, उनकी काल्पनिक मनुष्य-हित-कामनाओ को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियो को, जो इच्छा-शक्ति को कमजोर करती है, जो कर्मण्यता को खोखला करती है, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशो से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल में ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परन्तु तुम स्वीकार न करोगे। परन्तु, मै तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहाँ कला नही है। कला तो जीवन का स्रोत है। परन्तु, तुम्हारे सब से अधिक ईमानदार समझे जानेवाले लेखक तक इतने कायर है कि उनकी आँखो की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते है। वे धृष्ठतापूर्वक कहते है—'हाँ, कला के लिए कला का सिद्धान्त खतरनाक है, जहरीला है, परन्तु उसमें बुद्धि है, प्रतिभा है।' वाह! कितना विचित्र तर्क है—मानो किसी गुण्डे को सजा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे कि—'यह पापी अवश्य है, परन्तु इसमें बडी बुद्धि है, बडी प्रतिभा है'।"

रोमा रोलॉ महोदय के मतानुसार कला के निर्माण मे कलाकार को कितना ऊँचा उठना होगा यह लिखने की आवश्यकता नही है, तथा इस प्रकार की कला प्रत्यक्ष मे उपदेश न देते हुए भी अपने प्रेक्षको अथवा श्रवण-

कर्ताओ को किस ओर और कितना ऊँचा उठाकर ले जायगी यह भी लिखना निरर्थक है।

इस प्रथम और प्रधान कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् कलाजन्य वस्तुओ मे कौन महान् है, इसे तौलने के लिए हमे अन्य साधनो की आवश्यकता होती है। कोई कहेगा कि जिस वस्तु मे अत्यधिक मौलिकता हो वही महान् समझी जानी चाहिए, कोई यह भी कह सकता है कि जिसके द्वारा सबसे अधिक मनोरजन हो वही श्रेष्ठ है और कोई यह भी विचार सकता है कि जिससे सबसे अधिक शिक्षा मिले वही सबसे अच्छी कला है। इस सबध मे इँग्लेड के जग-विख्यात तत्ववेत्ता जॉन रास्किन ने अपने 'माडर्न पेन्टर्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे एक स्थान पर कलाजन्य उत्तम वस्तु की जो व्याख्या की है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते है—

"अब मै उत्तम कलाजन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश आ जावें। इसीलिए मै यह नही कहता कि वही कलाजन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनद देवे, क्योकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् शिक्षा देना हो और आनद देना न हो। मै यह भी नही कहता कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् आनद देना ही हो और शिक्षा देना न हो। मै यह भी नही कहना चाहता कि कलाजन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है जिसमें सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो। और मै यह भी न कहूँगा कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सबसे अधिक नवीनता हो, क्योकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश अनुकरण करना हो और नवीनता का निर्माण नही। मै तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान् विचारो को उत्पन्न कर सके।"

नाम 'रूपक' रख उसके दो विभाग 'रूपक' और 'उपरूपक' करे, रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये है और नाटक के तीन प्रधान अग कहे है—वस्तु (कथा), नेता (नाटक का नायक) और रस।

भरत मुनि ने इन तीनो अगो का वडा विशद वर्णन और विश्लेषण किया है। उनके कथन का सक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

वस्तु के दो प्रकार है—'मुख्य' और 'प्रासगिक'। 'वीज' और 'कार्य' वस्तु की दो सीमाएँ है। बीज कथा का आरभ है और कार्य परिणाम। आरभ और परिणाम के बीच मे सघर्ष की तीन अवस्थाएँ है—'विन्दु', 'पताका' और 'प्रकरी।' विन्दु में बीज का अकुर दिखायी देता है और विन्दु नाटक को क्रमवद्ध रखने के लिए अन्त तक विद्यमान रहता है, पताका और प्रकरी मुख्य कथा के अन्तर्गत बडी और छोटी कथाएँ है। वस्तु के ये विभाग 'अर्थ-प्रकृति' कहे जाते है। इसी प्रकार वस्तु की नाटकीय गति के पॉच विभाग है—'आरभ', 'प्रयत्न', 'प्राप्त्याशा', 'नियताप्ति' और 'फला-गम'। जहाँ एक विभाग की समाप्ति और दूसरे विभाग का आरभ होता है उस स्थल को 'सन्धि' कहा है। सन्धि पॉच है—'मुख', 'प्रतिमुख', 'गर्भ' 'अवमर्श' और 'उपसहृति' या 'निर्वहण'। मुख-सन्धि के १२ अग, प्रतिमुख, गर्भ अवमर्श के १३ अग तथा उपसहृति अथवा निर्वहण सन्धि के १४ अग माने गये है। इनका प्रयोग छ निमित्तो से किया जाता है—'इष्टार्थ, गोप्य-गोपनार्थ, प्रकाशनार्थ, रागार्थ, आश्चर्यार्थ और वृत्तान्तार्थ।' समस्त वस्तु के दो विभाग है, (१) जो बाते अभिनय के समय रगमच पर दिखाना चाहिए और (२) जिन बातो की सूचनामात्र कर देनी चाहिए।

नेता के सबध मे भरत मुनि का कथन है कि नेता 'धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर-ललित और धीर-प्रशान्त', इन चारो मे से किसी एक प्रकार का होना चाहिए।

फिर 'वृत्तियो' अर्थात् कार्य करने के ढँग का वर्णन किया गया है।

ये वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गयी है—'भारती', 'कौशिकी', 'सात्वती' और 'आरभटी'। प्रत्येक वृत्ति के चार अग है और उन अगो के अनेक उपाग। यह सारा कार्य नाटक के पात्र 'आगिक' अर्थात् अभिनय, 'वाचिक' अर्थात् कथोपकथन, 'आहार्य' अर्थात् वेश-भूषा और 'सात्विक' अर्थात् हास्य, रुदन आदि द्वारा करते है। कथोपकथन तीन प्रकार से होता है—'श्राव्य', (जो सब सुन सकते है), 'अश्राव्य' (स्वगत्, अँगरेजी मे इसे सॉलीलॉकी' कहते है) और 'नियत श्राव्य' (जिसे कुछ पात्र सुन सकते है और कुछ नही, अँगरेजी मे जिसे 'एसाइड' कहते है)। नियत श्राव्य के दो भेद है—पहला 'अपवारित' और दूसरा 'जनातिक'। अपवारित छिपी हुई बात का नाम है और जनातिक दो पात्रो का गुप्त सभाषण।

इसके पश्चात् रसो का वर्णन है। सभी जानते है कि भारतीय साहित्यिज्ञो ने ९ रस माने है जिनकी उत्पत्ति उनके ९ स्थायी भाव, ३३ सचारी या व्यभिचारी भाव एव विभाव और अनुभाव के मिश्रण से होती है। काव्य के इस रसास्वादन का आनद भरत मुनि ने ब्रह्मानद का सहोदर माना है।

ऊपर मैने भरत मुनि के नाटक लिखने की पद्धति (technique) का सकेतमात्र किया है। यथार्थ मे उनके मतो का विवेचन एक दो पृष्ठो मे करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। नाटककारो को भरत मुनि के ग्रन्थ का मनन आज भी आवश्यक है। परन्तु मै एक बात और भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि समय मे महान् परिवर्तन हो जाने के कारण यदि आज कोई नाटककार केवल इस प्राचीन भारतीय पद्धति का आश्रय लेकर नाटक रचना करेगा तो वह सफल नही हो सकता। इस सबध मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र ने जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। बाबू साहब अपने एक निबन्ध मे लिखते है—

"नाट्य-कला-कौशल दिखाने को देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असभव

कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नही होती। अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इसमें अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कही 'आशी' प्रभृति नाट्यालकार, कही 'प्रकरी', कही 'विलोचन', कही 'सफेट', कही 'पंच सधि' आदि ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नही रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।"

मै भारतेन्दुजी से वहुत दूर तक सहमत हूँ, फिर भी मै इतना अवश्य मानता हूँ कि प्राचीन पद्धति के मनन से आधुनिक काल मे भी श्रेष्ठ नाटक के प्रणयन मे वहुत सहायता मिलती है।

नाट्य-कला पर पश्चिम का सर्व प्रथम ग्रन्थ यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का लिखा मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम 'पोइटिक्स' (Poetics) है। भरत मुनि के काल के सबध मे हम केवल अन्दाज लगाते है, और विद्वानो का कथन है कि नाट्य-शास्त्र पर भरत मुनि का ग्रन्थ ससार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। परन्तु, विद्वानो ने अरस्तू का काल निश्चित किया है। उनका जन्म ईसा के ३८४ वर्ष पूर्व हुआ और मृत्यु ईसा के ३२२ वर्ष पूर्व। विद्वानो का मत है कि अरस्तू ने इस ग्रन्थ को ईसा के ३३० वर्ष पहले लिखा था। ध्यान देने योग्य वात यह है कि जिस प्रकार भरत मुनि ने वस्तु, नेता और रस को प्रधानता दी है उसी प्रकार अरस्तू ने भी 'प्लॉट' (वस्तु), 'हीरो' (नेता) और 'इमोशन' (रस) इन्ही तीन वातो को प्रधान माना है। अरस्तू ने नाटको को दो विभागो मे वॉटा है—'ट्रेजिडी' और 'कॉमेडी'। आजकल ट्रेजिडी का अर्थ दु खान्त और कॉमेडी का अर्थ सुखान्त किया जाता है। किन्तु प्राचीन यूनान मे इनका इतना ही अर्थ न

था। प्राचीन भारतीय नाट्य-कला मे दुखान्त नाटको को अवश्य स्थान न था, किन्तु यूनानी ट्रेजिडी मे जिस इमोशन या रस का प्रादुर्भाव होता है वह प्राचीन भारतीय नाट्य-कला मे भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। फिर भी इतना मानना ही होगा कि यूनानी ट्रेजिडी मे जिस प्रकार नाटक का अन्त दुख मे होता है उसका प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में निषेध किया गया है।

प्लॉट (कथा) के सबध मे अरस्तू ने लिखा है—

"नाटक मनुष्य का नही, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणो से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण करने के लिए कृति का अनुकरण नही करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस प्रकार नाटक का अन्तिम ध्येय कृति एव कथानक है और अन्तिम ध्येय यही महत्व की बात है।"

हीरो (नेता) के सबध में अरस्तू ने लिखा है—

"वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो अत्यन्त नामांकित तथा समृद्धिशाली हो।"

भरत मुनि का नेता अरस्तू के नेता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

अरस्तू ने भी नाटक का कार्य इमोशन (रस) का प्रादुर्भाव माना है। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पप्ट हो जाता है। —

"ट्रेजिडी से 'emotion of pity and terror' **अर्थात् करुण और भयानक-रस तथा कॉमेडी से** 'emotion of laughter' **अर्थात् हास्य-रस की उत्पत्ति होनी चाहिए।"**

इस प्रकार हम देखते है कि नाट्य-कला के आरभिक काल मे पूर्व के प्रधान सभ्य देश भारत और पश्चिम के प्रधान सभ्य देश यूनान के विद्वानो-

द्वारा निर्धारित व्यापक तत्वो मे विशेष मत-भेद नही है। परन्तु, भारतेन्दुजी के कथनानुसार जिस प्रकार प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार वर्तमान काल मे सफल नाटको की रचना नही हो सकती उसी प्रकार प्राचीन यूनानी पद्धति से भी वर्तमान काल के नाटक नही लिखे जा सकते। हॉ, नाटककारों के लिए भारतीय पद्धति के सदृश ही यूनानी पद्धति का ज्ञान भी आवश्यक अवश्य है।

भरत मुनि और अरस्तू के पश्चात् दोनो दिशाओ मे नियमबद्धता का काल उपस्थित हुआ। भरत मुनि के पश्चात् भारतीय विद्वानो ने यहाँ की नाट्य-कला को छोटे-छोटे नियमो से बाँधा और रोम के होरेस (Horace) नामक विद्वान् ने अपने ग्रन्थ 'दी एपीसल टु दि पिसास' (The Epistle to the Pioses) द्वारा पश्चिमी नाट्य-कला को कडे नियमो से जकडा। इसका यह फल हुआ कि अनेक शताब्दियो तक दोनो दिशाओ मे , मशीन-द्वारा बनायी हुई वस्तुओ के समान, एक सदृश नाटको की रचना होती रही।

ईसा के पश्चात् सत्रहवी शताब्दी मे पश्चिम मे, शेक्सपियर और मोलियर ने इस नियमबद्धता को तोडा और इन दोनो महान् नाटककारों के पश्चात् नाट्य-कला पर इँग्लेण्ड मे ड्रायडन ने जो महान् ग्रन्थ 'एसे ऑफ दी ड्रेमेटिक पोयसी' (Essay of the Diamatic Poesie) लिखा, उससे पश्चिम की इस नियमबद्धता का अन्त हुआ। यह ग्रन्थ प्रत्येक नाटककार के अध्ययन की वस्तु है। भारत मे आधुनिक काल मे ड्रायडन के ग्रन्थ के सदृश किसी ग्रन्थ का निर्माण नही हुआ, परन्तु आधुनिक नाटककारो ने भी प्राचीन नियमो की अवहेलना कर शेक्सपियर और मोलियर का अनुसरण अवश्य किया है।

नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन के पश्चात् पश्चिम मे नाटक लिखने की पद्धति मे पुन परिवर्तन हुआ। इब्सन ने जिस पद्धति से अपने नाटक लिखे उसी पद्धति का स्वीडिन के स्ट्रेण्डवर्ग, फ्रॉस के ब्रूइक्स, जर्मनी

के हाप्टमेन, रूस के शिकाव, अमेरिका के नील, आयरलैण्ड के सिन्जे और इँग्लैण्ड के बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, बैरी आदि ने अनुसरण किया है और मेरे मत से भारतीय परिस्थिति के अनुसार उचित परिवर्तन कर उसी पद्धति का अनुसरण भारतवर्ष मे भी आवश्यक है। कतिपय लेखको ने यह अनुसरण अब आरभ भी कर दिया है।

पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एव आधुनिक विद्वानो के मतो का समिश्रण कर यदि हम उसका निचोड निकाले तो मेरे मतानुसार, उत्तम और सफल नाटक मे निम्नलिखित बातो का होना आवश्यक है—

नाटक मे सर्वप्रथम किसी 'विचार' (Idea) की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहाँ साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए 'सघर्ष' (Conflict) अनिवार्य है। सघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनो ही प्रकार का आवश्यक है। बाह्य सघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति के साथ समाज या राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्रीवर्ग का हो सकता है। आन्तरिक सघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का सघर्ष है। इसे बाह्य सघर्ष से अधिक महत्व है। यह सघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है और प्रतिक्षण इसमे परिवर्तन होता है। नाटक मे, यही, मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। इस विचार और सघर्ष की सबद्धता और मनोरजकता के लिए 'कथा' (Plot) की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रो के नही हो सकती, अत पात्रो का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है और चूँकि नाटक की कथा लेखक-द्वारा नही कही जा सकती इसलिए पात्रो की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन है।

जिस नाटक मे जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र सघर्ष होगा, जितनी सगठित एव मनोरजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण

होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एव कथोपकथन होगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।

इस उत्तमता और सफलता के लिए इन सब अगो की, एक दूसरे के सग मे इस प्रकार की सबद्धता आवश्यक है जिससे सारे नाटक पर 'एकता' (universality) के वायुमण्डल की स्थापना हो सके।

पूर्व और पश्चिम दोनो दिशाओ के प्राचीन विद्वानो ने इस एकता की स्थापना के लिए अनेक उपाय निकाले थे, जिनमे निम्नलिखित मुख्य है—

(१) नेता की प्रधानता।

(२) दैवी पात्रो का समावेश, चाहे वे देवता हो, या भूत-प्रेत।

(३) उपकथा 'पताका' या 'प्रकरी' का समिश्रण।

(४) प्राकृतिक वर्णन का आश्रय।

प्राचीन काल के सभी नाटक धार्मिक या ऐतिहासिक विपयो पर लिखे जाते थे। उनका नेता या तो कोई अवतारी पुरुष या राजा होता था। उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य पात्रो से इतना ऊँचा रहता था कि उसके कारण समस्त नाटक पर एकता की स्थापना मे बहुत अधिक सहायता मिलती थी। अर्वाचीन काल मे धार्मिक तथा ऐतिहासिक नाटको की अपेक्षा सामाजिक नाटक अधिक लिखे जाते है। धार्मिक और ऐतिहासिक नाटको मे नेता की अत्यधिक प्रधानता रह सकती है, परन्तु सामाजिक नाटको के सभी पात्र साधारण गृहस्थ होने के कारण तब तक नेता को प्रधानता नही मिल सकती जब तक वह किसी विशिष्ट सामाजिक दल का प्रतिनिधि न हो। बिना इसके सामाजिक नाटक मे एकता का स्थापित करना बहुत ही कठिन हो जाता है, अत इस ओर अत्यधिक ध्यान रखना आवश्यक है। प्राचीन काल का अवतारी पुरुष या राजा भी तो उस समय के समाज का प्रतिनिधि ही होता था। यही उसके महत्व का कारण था। उपर्युक्त उपाय से आधुनिक सामाजिक नाटको के नेता मे भी यह महत्व लाया जा सकता है।

दैवी पात्रो का समावेश, उन नाटको को छोडकर जिनमे स्वप्न दिखाया जाता है, अब अस्वाभाविक है, परन्तु उसके स्थान पर अब एक नवीन उपाय की सृष्टि हुई है। वह है नाटक के प्रधान विचार, पात्र अथवा घटना से नाटक के सर्वथा बाहर की किसी विशिष्ट वस्तु का सामजस्य या सादृश्य, जिसे अँगरेजी मे 'सिम्बालिजिम' (Symbolism) कहते है। इब्सन के 'वाइल्ड डक' और 'लेडी फ्राम दि सी' नाटको मे यही किया गया है। इस सामजस्य या सादृश्य से समस्त नाटक पर एकता की स्थापना मे बहुत सहायता मिलती है।

उपकथा और प्राकृतिक वर्णन का इस वायुमण्डल की स्थापना के लिए अभी भी उपयोग किया जा सकता है।

जिस प्रकार सृष्टि मे हर वस्तु का आरभ, विकास और अन्त होता है उसी प्रकार नाटक का भी। नाटक किस स्थान पर आरभ हो और विकास के पश्चात् उसका कहाँ अन्त हो उस पर बहुत अधिक ध्यान रखना आवश्यक है। उपन्यास या कहानी आदि के सदृश नाटक का आरभ, विकास और अन्त नहीं हो सकता। इसके दो प्रधान कारण है—पहला यह कि उपन्यास या कहानी मे लेखक पात्रो के कथोपकथन के अतिरिक्त अपनी ओर से भी बहुत कुछ कह सकता है, दूसरा यह कि पहले हो चुकी बातो का वर्णन उपन्यास या कहानी मे पीछे से भी किया जा सकता है। नाटक मे ये दोनो बाते सम्भव नही है। फिर नाटक प्रदर्शन की वस्तु है अत उसमे क्षणमात्र की शिथिलता को भी स्थान नही मिल सकता। अत सघर्ष से ही नाटक का आरभ होना सर्वोत्तम है। विकास के अनन्तर अन्त या तो जिस स्थल पर विषय पूर्ण विकास (Climax) पर पहुँचे वहाँ होना चाहिए, या पूर्ण विकास के पश्चात् उपसहार के लिए यदि कुछ कहना हो तो उपसहार के अनन्तर। आजकल नाटको का अन्त किस प्रकार होता है इस सबध मे बर्नार्ड शा का निम्नलिखित वक्तव्य पढने योग्य है—

"सुख में या दु ख में नाटक के अन्त करने की प्रथा अब निरुपयोगी

हो गयी है। ज्यो ही नाटककार अचानक हो जानेवाली घटनाओ को छोड कर जीवन में नित्य होनेवाली घटनाओ के आधार पर रचना आरंभ करता है, त्यो ही वह 'अन्त रहित' नाटको को लिखता है। नेता के विवाह या वध के दृश्य पर यवनिका का पतन नही होता; परिणाम समझने के लिए पर्याप्त चरित्र-प्रदर्शन होते ही यवनिका-पतन हो जाता है।"

परन्तु, ध्यान रहे, उपर्युक्त समस्त बातो के होते हुए भी यदि किसी नाटक मे 'रस' या 'इमोशन' का प्रादुर्भाव न हो तो वह कला का कोई उत्तम नमूना नही कहा जा सकता। यह लिखने की आवश्यकता नही है कि रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और सचारी भावो से युक्त स्थायी भाव के व्यजित होने से होती है। नाटक पढने और देखने दोनो की वस्तु है और चूँकि नाटक श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय दोनो ही मार्गो से हृदय के भावो को उद्दीप्त करता है इसलिए श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक मे रस का परिपाक कही अधिक सफलता से हो सकता है, किन्तु इस सफलता को प्राप्त करना सरल नही है। थोडी-सी असावधानता से ही नाटक मे रस-भग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढने में अच्छे जान पडते है वे रगमच पर सफल नही होते और जो रगमच पर सफल होते है उनमें पढते समय तो कोई विशेषता नही दिखती। रंगमच पर घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटित होती है कि मन को विचार करने का बहुत थोडा अवसर मिलता है और पढते समय विचार की मात्रा अधिक रहती है। रगमच पर घटना-प्रधान या दूसरे शब्दो मे 'वस्तु' या 'प्लॉट' प्रधान नाटक अधिक सफल होते हैं और पढते समय भाव-प्रधान। भावो के समावेश के लिए घटना की गति को यदि कम किया जाता है तो प्रदर्शन में शिथिलता आती है और घटना की यदि तीव्र गति रखी जाती है तो भावो के समावेश को समय नही मिलता। इसीलिए बहुत थोडे नाटक ऐसे पाये जाते है जो प्रदर्शन के समय जन-समुदाय को सतुष्ट करे और साथ ही उच्च भावो से भी भरे हो। भावो की उच्चता के बिना साहित्य की

कोई भी वस्तु स्थायी महत्व की नही हो सकती। दोनो बातो का उचित मिश्रण कुशल नाटककार ही कर सकता है।

उत्तम नाटक रचने के लिए कला और काव्य-कला की व्यापक बातो पर ध्यान रखने के अतिरिक्त यथार्थ मे और कोई नियम उपयोगी नही हो सकते। जीवन-सबधी समस्याओ का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, ससार का अनुभव और लेखक की प्रतिभा ही नाटक-रचना के प्रधान साधन है। हॉ, एक बात के सबध मे नियम अवश्य उपयोगी है, वह है— स्वाभाविकता। नाटको के प्रदर्शन के कारण उनमे अत्यधिक स्वाभाविकता नितान्त आवश्यक है। पश्चिम ने इस सबध मे महान् उन्नति की है। हमारे यहाँ के अनेक अच्छे नाटक इस पर ध्यान न दिये जाने के कारण सर्वथा भ्रष्ट हो गये है, अत, स्वाभाविकता के विषय मे, मै यहॉ कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक समझता हूँ।

नाटकों की स्वाभाविकता

यह पहले लिखा जा चुका है कि स्वाभाविकवाद (Naturalism) का आरम्भ पश्चिम मे नारवे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन से हुआ है। स्वाभाविकता लाने के लिए इब्सन ने अपने पीछे से लिखे हुए नाटको मे दो प्रधान बाते की है। पहली यह कि उन्होने 'अश्राव्य' और 'नियत श्राव्य' दोनो प्रकार के स्वगत्-कथनो का, नाटको से पूर्णत बहिष्कार कर दिया, अर्थात् एक तो किसी पात्र का अकेले आकर रगभूमि मे बोलते रहना (Soliloquy) और दूसरा किसी पात्र के खडे रहने पर एक पात्र का बोलते रहना (Aside), जिसे रगभूमि मे उपस्थित सारा जन-समुदाय तो सुन सकता है, पर उसके निकट खडा हुआ पात्र इतना बधिर मान लिया जाता है कि वह नही सुन सकता। स्वगत्-कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटको मे और कोई नही हो सकती, जिसमे दूसरी प्रकार का स्वगत्-कथन (Aside) तो सर्वथा

अस्वाभाविक है। प्रथम प्रकार का स्वगत्-कथन साधारणतया स्वाभाविक नही है, क्योकि मनुष्य, हृदय मे जो कुछ सोचता है, उसे सदा वडवडाया नही करता, पर हाँ, कभी-कभी हृदय मे भावो का अत्यधिक आवेग हो जाने पर, एक दो वाक्य मुख से निकल सकते है। इसी प्रकार असीम शोक मे विलाप करते हुए, एक लम्वा स्वगत्-कथन हो सकता है, कोई पागल प्रलाप करता हुआ या मादक द्रव्य खाया हुआ व्यक्ति एक लम्वा स्वगत्-भापण कर सकता है और भावो के बहुत अधिक प्रवाह मे चित्र, मूर्ति आदि से भी स्वगत्-वार्तालाप सम्भव है। मै तो यहाँ तक कहूँगा कि ऐसे अवसरो पर स्वगत्-कथन न हो तो वह अस्वाभाविक वात होगी। स्वय इव्सन तथा उसके अनुयायियो के नाटको मे भी हमे इस प्रकार के स्वगत्-कथन मिलते है। स्वगत्-कथन कहाँ स्वाभाविक होता है इसके अनेक दृष्टान्त पश्चिमी नाटको मे मिलते है। यहाँ मै वर्नार्ड शा के नाटक 'प्रेस कटिग' से एक उद्धरण देता हूँ। इस नाटक मे जेनरल मिचरन जव अपने घर के नीचे की सडक पर 'वोट फॉर वीमेन', 'वोट फॉर वीमेन' की चिल्लाहट सुनता है, तव चूँकि वह वर्तमान शासन-सुधारो के सर्वथा विरुद्ध है, क्रोध से अपनी वन्दूक उठा लेता है और अपने-आप कहता है—'वोट फॉर वीमेन, वोट फॉर वीमेन, वोट फॉर वीमेन, वोट फॉर चिल्ड्रेन, वोट फॉर वेबीज।' जेनरल के उस समय के इस स्वगत्-भाषण से स्वाभाविकता उल्टी वढ गयी है, पर इस प्रकार के स्थलो को छोडकर पात्रो का रगभूमि पर लम्वे-लम्वे स्वगत्-भाषण करना सर्वथा अस्वाभाविक है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि कालिदास, शेक्सपियर आदि सभी प्राचीन, पूर्वीय और पश्चिमी सफल नाटककारो के नाटको मे इस प्रकार के कथन है और इतने पर भी ये नाटक जैसे उच्चकोटि के है वैसे आजकल के नाटक नही लिखे जाते। परन्तु, ससार मे कोई वस्तु पूर्णता को न पहुँची है न कभी पहुँच ही सकेगी। कालिदास और शेक्सपियर

के पश्चात् नाट्य-कला का और भी विकास हुआ है। यदि उनके समान नाटको की अब सृष्टि नही होती तो इसका कारण यह है कि वैसे प्रतिभाशाली नाटककारो का इस समय जन्म नही हुआ। स्वगत्-कथन यदि उनके नाटको मे न होता तो इसमे सन्देह नही कि नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक और भी अच्छे होते। स्वगत्-भाषणो को हटाने के लिए पश्चिम के नाटककारो ने कई उपाय निकाले है। नाटको मे वे कुछ ऐसे पात्र जोड देते है जिनका काम केवल मुख्य पात्रो से वातचीत करना ही होता है। टेलीफोन द्वारा वातचीत से भी स्वगत्-कथन का कार्य चल जाता है और किसी-किसी नाटक मे अपने पालतू कुत्ते, विल्ली, वन्दर या पक्षियो के सामने कुछ पात्र अपने मन की बाते कह डालते है। स्वगत्-कथन का काम इनमे से किसी भी साधन का सावधानतापूर्वक उपयोग करने से चल सकता है।

नाटको मे स्वाभाविकता लाने के लिए जो दूसरी बात इब्सन ने की है वह है नाटको से पद्य, कविता और नृत्य का बहिष्कार। पश्चिम के सभी आधुनिक नाटककारो ने भी इब्सन का अनुसरण किया है। हमारे यहाँ नाटको मे पद्य, कविताओ और नृत्य की भरमार रहती है, यहाँ तक कि पात्र गद्य मे बोलता-बोलता उसी विषय को कविता मे बोलने लगता है। गानो की तो इतनी भरमार रहती है कि युद्ध मे जानेवाला वीर खड्ग निकालकर उसे घुमाता हुआ गाता है, कोई बीमार मर रहा है, तो उसके सिरहाने गाना होता है, कोई मर जाता है तो उसके शव पर गाया जाता है, यहाँ तक कि मरनेवाला पात्र स्वय गाता-गाता मरता है। हमारे यहाँ के नाटक का एक पात्र गाता हो तो कहा जाय, राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, मत्री, सेनापति, विदूषक और साधारण नागरिक सभी गाते है और सब अवसरो पर। यह नाटको मे बन्द करना चाहिए। पर, योरुप के नाटककारो के सदृश गायन, नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा वहिष्कार करने की भी मेरे मत से आवश्यकता नही है। ससार

मे गाने से कई व्यक्तियो को प्रेम होता है, अत नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते है। गायन अधिकतर प्राकृतिक सौन्दर्य आदि ऐसे विषयों पर हो जिससे यह भावना उठे कि पात्र गद्य मे बोलते-बोलते तत्काल उन्ही भावो का पद्य बनाकर गाने लगा है। साथ ही, ऐमे पात्र ऐसे अवसरो पर गावे जो स्वाभाविक जान पडे। हॉ, कोई कवि पात्र जिस विपय पर कथोपकथन करता है उसी विषय पर तत्काल गा भी सकता है, परन्तु सब पात्र नही। अकेला पात्र भी रगभूमि मे गा सकता है, क्योकि अकेले मे प्राय मनुष्य गाने लगता है। कविता भी उद्धरण आदि के स्वरूप मे बोली जा सकती है और नृत्य भी सभाओ, प्रीति-भोज आदि के अवसरो पर हो सकता है। बिना गायन, कविता या नृत्य के गद्य नाटक भी हो सकते है। जहॉ यह आवश्यक नही है कि गायन, कविता और नृत्य का नाटक से पूर्ण बहिष्कार किया जाय वहाँ यह भी आवश्यक नही है कि प्रत्येक नाटक मे गायन, कविता और नृत्य रखे ही जावे। उर्दू नाटको मे एक बात और होती है जो कुछ हिन्दी-नाटककारो ने भी अपनायी है। कुछ पात्र इस प्रकार की भाषा मे बोलते है जिसके अन्तिम शब्द तुक के रूप मे मिल जाते है, अर्थात् गद्य मे ही एक प्रकार की तुकबन्दी हो जाती है। यह अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा है, क्योकि बातचीत मे कभी ऐसा नही होता, अत इसका प्रयोग भी बन्द होना आवश्यक है।

नाटको मे स्वाभाविकता लाने के लिए प्राचीन काल मे, यूनान मे, एक और निश्चय हुआ था कि आदि से अन्त तक सारा नाटक इस प्रकार रचा जाना चाहिए कि जिससे वह किसी एक ही स्थान मे हो रहा है, ऐसा मालूम हो, साथ ही उसकी अवधि भी एक ही दिन की घटना तक परिमित रहे और वह एक ही कृत्य के सम्बन्ध मे भी हो। इसे साहित्यिज्ञो ने 'सकलन-त्रय' या 'समक' नाम दिया है। अब यह बात कही प्रचलित नही रही और विद्वानो ने यह मान भी लिया है कि नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त दूषित है, हाँ, फ्रॉन्स मे कुछ नाटक अभी भी इस सिद्धान्त

के अनुसार लिखे जाते हैं। फिर भी इस सम्बन्ध मे अभी कुछ भ्रम रह गया है। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपने 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध मे लिखा है—**"साधारणतः नाटको मे दो-चार वर्ष की घटनाएँ सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-सम्बन्धी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पाये और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में कितना समय बीता है।"** बाबू श्यामसुन्दरदासजी के इस मत से मैं सहमत नही हूँ। पहले तो यदि चार या पाँच घण्टो मे होनेवाले नाटक मे दो-चार वर्ष की घटनाओ का समावेश हो सकता है तो कितने ही दीर्घ काल की घटनाओ का भी हो सकता है। शेक्सपियर का 'विन्टर्स टेल' नाटक एक स्थल पर पूरे चौदह वर्ष के पश्चात् से आरम्भ होता है और बर्नार्ड शा के नाटक 'बैक टु मैथ्यूसुला' मे तो मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसके अन्त तक की काल्पनिक कथा का वर्णन है। फिर इस सम्बन्ध मे जिस प्रकार के कौशल के प्रयोग का सकेत बाबू श्यामसुन्दरदासजी करते है, मेरा मत उसके ठीक विपरीत है। मेरा तो मत है कि यदि एक ही नाटक मे एक घटना के पश्चात् की दूसरी घटना यथेष्ट समय के पश्चात् आरम्भ होती है, तो उस घटना के आरम्भ मे ही दर्शको को नाटक के पात्रो द्वारा ही यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि इतने समय के पश्चात् से नाटक का आरम्भ होता है, साथ ही यह बात इस कौशल से बतायी जानी चाहिए कि दर्शको को यह भी न जान पडे कि यह पात्र, यह भाषण इसीलिए कर रहा है कि दर्शको को यह मालूम हो जाय कि नाटक की घटनाएँ अब इतने समय के पश्चात् आरम्भ होती है।

नाटक की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए योरुप मे एक बात का और प्रचार हो चला था कि पात्रो के भाषण लम्बे न हो, पर इब्सन और

उसके कुछ अनुयायियो ने अपनी कृतियों से यह सिद्ध कर दिया है कि स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक नही है। कई स्थानों पर तो लम्बे भाषण स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक हो जाते है। उदाहरण के लिए किसी सार्वजनिक सभा के दृश्य मे यदि वक्ता दो-चार वाक्य कहकर ही अपना भाषण समाप्त कर दे तो वह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक बात हो जायगी. इसी प्रकार कथोपकथन मे भी कई स्थानो पर लम्बे भाषण आवश्यक और उपयुक्त होते है। यदि हम पश्चिम के आधुनिक श्रेष्ठ नाटककारो के नाटको मे से उनके पात्रो के कुछ लम्बे भाषणो को निकाल डाले तो उनके नाटको के सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही नही हो सकेगा। हां, कहां किस प्रकार का कथन हो इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई एक पात्र मर रहा है तो इस अवस्था मे यदि वह लम्बा भाषण देगा तो वह सर्वथा अस्वाभाविक होगा।

हिन्दी-नाटको मे अब तीन ही अक रखने की प्रथा चल पडी है और फिर प्रत्येक अक को बराबर रखने का पयत्न किया जाता है। यह भी एक ऐसी बात है जिससे कई नाटक बहुत ही अस्वाभाविक दिख पडते है। अको की संख्या, व्यवस्था तथा उनकी बडाई-छुटाई कथानक पर निर्भर है। यदि अधिक अक होगे तो उन्हे छोटा रखना होगा। अधिक अकों से अधिक बार यवनिका-पतन कराने के अतिरिक्त और कोई कठिनाई नही होती। यह हो सकता है कि अधिक अको के नाटक मे एक अक के पश्चात् दूसरा अक आरम्भ करने मे बहुत अधिक समय न लिया जाय, क्योकि दर्शक, अनेक बार, यदि बहुत समय तक प्रतीक्षा की अवस्था मे बैठे तो ऊब उठेगे।

बहुत अधिक पात्र रखना यह हमारे नाटको को और अस्वाभाविक बना देता है। कई नाटको का तो यह हाल है कि हम आरम्भ से अन्त तक अनेक पात्रो को पहचान तक नही पाते और इसी कारण चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास नही होने पाता। यह कहना तो कठिन है कि पात्रो

की सख्या अधिक से अधिक कितनी हो, पर वह जितनी कम से कम रह सके उतना ही अच्छा है। मुख्य पात्रो के सहायक-स्वरूप हम नगर-निवासी इत्यादि उपपात्र रख सकते है।

जहाँ हमे नाटको को अत्यधिक स्वाभाविक बनाने का पूर्ण उद्योग करना चाहिए वहाँ हमे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इस स्वाभाविकता के पीछे हम इतने पागल न हो जायँ कि काव्य के मुख्य प्रयोजन की ओर, जिसका विवेचन मैने इस कथन के आरम्भ मे ही किया है, हमारा ध्यान ही न रह जाय। इस सम्बन्ध में, नाट्य-कला मे दक्ष इँग्लेण्ड के एक अनुभवी नट मि० फिलिप बी० बैरी जिन्होने बीस वर्ष तक नट का कार्य किया है, अपनी 'हाउ टु सक्सीड एज ए प्लेराइट' नामक पुस्तक मे लिखा है—

"......नाटककार की दृष्टि अत्यन्त व्यापक होनी चाहिए। उसे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यो न हो, नाटक में पूर्ण यथार्थवाद कभी भी प्राप्त नही किया जा सकता। जीवन की जो घटनाएँ दिनो, सप्ताहो, मासो या वर्षो की है उनका कुछ घटो में प्रदर्शन ही यथार्थवाद के लिए सबसे बडी आपत्ति है और जब इस उद्देश की पूर्ति पूर्ण रीति से सम्भव नही है, तब उसे अपनी रचना को कल्पनाओ के रंग और वैचित्र्यपूर्ण उडान से वचित क्यो रखना चाहिए? ....यदि कोई लेखक मुझसे पूछे कि आजकल के पश्चिमी नाटको में किस बात की कमी है तो मै यही कहूँगा कि उनमें 'उडान' की महानता नही है।"

इस सम्बन्ध मे बर्नार्ड शा ने अपने 'क्वेनी सैन्स ऑफ इव्सनइजिम' नामक ग्रन्थ मे जो कुछ लिखा है वह भी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते है—

"नाटकघर का अनुभवी मैनेजर यह वृथा ही कहता है कि दर्शक नाटकघर में केवल मनोरजन चाहते है, शिक्षण नहीं; वे बडे-बडे भाषणो

को सहन नही करेंगे; कोई नाटक १८००० शब्दो से अधिक का नही होना चाहिए; वह ठीक ९ बजे आरम्भ हो कर ११ बजे समाप्त हो जाना चाहिए; उसमें राजनीति और धर्म का विवाद नही होना चाहिए; इन स्वर्ण नियमो की अवहेलना दर्शको को बुरे नाटकघरो को ले जायगी; नाटक में एक बुरे चरित्र की स्त्री अवश्य होनी चाहिए; इत्यादि, इत्यादि। ये सब सम्मतियॉ उन नाटको के लिए उपयुक्त हो सकती है जिनमें कोई महान् विषय चर्चा के लिए न हो। इन बातो की वह नाटककार अवहेलना कर सकता है जो नैतिक सिद्धान्तो पर चर्चा करता है और जो इस प्रकार के कथोपकथन को सुन्दरता से कराने की शक्ति रखता है तथा अच्छा नाटक-कार भी है। ऐसे नाटककार की बातो को दर्शक, बिना घडी की ओर देखे, अथवा अपनी शारीरिक सुविधाओ की ओर दृष्टि दिये, सुनेंगे। हाँ, इसके लिए दर्शको को आरम्भ में उस काल को समझ सकने योग्य अभ्यास की आवश्यकता होगी।"

इब्सन और उसके अनुयायियों के नाटको का योरुप मे पहले तो बड़ा तिरस्कार हुआ, पर पीछे से उन्हे पश्चिम के लोगो ने जिस चाव से देखा है उससे यह सिद्ध हो गया है कि सन् १८९५ मे जो भविष्य-वाणी बर्नार्ड शा ने की थी वह सत्य निकली।

आयरलेण्ड के प्रसिद्ध नाटककार सिन्जे अपने 'दि टिन्कर्स वेडिग' नामक नाटक की भूमिका मे इसी विषय पर लिखते है—

"हमें नाटकघर उस प्रकार नही जाना चाहिए जिस प्रकार हम किसी दूकान पर जाते है, वरन् इस प्रकार जाना चाहिए जिस प्रकार हम भोजन करने के लिए जाते है, जिसकी हमें आवश्यकता होती है और जो हम आनन्द एवं भावपूर्ण हृदय से खाते है। ....जिन वस्तुओ से कल्पनाओ और विचारो का पोषण होता है वे अत्यन्त आवश्यक है और उनका सीमित करना अथवा नाश बडी भयानक बात है।"

सफल नाटक का साहित्य में स्थान

सफल नाटक साहित्य में कितना उच्च स्थान रखता है इस विषय में लन्दन-यूनिवर्सिटी के अँगरेजी भाषा के अध्यापक डाक्टर ए० निकोल ने अपने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ड्रैमेटिक थियोरी' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"साहित्य के समस्त विभागो में नाटक उसका सबसे अधिक विलक्षण, सबसे अधिक रोमाञ्चकारी और घटनाओ को सबसे अधिक पटुता से प्रदर्शित करनेवाला विभाग है। जिस समाज में उनका प्रादुर्भाव होता है उस समाज की आन्तरिक भावनाओ के वह इतने निकट रहता है, अनेक युगो तक भिन्न-भिन्न देश-देशान्तरो के निवासियो को विविध प्रकार से वह इतना प्रभावित करता है, मानव समाज के समस्त वर्ग जहाँ एकत्रित होते है, उस रगमच से वह इतना घनिष्ठ सबध रखता है, उसका दृष्टिकोण एव ध्येय सामाजिक दृष्टि से इतना व्यापक रहता है और हास्य रस तथा विदूषकता के गहरे से गहरे गर्त में उतर कर भी वह कवि-कल्पना के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की इतनी क्षमता रखता है कि मानव-बुद्धि-द्वारा उपार्जित साहित्य में मनोरजन की दृष्टि से उसका निश्चयपूर्वक ही सर्वश्रेष्ठ स्थान सिद्ध हो जाता है।"

नाटक का कार्य मनोरजन के अतिरिक्त और क्या है इस सम्बन्ध मे भी उपर्युक्त लेखक अपनी इसी पुस्तक मे कहते है—

"यह स्पष्ट है कि अपने उच्चतम रूप में नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नही है। जिस काल में नाटक का केवल इतना ही उपयोग होता है... उस काल की नाट्य-रचना निम्न-कोटि की एव विचारशून्य रहती है। उत्तम नाटक का प्रादुर्भाव केवल उसी समय होता है जब नाटक मनोरंजन के साथ-साथ किसी विचार विशेष अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय सिद्धान्त का प्रदर्शन करता है।"

उत्तम और सफल नाटक के आवश्यक गुणो और स्वाभाविकता का यह विवेचन हो चुकने के पश्चात् हमे नाटको की कुछ अन्य बातो की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

नाटक में हास्य-रस

हास्य-रस नाटक का एक आवश्यक गुण है, किन्तु सभी नाटको मे यह नही रखा जा सकता। किसी-किसी नाटक मे हास्य-रस रखने से उसके रस-परिपाक मे बडी बाधा पहुँचती है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो बडी बुरी तरह रस-भग हो जाता है। परन्तु, यहाँ यह न समझ लिया जाय कि दु खान्त (tragedy) नाटको मे हास्य-रस नही रखा जा सकता। अनेक दु खान्त नाटको मे भी यह सफलतापूर्वक रखा जा सकता है। हास्य की उत्पत्ति किन कारणो से होती है इसकी चर्चा पूर्वीय और पश्चिमीय दोनो साहित्यकारो एव मनोविज्ञान के ज्ञाताओ ने खूब की है, जिसका अध्ययन प्रत्येक नाटककार के लिए आवश्यक है। मै यहाँ इस विषय का कोई विस्तृत विवेचन नही करना चाहता, फिर भी नाटको मे किस प्रकार के हास्य-रस रखने का मै पक्षपाती हूँ और कौनसा हास्य-रस मै सर्वथा निषिद्ध समझता हूँ इस पर सक्षेप से कुछ लिख देना चाहता हूँ।

हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत वस्तु के देखने अथवा सुनने से होती है, यद्यपि सभी असाधारण या विकृत वस्तुओ के देखने या सुनने से हास्य का प्राढुर्भाव नही होता। स्थूल दृष्टि से जिन बातो से हास्य की उत्पत्ति होती है वे निम्नलिखित है—

(१) असाधारण या विकृत रूप
(२) ” ” वेश
(३) ” ” सकेत
(४) ” ” चरित्र

(५) असाधारण या विकृत परिस्थिति
(६) " " शब्द और वाक्य

इनमे से १, २, ३ और ४ से जिस हास्य की उत्पत्ति होती है वह साधारण कोटि का है। मन पर उसका कोई गहरा प्रभाव नही पडता। पाँचवे और छठवे प्रकार का हास्य उच्चकोटि का है और मन पर, इसका गहरा प्रभाव पडता है।

सबसे अधिक ध्यान हमे अन्तिम प्रकार के हास्य पर देना चाहिए। जिन शब्दो या वाक्यो से इस हास्य की उत्पत्ति होती है उन्हे हमारे यहाँ 'व्यग' कहते है। पश्चिमी साहित्यकारो ने इस व्यग के भेद कर इसे तीन स्थूल विभागो मे बाँटा है—'सेटायर', 'विट' और 'ह्यूमर'। हास्य-रस मे तीनो का बडी सुन्दरता के साथ उपयोग किया जा सकता है। अनेक बार उपर्युक्त छहो प्रकार के हास्य का इकट्ठा उपयोग कर एक विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

पारसी रगमच पर जिस प्रकार के हास्य-रस का प्रदर्शन होता है वह अत्यन्त निम्नकोटि का और अश्लील होता है। मैं इस प्रकार के हास्य-रस का प्रयोग निषिद्ध मानता हूँ। हास्य-रस का लेखन और प्रदर्शन, दोनो ही, बडे कठिन कार्य है। इसके लिए असाधारण प्रतिभाशाली लेखक और नट की आवश्यकता है। यदि उच्च-कोटि के हास्य-रस की रचना और प्रदर्शन सभव नही है तो जिस प्रकार का हास्य-रस आजकल लिखा और दिखाया जाता है उसकी अपेक्षा तो न लिखा और न दिखाया जाना ही अच्छा है।

पात्रों की भाषा

जिस भाषा मे नाटक लिखे जाते है अधिकाश पात्रो की वही भाषा होनी चाहिए इसमे मत-भेद नही हो सकता, पर किसी-किसी पात्र की उपभाषा (Dialect) भी रह सकती है या नही यह एक मत-भेद का

विषय है। प्राचीन सस्कृत नाटक के अनेक पात्र प्राकृत भाषा में बोलते थे। आज अँगरेजी नाटको मे भी कुछ पात्र उपभाषा मे बोलते हैं। बर्नार्ड शा के 'पैग मिलियान' नाटक मे फूल बेचनेवाली एक लडकी उपभापा मे बोलती है। इसी प्रकार उनके 'प्रेस कटिंग' आदि दूसरे नाटको के भी कुछ पात्र उपभाषाओ मे बोलते है। मेरे मतानुसार हिन्दी नाटको मे भी कोई-कोई पात्र उपभापा मे बोल सकते है। आजकल के अँगरेजी पढे-लिखे लोगो की बातचीत मे कुछ अँगरेजी शब्दो का प्रयोग भी होता है। इनमे से कुछ शब्द तो इतने प्रचलित हो गये है कि साधारण जनता भी उन्हे समझ सकती है। अत कुछ पात्रो की भाषा मे यदि इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग भी हो तो कथोपकथन की स्वाभाविकता मे वृद्धि ही होगी। बगाली, महाराष्ट्र, सिख, गुजराती आदि समाजो के व्यक्ति जिस प्रकार की हिन्दी बोलते है यदि उसी प्रकार की हिन्दी रगमच पर भी बोले तो नाटको की स्वाभाविकता बढेगी। हिन्दी नाटको मे एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मुसलमान पात्र किस भाषा मे बोले? मराठी, बँगला, गुजराती और दक्षिण भारत की भाषाओ से उर्दू का इतना सम्बन्ध नही जितना हिन्दी से है, अत उन भाषाओ के मुसलमान पात्र भी उन भापाओ मे बोल सकते है, पर हिन्दी और उर्दू का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि किसी मुसलमान पात्र का सस्कृत मिली हिन्दी मे भाषण करना विलक्षणसा प्रतीत होता है। जहाँगीर, नूरजहाँ, शाहजहाँ आदि ऐसे ही मुस्लिम पात्र अपने बादशाही वस्त्रो मे रगभूमि मे आकर सस्कृत-मिश्रित हिन्दी बोले, यह मुझे तो असगत मालूम होता है। पर, उर्दू भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हिन्दी दर्शको की समझ मे सहज मे आ सके। मैने जहाँ मुसलमान पात्रो को सस्कृत-मिली हिन्दी बोलते सुना है वहाँ हिन्दी नाटको मे ऐसी उर्दू भी सुनी है जिसको समझना हिन्दी भापियो के लिए बहुत ही कठिन है। इस सम्बन्ध मे एक प्रश्न और उठता है कि यदि मुसलमान पात्र उर्दू भाषा मे बोले तो मुसलमान और हिन्दू पात्रो मे आपस के सभाषण मे किस भाषा का उपयोग

किया जाना चाहिए ? हमारे कई लेखक, जो मुसलमानो के, उर्दू मे बोलने के पक्ष मे है, मुसलमानो और हिन्दुओ के मभापण मे हिन्दुओ से भी उर्दू भाषा का उपयोग कराते है, पर मेरे मतानुसार यह ठीक नही है। यदि मुसलमानो और हिन्दुओ की परस्पर बातचीत मे हिन्दुओ को उर्दू बोलनी चाहिए तो मुसलमानो को ही हिन्दी क्यो न बोलनी चाहिए ? नित्यप्रति के व्यवहारो मे क्या होता है ? जब मुसलमानो और हिन्दुओ मे परस्पर सभापण होता है तब हिन्दू अधिकतर हिन्दी शब्दो और मुसलमान उर्दू शब्दो का उपयोग करते है। जैसा मैंने ऊपर लिखा है, हिन्दी और उर्दू के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण ही मुसलमान पात्रो का हिन्दी-नाटको मे उर्दू बोलने का प्रश्न उठता है, अत हिन्दू-मुसलमान पात्रो के परस्पर सभापण मे हिन्दू पात्रो का सरल हिन्दी और मुसलमान पात्रो का सरल उर्दू मे ही बोलना उचित प्रतीत होता है।

रंगमंच

यद्यपि मै यह मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी, जो खेले नही जा सकते, पर साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के और पढने के लिए उपयोगी है, नाटक की परिभापा के अन्तर्गत आते है, फिर भी जो नाटक पढने योग्य होते हुए खेले जा सके और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हो, वे अधिक अच्छे है, इसमे मत-भेद नही हो सकता। ऐसे नाटक लिखने के लिए नाटककार को लिखने की विधि के साथ ही रगमच-सबधी विधि की ओर भी लक्ष रखना आवश्यक है। रगमच-सबधी बातो मे नाटककार को दृश्यो की व्यवस्था, पात्रो की वेश-भूषा तथा पात्रो के प्रवेश, प्रस्थान आदि बातो पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

प्राचीन सस्कृत नाटको मे एक अक मे, एक ही दृश्य रहता है। हाँ, विष्कभक, प्रवेशक, चूलिका, अकास्य और अकावतार, अको के अतिरिक्त अवश्य रहते थे, पर ये दृश्य किसी अक के आरभ या अन्त मे ही आते थे,

वीच मे नही। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय रगमच मे परदो की इस प्रकार व्यवस्था न थी। पश्चिमी नाटको मे आजकल भी अधिकतर एक अक मे एक दृश्य रखने की रीति चल पडी है। यद्यपि मैने भी अपने कुछ नाटको मे एक अक मे एक ही दृश्य रखा है तथापि एक अक मे एक ही दृश्य रखने की प्रथा मुझे वहुत रुचिकर नही जान पडती। इसके तीन कारण है—एक तो पूरे अक मे एक ही दृश्य रखने से दृश्यो के परिवर्तन में जो एक वहुत वडा आकर्षण है, वह नाटको मे नही रह जाता, दूसरे उसी एक दृश्य मे कई वार ऐसे पात्रो का प्रवेश, प्रस्थान और सभापण होता है जो नही होना चाहिए, तीसरे एक ही दृश्य रखने से समय के एकीकरण की वडी भारी कठिनाई से सामना करना पडता है। एक दृश्य मे एक ही समय की घटना का प्रदर्शन हो सकता है, पर दृश्य-परिवर्तन होने से यह कठिनाई नही रह जाती और नाटक की गति मे शीघ्रता आ जाती है।

दृश्यो की सख्या कितनी रहे इस सवध मे भी कोई नियम नही हो सकता, क्योकि यह नाटक के कथानक आदि पर निर्भर है, पर यदि किसी अक मे अधिक दृश्य रहे तो उन्हे छोटे रखना आवश्यक है, साथ ही, उनकी व्यवस्था ऐसी रहनी चाहिए कि उनके परिवर्तन मे कठिनाई न हो। पर, हाँ, उनकी सख्या इतनी अधिक भी न हो जानी चाहिए कि उनका प्रवध ही रगमच पर असम्भव हो जावे। इस सवध मे कुछ वाते ध्यान देने योग्य है। नाटको मे दृश्य तीन प्रकार के होते है—(१) जो लकडी के तख्तो आदि ऐसी वस्तुओ पर चित्रित रहते है अर्थात् जो पर्दे की भाँति उठाये या गिराये नही जा सकते, कुर्सी इत्यादि पर वैठने का प्रवध इन्ही दृश्यो मे हो सकता है। किला, महल, सभा-भवन, वैठकखाने, भोजनालय, उद्यान आदि इस प्रकार के दृश्यो में दिखाये जाते है, (२) कपडे पर चित्रित दृश्य जो उठाये-गिराये जा सकते है या फटकर अलग होते है। मकान के वाहरी भाग, दालान, मार्ग आदि इनमे दिखाये जाते है और (३) वे दृश्य

जो लकडी के तख्तो आदि के दोनो ओर चित्रित रहते है तथा जिनके एकदम से परिवर्तित करने की व्यवस्था होती है। दोनो बगलो मे, बगली-परदे (wings) और ऊपर झालर (plieis) का प्रबध तीनो प्रकार के दृश्यो मे आवश्यक होता है। इनमे से तीसरे प्रकार के दृश्यो की व्यवस्था बहुत कठिन है, पर पहले दो प्रकार के दृश्यो की नही। जब तक हमारे यहाँ कलो द्वारा दृश्य-परिवर्तन की व्यवस्था नही हो जाती तब तक ध्यान रखने की बात यह है कि पहले प्रकार के दो दृश्य, एक के पश्चात् दूसरा न आ जावे। इस प्रकार के दो दृश्यो के बीच मे या तो दूसरे प्रकार के दृश्य आवश्यक होते है या यवनिका-पतन । रगमच के सकुचित स्थान मे एक ही साथ दो से अधिक पहले प्रकार के दृश्यो की व्यवस्था नही रह सकती। फिर एक के पश्चात् दूसरा पहले प्रकार का दृश्य तैयार रहते हुए भी उसके प्रदर्शन के पूर्व, बीच मे, कम से कम एक दूसरे प्रकार का दृश्य आवश्यक है, जिससे, जिस पहले प्रकार के दृश्य का प्रदर्शन हो चुका है वह हटाया जा सके, दूसरे, पहले प्रकार के दृश्यो के बीच मे दूसरे प्रकार के दृश्यो के रहने से नेपथ्य मे पहले प्रकार के दृश्यो की तैयारी के लिए समय मिल जाता है जो अनिवार्य है। हॉ, पहले प्रकार के दृश्य ऐसे स्थलो पर साथ-साथ रह सकते है जहाँ एक के बाद ही दूसरा दृश्य चित्रित हो और वह परिवर्तित किया जा सके। दूसरे प्रकार के दृश्यो के गिराने और उठाने की व्यवस्था की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

दृश्यो की व्यवस्था के सबध मे, मैने यहाँ जो कुछ लिखा है वह भारतीय रगमचो की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए है। यहॉ यदि पश्चिमी रगमचो के समान दृश्य-परिवर्तन के लिए कलो की व्यवस्था हो जावे तो उपर्युक्त कथन का बहुत-सा अश निरर्थक हो जायगा। पश्चिमी रगमचो पर गिराये और उठाये जानेवाले परदो का सर्वथा बहिष्कार हो गया है, क्योकि वहॉ स्टीम और बिजली की कलो के द्वारा क्षण भर मे दृश्यो का परिवर्तन हो जाता है। विविध प्रकार के भारी-भारी सामानो

से सजे हुए कमरे, वगीचे, बाजार आदि के दृश्य नीचे वैठ जाते या ऊपर खीच लिये जाते है और उनके स्थान पर दूसरे इसी प्रकार के दृश्य लाये जा सकते है। मैने जव वेल्जियम के प्रसिद्ध नाटककार मैटरलिक के 'ब्लू बर्ड' नाटक का, जिसपर नाटककार को नोवल प्राइज मिल चुका है, अँगरेजी अनुवाद पढा और उसकी भूमिका मे यह पढा कि अमुक-अमुक नाट्य-परिषदो-द्वारा यह नाटक खेला भी जा चुका है, तव मुझे आश्चर्य हुआ, क्योकि अनेक स्थलो पर उसके दृश्यो मे एक दृश्य के पश्चात् दूसरा दृश्य इस प्रकार का है कि भारतवर्ष मे तो इस प्रकार का नाटक सिनेमा को छोडकर, नाटकीय रगमच पर दिखाया जाना असम्भव है।

पात्रो के प्रवेश और प्रस्थान की ओर भी नाटककार को लक्ष रखना चाहिए। उदाहरण के लिए एक पात्र यदि एक दृश्य मे किसीसे वात कर रहा है या मूर्च्छित होकर गिरता है तो वह उसीके पश्चात् के दृश्य मे कही वैठा हुआ नही दिख सकता। अधिक से अधिक वह दूसरे दृश्य मे प्रवेश कर सकता है, पर, यदि वह पहले दृश्य मे मूर्च्छित होता है तव तो उसीके पश्चात् के दूसरे दृश्य मे उसका प्रवेश भी सभव नही है। फिर पात्रो के प्रवेश और प्रस्थान मे वे किस प्रयोजन से प्रवेश और प्रस्थान कर रहे है इसकी ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है। पश्चिमी नाट्य-शास्त्र के आलोचको ने इस सवध मे वहुत जोर दिया है। उनका तो कथन है कि जो भी पात्र रग-भूमि मे प्रवेश या वहाँ से प्रस्थान करे उसके प्रवेश या प्रस्थान का स्पष्ट कारण होना ही चाहिए। अकस्मात अमुक पात्र रगभूमि मे अमुक अवसर पर आ गया, या वहाँ से चला गया, इसे वहाँ के लोग सर्वथा अनुचित समझते है। इस सम्वन्ध मे मै पश्चिमी विद्वानो से इतनी दूर तक सहमत नहीं हूँ। इसके दो कारण है, पहला तो यह कि नाटक मे यह वात पूर्णतया सध नही सकती। पहले-पहल जव यवनिका उठती है तभी कुछ पात्र वैठे हुए दिखते है, अत यदि प्रत्येक पात्र के प्रवेश और प्रस्थान का कारण होना आवश्यक है तो यवनिका खुलने के समय उन पात्रो के

रगभूमि मे बैठे रहने का भी कारण होना चाहिए। दूसरे, यदि नाटक से अकस्मात प्रवेश और प्रस्थान को पूर्णतया निकाल दिया जाय तो नाटक का सौंदर्य भी कुछ कम हो जायगा। कभी-कभी तो किसी पात्र का अकस्मात प्रवेश या प्रस्थान दृश्य के सौंदर्य को कई गुना वढा देता है एव अनेक कठिनाइयो को भी हल कर देता है और ऐसे अवसरो पर आनद एव आश्चर्य से प्रेक्षको के मुख से 'नाटकीय' या 'ड्रेमेटिक' शव्द निकल पडता है। इस सवन्ध मे यहाँ मै एक उदाहरण दूँगा।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण यद्यपि दृश्यकाव्य नही है तथापि उसके अनेक स्थल 'नाटकीय' कहे जा सकते है। अयोध्याकाण्ड मे उस स्थल पर जहाँ चित्रकूट मे राम को अयोध्या लौटाने के लिए राम और भरत का सवाद चल रहा था, जब राम के अन्तिम उत्तर का अवसर आया तब उस समय तुलसीदासजी कितनी सुन्दरता से लिखते है—'जनक-दूत तेहि अवसर आवा।' इस स्थल पर पाठको के मुख से 'नाटकीय' शव्द निकले विना नही रह सकता। अकस्मात जनक-दूत का आगमन न केवल सुन्दरता को वढाता वरन् तत्काल, राम के उत्तर देने की कठिनाई को भी हल कर देता है। इतने पर भी मेरा यह अभिप्राय नही है कि रगभूमि मे पात्रो का प्रवेश और प्रस्थान सदा अकस्मात ही होना चाहिए। यदि सदा ऐसा होगा तो नाटक मे वडा भद्दापन आ जायगा और ऐसा जान पडेगा कि दर्शको को भाषण सुनाकर चले जाने के लिए ही पात्रो का प्रवेश और प्रस्थान हो रहा है। इस सवध मे क्या करना चाहिए इसका नाटककार को वारीकी से ध्यान रखना आवश्यक है।

पश्चिमी नाटककारो ने रगमच मे भोजन आदि की व्यवस्था कर कथोपकथन मे स्वाभाविकता की वृद्धि की है। मेरे मत से नाटको मे यह व्यवस्था कथोपकथन की स्वाभाविकता को वढा सकती है।

दृश्य, पात्र और पात्रों की वेश-भूषा

नाटककार का जितना सम्बन्ध रगमच से है उतना ही नाटक के दृश्यों, उसके पात्रो, पात्रो की अवस्था, मुखाकृति, शरीर और वेश-भूषा से है। ये सब वाते देश, काल और पात्र के अनुसार ही होनी चाहिए। पश्चिम के नाटककार इस ओर वरावर ध्यान रखते है और वे इन बातो का अपने नाटको मे सागोपाग वर्णन कर देते है। पारसी कम्पनियो के 'रामायण' और 'महाभारत' नाटको को जिन्होने देखा है एव उनके दृश्य और उनमे राम और कृष्ण के जिन्होने दर्शन किये है वे जानते होगे कि ये दृश्य और पात्र, कम से कम हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे वर्णित दृश्य ओर पात्रो के समान नही है। यही बात अनेक ऐतिहासिक नाटको के सम्वन्ध मे भी कही जा सकती है। इँग्लेण्ड के एक प्रसिद्ध नाटककार ऑस्करवाइल्ड ने अपनी 'इन्टेंशन्स' नामक पुस्तक मे 'दी ट्रुथ ऑफ दी मास्क्स' लेख मे नाटक के पात्रो की वेश-भूपा के विषय मे सुन्दर विवेचन किया है। यह पूरा लेख नाटककारो के अध्ययन की वस्तु है। जिस काल की कथा पर नाटक लिखा जावे उस काल के दृश्यो और वेश-भूपा पर एव जिस प्रकार के पात्र हो उन पात्रो पर विचार कर नाटककार को अपने नाटको मे उसके दृश्यो, पात्रो और वेश-भूषा का पूरा वर्णन कर देना आवश्यक है, जिससे अभिनय के समय भी नाटक का अभिनय भ्रष्ट न हो और पढते समय भी चित्र के समान ये सारी वाते नेत्रो के सम्मुख चित्रित हो जावे।

अभिनय

अभिनय नाटक का कितना आवश्यक अग है, यह लिखने की आवश्यकता नही। अच्छे से अच्छा नाटक, खेलते समय अभिनय वुरा होने से, सर्वथा भ्रष्ट हो सकता है और कभी-कभी बुरे से बुरा नाटक अच्छा अभिनय होने से देखने के समय वहुत अच्छा दिखायी देता है।

जो नाटक सिनेमा मे परिणत किये जाते है उनमे तो अभिनय ही सब कुछ होता है। अभिनय का अधिकतर भार नटो की योग्यता पर निर्भर है इसमे सन्देह नही, परन्तु नाटककार भी, नाटक मे, इस सम्बन्ध मे सकेत कर सकता है और करना आवश्यक भी है क्योकि जिस मस्तिष्क से वस्तु, पात्रो और रस की सृष्टि हुई है वही यदि अभिनय के लिए सकेत कर देवे तो वह और भी उपयुक्त होगा। इँग्लेण्ड के प्रसिद्ध नाटककार गाल्सवर्दी और जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार हाप्टमैन ने यह कार्य अपने नाटको मे बडी सफलता से किया है। उनके किसी-किसी नाटक के कोई-कोई दृश्य तो पूरे के पूरे मूक अभिनय से ही भरे है। इन्हे पढने और देखने, दोनो से, मन पर जितना प्रभाव पडता है उतना उन दृश्यो मे यदि उन पात्रो के मुख से कुछ कहलाया जाता तो कदाचित् न पडता। इस सम्बन्ध मे गाल्सवर्दी के 'जस्टिस' नाटक के तीसरे अक का तीसरा दृश्य नाटककारो के ध्यान से पढने योग्य है।

नाटक और सिनेमा

सिनेमा और विशेषकर बोलनेवाले सिनेमा (talkies) के इस युग मे नाटको पर जनसाधारण का ध्यान बहुत कम हो चला है। ये दोनो वस्तुएँ यदि कुछ बातो मे एक दूसरे के अत्यधिक समान है तो कुछ बातो मे एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न। मेरा तो यह मत है कि न तो सिनेमा नाटक का पूरा स्थान ले सकता है और न नाटक सिनेमा का। सिनेमा मे जिस प्रकार के दृश्यो और घटनाओ का प्रदर्शन हो सकता है उस प्रकार का अच्छे से अच्छा रगमच होने पर भी नाटको मे नही, इसी प्रकार कथोपकथन-द्वारा किसी महान् विषय का जैसा नाटक मे प्रतिपादन हो सकता है वैसा सिनेमा मे नही। फिर पात्रो के प्रत्यक्ष कथोपकथन और अभिनय से तथा चित्रो के कथोपकथन और अभिनय से मन पर जो प्रभाव पडता है उसमे अन्तर रहता ही है। जब पहले-पहल, चलते-फिरते चित्र निकले थे तभी

लोग यह समझने लगे थे कि नाटक का युग समाप्त हो गया, पर नवीनता का कौतूहल दूर होते ही फिर नाटको की आवश्यकता जान पडने लगी। यही वात बोलनेवाले चित्रो के लिए भी होगी। अमेरिका मे जहाँ बोलनेवाला सिनेमा उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुका है, वहाँ पुन नाटको का खेलना आरभ हो गया है और जनता फिर से नाटको को चाव से देखने लगी है। एक बात और है—नाटक और सिनेमा का कही-कही सुन्दर मिश्रण भी हो सकता है। जैसे युद्ध, चुनाव, मेले इत्यादि के दृश्य यदि नाटको मे भी सिनेमा के द्वारा दिखाये जावे तो कही अधिक स्वाभाविक दिख पडेगे और उनसे मन पर प्रभाव भी अधिक पडेगा। युद्ध की सेनाएँ और लडाई, चुनाव, मेले आदि की सवारियाँ और चहल-पहल रगभूमि मे उतनी अच्छी तरह नही दिखायी जा सकती जितनी सिनेमा मे। यदि कुछ पात्रो के मुख से इनका वर्णन कराया जाय, जो वहुधा किया भी जाता है, तो मन पर उतना प्रभाव नही पडता, अत नाटक के साथ ही सिनेमा-मशीन की योजना एव ऐसे अवसरो पर नाटक के वीच-वीच मे परदे के स्थान पर श्वेत चादर गिरा १०–१०, २०–२०, मिनटो तक ये दृश्य फिल्मो द्वारा दिखाने का प्रवध अवश्य ही सफल हो सकता है। किसी-किसी नाटक-कपनी ने यह प्रयत्न किया भी था और यह सफल भी हुआ था, परन्तु जहाँ तक मुझे मालूम है, जितनी व्यापकता से यह प्रयत्न होना चाहिए उतना अव तक नही हुआ।

अन्तिम निवेदन

इस प्राक्कथन मे मुझे अब और कुछ नही कहना है। इसे लिखने मे मेरा उद्देश कला, काव्य-कला और नाटको का शास्त्रीय विवेचन अथवा इस क्षेत्र की आलोचना नही है। इस कथन से मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कला, काव्य-कला और नाटको के जिन आदर्शो पर मैने अपनी ये टूटी-फूटी रचनाएँ की है, एव इन्हे लिखने मे जिस विधि (technique)

का मैने आश्रय लिया है उन्हे मै अपने पाठको के सम्मुख रख दूँ। जो थोडा-बहुत साहित्य मैने इस सम्बन्ध मे देखा, पढा और मनन किया है उसके आधार पर ही, मैने इन नाटको को लिखा है। मै यह भी कहने का साहस नही कर सकता कि ये नाटक मौलिक है या इनमे कोई नवीनता है। यह विश्व और मानव-समाज दोनो ही बहुत पुराने हो गये है। आकाश और पृथ्वी दोनो की वस्तुओ मे, जिनका पता लग चुका है, उनमे से, कोई भी अछूती नही है। ससार मे अनेक महान् तत्ववेत्ता और कवि उत्पन्न हो चुके है। उनकी पैनी दृष्टि सभी वस्तुओ मे घुस चुकी है और वे अपने मस्तिष्क एव हृदय के द्वारा सभी का वर्णन भी कर चुके है, फिर भला मै यह कहने का साहस कैसे कर सकता हूँ कि मेरी कृतियो मे कोई मौलिकता या नवीनता है। मै यह भी जानता हूँ कि मेरी ये कृतियाँ दोषो से भरी हुई है और जैसा मैने ऊपर एक स्थान पर लिखा है कि मेरे ही द्वारा प्रतिपादित आदर्शो एव पद्धति की कसौटी पर कसने से ये खरी न उतरेगी, पर फिर भी, इन तुच्छ कृतियो को मै हिन्दी-ससार को भेट करने का साहस करने की धृष्टता कर रहा हूँ।

दीपावली
सवत् १९९२

गोविन्ददास

कर्तव्य
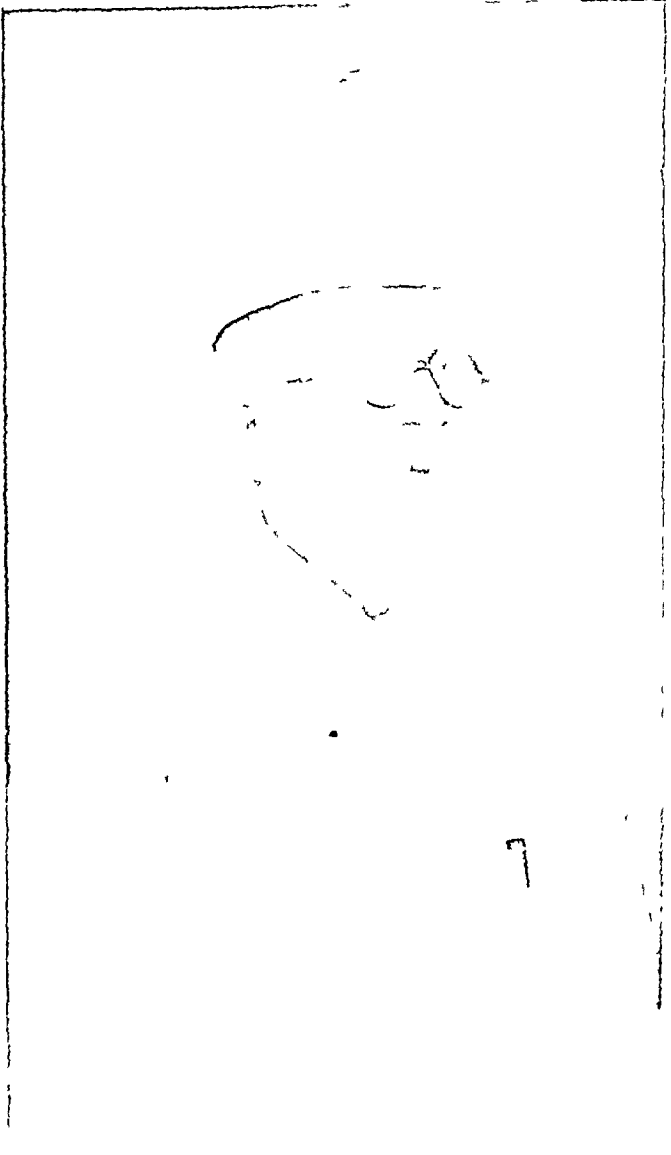
सेठ गोविन्ददास, एम० एल० ए०

निवेदन

प्रस्तुत नाटक का लिखना, मैंने तारीख १६ जनवरी सन् १९३० की रात को दमोह-जेल मे आरभ किया और इसके लिखने में इतना अधिक मन लगा कि केवल चार दिनो मे अर्थात् तारीख २१ जनवरी की दोपहर को यह समाप्त हो गया। एक आस्तिक वैष्णव-कुटुम्व में जन्म लेने तथा वारह वर्ष की अवस्था तक अपने पितामह परमभगवदीय पूज्य राजा गोकुल-दासजी के निरतर सग रहने के कारण, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचद्र और लीला-पुरुपोत्तम श्रीकृष्णचद्र के चरणो मे बाल्यावस्था से ही मेरी भक्ति रही है। पडितो द्वारा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण को मैंने दो वार सुना है और श्रीमद्भागवत् को सुनने का तो न जाने कितने वार सौभाग्य प्राप्त हुआ है, क्योकि ऐसा कोई वर्ष ही नही जाता जव श्रीमद्भागवत् का अर्थ-सहित साप्ताहिक पाठ हमारे घर में न होता हो। हरिवश, स्कन्द, विष्णु, पद्म तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण-खण्ड एव गर्ग-सहिता मे भी मैं कृष्ण के लीलामृत का पान कर चुका हूँ। महाभारत का भी वहुत-सा अश देखा है। तुलसीकृत रामायण तथा भगवत्गीता का तो नित्य पाठ ही करता हूँ। रघुवश, उत्तर रामचरित-नाटक और सूर-सागर को मैं भारत के काव्य-जगत् के ज्वाज्वल्यमान रत्न मानता हूँ। अत यद्यपि इस नाटक के लिखने मे मुझे केवल चार दिन लगे, परन्तु इसके वर्णित विपय पर मैं बाल्यावस्था से ही विचार करता आ रहा हूँ।

हमारे यहा अवतारो मे राम और कृष्ण ये ही दो सवसे वडे अवतार है। भगवान् कृष्ण को तो पूर्णावतार माना गया है। भगवान् रामचद्र

से भी उनमे दो कलाएँ अधिक मानी जाती है। बहुत काल तक मै इसका रहस्य न समझ सका था। इस सम्बन्ध मे हमारे देश के धर्माचार्यो आदि ने जो युक्तियाँ दी है उनसे भी मेरा पूरा समाधान न होता था। बहुत सोचने-विचारने के पश्चात् मैने इसका जो रहस्य समझा है उसी विचार (Idea) पर इस नाटक की रचना हुई है। इतने पर भी मैने यह नाटक भगवान् रामचद्र और भगवान् कृष्णचद्र को मनुष्य मानकर ही लिखा है। यदि इन दोनो को मनुष्य मानकर भी कुछ लिखा जावे तो भी मै कह सकता हूँ कि पूर्व अथवा पश्चिम, किसी भी दिशा के, किसी भी देश मे, किसी भी साहित्यकार को ऐसे नायक नही मिले है, जैसे भारत के साहित्यकारो को राम और कृष्ण के रूप मे मिले है। इसी प्रकार सीता के पति-प्रेम और राधा तथा गोपियो के विशुद्ध एव अनन्य प्रेम के सदृश, प्रेम का वर्णन भी मुझे तो अगरेजी-द्वारा, विदेशी साहित्य का निरन्तर अध्ययन करते रहने पर भी, किसी भी विदेशी साहित्य मे पढने को नही मिला। यूनान देश के महाकाव्य 'ईलियड' और 'ऑडेसी' के नायक-नायिकाओ से रामायण और महाभारत के नायक-नायिकाओ की तुलना मुझे तो हास्यास्पद जान पडती है।

इस देश मे राम और कृष्ण पर आज तक न जाने कितने साहित्य-सेवियो ने लिखा है। जिन्होने अन्य नायको को अपनी कृतियो का नायक बनाकर लिखा भी है उनमे कोई भी नायक इतने ऊँचे न तो अब तक उठ सके है और न भविष्य मे इसकी सम्भावना ही है। जिन नायको पर सहस्रो वर्षो से इस देश के तत्ववेत्ता और महाकवि लिखते आये है और जिन पर लाखो पृष्ठ लिखे जा चुके है, उन पर मै कोई नवीन, स्वतत्र या मौलिक रचना कर सकूँगा यह मै कभी भी नही मान सकता, अत जिस कवि की जो युक्ति मुझे रुचिकर हुई, मैने उसे निस्सकोच इस रचना मे ले लिया है। इसमे कुछ पद्य भी है, पर मैने उन्हे प्राचीन कवियो की कृतियो मे से ही लेना

उचित समझा। कुछ पद्य ऐसे है जिनमे दो-दो कवियो की कविता का मैंने मिश्रण कर दिया है। एक बात मुझे अवश्य करनी पडी है कि पद्यो के अन्त की, इन कवियो के नाम की, छाप निकाल देनी पडी है, क्योकि ये पद्य इस नाटक मे सीता, राधा, गोपियो आदि के द्वारा गाये गये है और इन पात्रो का, इन गानो को रगभूमि मे, कवियो के नामो के साथ गाना सम्भव नही था। साथ ही प्रसगवश इनमे से कुछ पद्यो के दो-चार शब्दो मे परिवर्तन भी करना पडा है।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास अथवा कहानी लिखने में इस बात का ध्यान रखना पडता है कि जिस समय की कथा का वर्णन हो, उस समय का पूरा चित्र उस नाटक, उपन्यास या कहानी मे आ जावे तथा समय-विपर्यय-दोष (Anachronism) न आने पावे। इस दृष्टि से इस नाटक मे, मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इस सम्बन्ध मे यद्यपि मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नही है तथापि इस विषय मे, मेरे सामने जो कठिनाइयाँ आयी है और उन कठिनाइयो के हल करने का मैंने जो प्रयत्न किया है उस सम्बन्ध मे, मै दो शब्द अवश्य कह देना चाहता हूँ।

सबसे पहली कठिनाई मेरे सम्मुख समय के विभाजन की उपस्थित हुई। अमुक व्यक्ति की इतने हजार वर्ष की आयु हुई, अमुक व्यक्ति ने इतने हजार वर्ष राज्य अथवा तपस्या की, आदि बातो से, पुराण आरम्भ से अन्त तक भरे हुए है। ऐसे स्थानो पर, वर्ष के लिए अधिकतर सम्वत्सर शब्द का उपयोग हुआ है। सम्वत्सर शब्द का अर्थ, बारह महीने, अथवा ३६५ दिन का वर्ष माना जाय या नही, इस सम्बन्ध मे प्राचीन विद्वानो मे भी मतभेद है। जैमिनी की मीमासा मे सम्वत्सर का अर्थ केवल एक दिन लिया गया है। महाभारत के वन-पर्व के, तीसरे अध्याय मे एक स्थान पर, भीमसेन ने सम्वत्सर का अर्थ केवल एक महीना किया

है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार पण्डित नीलकण्ठ ने सम्वत्सर का अर्थ छै मास माना है। यह बात नीलकण्ठ ने , विराट्-पर्व मे, उस समय कही है जब विराट् अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह बृहन्नला (अर्जुन) के साथ करना चाहता था और अर्जुन ने उत्तरा का विवाह अपने पुत्र अभिमन्यु से करने को कहा। नीलकण्ठ ने अपने कथन के प्रमाण मे अन्य अनेक विद्वानो के मत भी उद्धृत किये है। वेदोक्त प्रार्थनाओ तक मे, जब शत अर्थात् १०० वर्षो तक सुख-पूर्वक जीवित रहने की कामना की जाती है, तब हमे सम्वत्सर का अर्थ प्रसंग के अनुसार ही करना पडता है। नाटक की कथा को सम्पूर्ण-रूप से सगठित रखने के लिए समय का विभाजन तथा दर्शको को उसका ज्ञान करा देना मै आवश्यक समझता हूँ। पौराणिक कथा अपने काल के अनुरूप होते हुए अस्वाभाविक भी न हो, इस बात पर ध्यान रखने के लिए मुझे इस नाटक मे, समय के विभाजन मे, स्वतन्त्रता लेनी पडी है। परन्तु इस स्वतत्रता को लेते हुए भी मैने इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणो मे राम और कृष्ण-कथा के जिन प्रसगो का समय निश्चित रूप से कह दिया गया है उसमे, जहाँ तक सम्भव हो, कोई परिवर्तन न करूँ। दृष्टान्त के लिए, राम के १४ वर्ष के वन-गमन अथवा कृष्ण के ११ वर्ष की अवस्था तक व्रज मे निवास या पाण्डवो के १२ वर्ष तक देश-निर्वासन एवं एक वर्ष के अज्ञात-वास के समय मे, मैने कोई परिवर्तन नही किया, परन्तु राम के ग्यारह हजार वर्ष तक राज्य करने और कृष्ण के सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहने के समय मे मुझे परिवर्तन करना पड़ा है। कृष्ण का सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहना मै अस्वाभाविक नही मानता, क्योकि आज भी अनेक व्यक्ति इससे अधिक अवस्था के जीवित है, तथापि यदि उनका सवा-सौ वर्ष तक जीना मान लिया जाय तो उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य घटनाओ से उनकी अवस्था का मेल नही खाता। एक

ही दृष्टान्त से मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। महाभारत अथवा पुराणो मे, जहाँ-जहाँ कृष्ण और पाण्डवो की भेट का वर्णन आया है वहाँ-वहाँ, कृष्ण ने युधिष्ठिर और भीम को, अवस्था मे अपने से बडा होने के कारण, प्रणाम, अर्जुन को समवयस्क होने के कारण आलिङ्गन किया है और नकुल तथा सहदेव को, छोटे होने के कारण, आशीर्वाद दिया है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की मान ली जाय तो युधिष्ठिर तथा भीम की इससे अधिक माननी पडती है, धृतराष्ट्र की उनसे अधिक और भीष्म की उनसे भी अधिक। भारत-युद्ध के १८ वर्ष पश्चात्, धृतराष्ट्र की मृत्यु हुई और धृतराष्ट्र की मृत्यु के १५ वर्ष पश्चात् कृष्ण की मृत्यु, यह महाभारत मे स्पष्ट लिखा है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष मानी जाय तो महाभारत के समय ९२ वर्ष माननी पडती है। भीम की इससे अधिक, युधिष्ठिर की इससे अधिक तथा धृतराष्ट्र और भीष्म की तो कही अधिक। भीष्म ने भारत-युद्ध मे जिस वीरता के साथ युद्ध किया उससे उन्हे इतना अधिक वृद्ध नही माना जा सकता। फिर युद्ध के समय अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी, द्रौपदी के पाँचो पुत्रो की तो इससे भी कम। पाण्डवो की इतनी वृद्धावस्था मे सभी पुत्रो का उत्पन्न होना भी नही माना जा सकता। और फिर पाण्डवो का, युद्ध मे, जिस प्रकार का वर्णन है उससे वे इतने वृद्ध प्रतीत भी नही होते। अत. मैने मृत्यु के समय कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की न मानकर ८० वर्ष के लगभग मान ली है। कृष्ण की इतनी अवस्था मानने से, उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त घटनाओ से, उनकी अवस्था का मेल खा जाता है। नाटक मे ऐसे स्थल भी आये है जहाँ मुझे उन समयो का उल्लेख करना पडा है, जिन समयो का रामायण, महाभारत और पुराणो मे स्पष्ट-रूप से कोई उल्लेख नही है। अयोध्या के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सीता का त्याग कितने समय के बाद हुआ इसका रामायण मे

कोई वर्णन नही है। हाँ, रामायण के वर्णन से यह भासित अवश्य होता है कि सिंहासन पर बैठने के कई वर्ष पश्चात् उनका त्याग हुआ होगा। परन्तु मुझे दूसरी बात ही स्वाभाविक जान पडती है। सीता का त्याग प्रजा मे अपवाद होने के कारण हुआ था। एक तो अपवाद सदा नयी बात का ही अधिक हुआ करता है, दूसरे, सीता का त्याग गर्भावस्था मे किया गया, अत उनका गर्भवती होना अपवाद को और अधिक तीव्र बना देने का कारण हो सकता है। इसीलिए मैंने राम के सिंहासन पर बैठने के केवल ८ मास के पश्चात् सीता का त्याग माना है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के व्रज मे ११ वर्ष की अवस्था तक रहने का, हरिवंश, भागवत तथा अन्य पुराणो मे वर्णन है। उन्होंने द्वारका जाने के पश्चात् रुक्मिणी के साथ विवाह किया यह भी उल्लेख है, परन्तु मथुरा मे उन्होंने किस अवस्था तक निवास किया यह कही नही लिखा। हाँ, जरासिन्ध ने मथुरा पर १८ बार आक्रमण किया यह अवश्य लिखा है। यहाँ मैंने यह मान लिया है कि जरासिन्ध ने हर वर्ष शरद् ऋतु मे आक्रमण किया, क्योकि उस समय शरद् ऋतु मे ही युद्ध होने के वर्णन पाये जाते है। इस प्रकार मैंने ११ वर्ष की अवस्था से २९ वर्ष की अवस्था तक कृष्ण का मथुरा मे निवास तथा ३० वर्ष की अवस्था मे रुक्मिणी से विवाह करना माना है।

दूसरी जो कठिनाई मेरे सामने उपस्थित हुई वह कथा का एक निश्चित रूप बनाना था। राम और कृष्ण की कथा प्राचीन ग्रन्थो मे हर स्थान पर, एक-सी नही है। छोटे-मोटे पाठान्तर हो इतना ही नही, पर कई स्थल ऐसे है जहाँ मुख्य-मुख्य बातो मे ही अन्तर है। दृष्टान्त के लिए कही शत्रुघ्न को कैकेयी का पुत्र माना गया है तो कही सुमित्रा का। इसी प्रकार जहाँ महाभारत, हरिवंश और भागवत् मे राधा का नाम तक नही है वहाँ ब्रह्मवैवर्त पुराण मे राधा ही सब कुछ है। कथा का निश्चित रूप देने मे मुझे स्वतन्त्रता लेनी पडी है, परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि

अपनी कथा का कोई न कोई प्राचीन आधार अवश्य रखूँ। इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि किसी भी आधुनिक लेखक को यह अधिकार नही है कि पौराणिक कथा की छायामात्र लेकर, उसे तोड-मरोडकर, वह एक नयी कथा की ही रचना कर डाले। हाँ, किसी कथा के अर्थ (Inteipretation) के सम्वन्ध मे लेखक को स्वतत्रता अवश्य रहती है। इस स्वतत्रता का उपयोग मैने भी किया है। राम तथा कृष्ण के अनेक कार्यों का जो अर्थ आजकल लगाया जाता है उससे मेरा मत-भेद होने के कारण, मेरे मतानुसार जो अर्थ युक्ति-सगत है, वही मैने लगाया है। साथ ही, चूँकि मैने राम और कृष्ण को इस नाटक मे मनुष्य माना है, ईश्वर नही, इसलिए ऐसे स्थलो पर जहाँ राम और कृष्ण के कार्य ईश्वरीय कार्य जान पडते है मैने उन कार्यों को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया है कि जिसमे वे मनुष्य के लिए असम्भव न जान पडे। फलत मुझे राम-कथा मे सीता की अग्नि-परीक्षा, सीता का पृथ्वी-प्रवेश, राम के साथ अवध की प्रजा का स्वर्गारोहण आदि, तथा कृष्ण-कथा मे भी कृष्ण का गोवर्द्धन-धारण तथा रास-मण्डल मे अनेक रूप लेने इत्यादि का वर्णन दूसरे ही प्रकार से करना पडा है। मैने इस वात का भी उद्योग किया है कि दोनो चरित्रो की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओ का, किसी न किसी प्रकार, इस नाटक मे समावेश हो जावे; पर, इस नाटक के दोनो भाग एक ही रात मे खेले जा सके इसलिए मैने दोनो चरित्रो को वहुत संक्षेप से लिखा है। यह हो सकता है कि किसी पाठक को किसी चरित्र का कोई अश आवश्यकता से अधिक विस्तृत तथा किसी को कोई अश अत्यधिक सक्षिप्त जान पडे, पर यह रुचि-विभिन्नता सदा ही रहती है और इस विषय मे लेखक को अपनी रुचि के अनुसार ही चलना पडता है।

तीसरी कठिनाई मेरे सामने रामायण मे वर्णित वानर-भालुओ के विषय मे आयी। स्वाभाविकता के नाते वानर-भालुओ को वानर-भालुओ के समान-रूप मे रगमञ्च पर लाकर उनसे मनुष्य के सदृश वातचीत

नही करायी जा सकती और प्राचीन वर्णनो की सर्वथा अवहेलना कर उन्हे साधारण मनुष्यो के समान भी नही दिखाया जा सकता। रामायण मे वर्णित वानर-भालु कौन थे इस सम्बन्ध मे अब तक विद्वानो ने न जाने कितनी चर्चा की है। इनमे दो मत के लोगो की प्रधानता है—एक वे, जो यह मानते है कि ये मनुष्यो की जगली जातियाँ थी और वानर-भालु नाम से प्रसिद्ध थी, दूसरे वे, जो यह मानते है कि ये मनुष्यो की जगली जातियाँ थी, पर, विशेष-विशेष अवसरो पर वानर-भालुओ का पूजन कर, उनके चेहरे और मूँछे लगाकर नृत्य आदि किया करती थी। मैने पहले प्रकार के विद्वानो के मत को मानकर वानर-भालुओ को मनुष्यो की जगली जातियाँ माना है और उनके वर्ण तथा मुखाकृति को वानर-भालुओ से मिलता हुआ मान लिया है। हाँ, पूँछ को मै कोई स्थान नही दे सका हूँ।

चौथी कठिनाई जो मेरे सम्मुख उपस्थित हुई वह वेश-भूषा की थी। यद्यपि रामायण और महाभारत-काल की वेश-भूषा के सम्बन्ध मे, अब बहुत-कुछ लिखा जा चुका है तथापि अभी भी एक विषय विवाद-ग्रस्त है ही कि उस समय सिले हुए कपडे पहने जाते थे या नही। अधिकाश विद्वानो की यही राय है कि भारतवर्ष मे सुई नही थी अत कपडे सीने का प्रश्न ही नही था। परन्तु, यदि सुई नही थी तो चमडे के जूते और युद्ध के समय हाथ मे पहनने के दस्ताने किस वस्तु से सिये जाते थे ? चर्म के पद-त्राण और हाथ मे पहनने के गोधागुलिस्त्राण का वर्णन रामायण और महाभारत दोनो ग्रथो मे, एक नही अनेक स्थलो पर, आया है। यह हो सकता है कि सिलाई की सुविधा होते हुए, आज भी, जिस प्रकार स्त्रियाँ बिना सिली हुई साडियाँ तथा पुरुष बिना सिली हुई धोतियाँ पहनते है, उसी प्रकार उस काल मे स्त्रियाँ और पुरुष दोनो ऊपर के अग मे भी बिना सिला कपडा पहनते हो। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् मैने इसी मत

को मानकर स्त्री-पुरुष दोनो की वेश-भूषा बिना सिले कपडो की ही रखी है। आभूषण पहनने की उस समय बहुत अधिक प्रथा थी, इसे सभी मानते है, अत आभूषणो की मैने भी प्रचुरता रखी है।

प्राचीन काल का दिग्दर्शन और भी अच्छा हो सके इसलिए सम्बोधन के अवसर पर मैने प्राचीन सम्बोधनो का ही उपयोग किया है और भाषा मे भी अरबी-फारसी के शब्दो से बचकर अधिकतर सस्कृत के शब्दो का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार भावो मे भी इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक काल का उनपर कम से कम प्रभाव पडे। दृश्यो के वर्णन मे भी इस बात पर लक्ष्य रखा है कि दृश्य प्राचीन काल के अनुरूप ही हो। इतने यत्नो के पश्चात् भी मै इसे स्वीकार किये बिना नही रह सकता कि जिस काल को मनुष्य ने देखा नही, जिस काल मे वह रहा नही, उसका दिग्दर्शन कराना बहुत कठिन बात है। अत्यधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति ही यह कर सकते और समय-विपर्यय-दोष से बच सकते है। मेरे सदृश व्यक्ति का इस दिशा मे पूर्णरीति से सफल होना कठिन ही नही वरन् असम्भव है।

बाल्यावस्था से जिन पाद-पद्मो की इस हृदय ने वन्दना की है, जो दो महान् जीवन, इस तुच्छ जीवन के आदर्श रहे है, उनके सम्बन्ध मे, यह टूटी-फूटी रचना लिखने के कारण, मै अपने को तथा अपनी समस्त रचनाओ को कृत-कृत्य मानता हूँ।

गोविन्ददास

नाटक के पात्र, स्थान

पूर्वार्द्ध—

पुरुष—

(१) राम—प्रसिद्ध मर्यादा-पुरुषोत्तम

(२) लक्ष्मण—राम के छोटे भाई

(३) वसिष्ठ—सूर्यवश के कुल-गुरु

(४) वाल्मीकि—प्रसिद्ध ऋषि

(५) शम्बूक—शूद्र तपस्वी

स्त्री—

(१) सीता—राम की पत्नी

(२) सरमा—विभीषण की पत्नी

(३) बासन्ती—वाल्मीकि की पाली हुई कन्या

अन्य पात्र—

अयोध्या के पुरवासी, किष्किन्धा के वानर, भालु, लका के राक्षस, प्रतिहारी

स्थान—अयोध्या, पचवटी, किष्किन्धा, लका, दण्डकारण्य, वाल्मीकि का आश्रम

उत्तरार्द्ध—

पुरुष—

(१) कृष्ण—प्रसिद्ध लीला-पुरुषोत्तम

(२) बलराम—कृष्ण के बडे भाई

(३) उद्धव—कृष्ण के मित्र

(४) अर्जुन—प्रसिद्ध पाण्डव

स्त्री—

(१) राधा—कृष्ण की सखी

(२) रुक्मिणी—कृष्ण की पत्नी

(३) द्रौपदी—पाण्डवो की पत्नी

अन्य पात्र—

व्रजवासी गोप-गोपी, मथुरा तथा द्वारका के पुरवासी और भौमासुर के यहाँ की कन्याएँ

स्थान—गोकुल, मथुरा, द्वारका, कुण्डनपुर, प्राग्ज्योतिषपुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, प्रभास-क्षेत्र

पूर्वार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या मे राम के प्रासाद का एक कक्ष

समय—उष काल

[कक्ष पुराने ढग का बना हुआ है। कक्ष की छत विशाल पाषाण स्तंभो पर स्थित है। प्रत्येक स्तभ के नीचे गोल कमलाकार कुभी (चौकी) और ऊपर गजशुण्ड के समान भरणी (टोडी) है। कुभियो और भरणियो पर खुदाव है, जिसपर सुवर्ण का काम है और यत्र-तत्र रत्न जडे है। तीन ओर भित्ति है, जो सुन्दर रगो से रँगी है और चित्रकारी से भी विभूषित है। तीनो ओर की भित्ति में दो-दो द्वार है, जिनकी चौखटें और कपाट चन्दन के बने है। इन चौखटो और कपाटो में खुदाव का काम है और यत्र-तत्र हाथीदाँत लगा है। द्वार खुले है और इनसे बाहर के उद्यान का थोड़ा-थोड़ा भाग दिखायी देता है, जो उष काल के प्रकाश से प्रकाशित है। कक्ष की पृथ्वी पर केशरी रग का बिछावन बिछा है। इसपर स्वर्ण की चौकियाँ रखी है, जिनपर गद्दे बिछे है और तकिये लगे है। चार चाँदी की दीवटो पर सुगन्धित तैल के दीप जल रहे है। राम

खडे हुए आभूषण पहन रहे हैं। सीता पास में एक सुवर्ण के थाल में आभूषण लिए हुए खडी है। राम लगभग २५ वर्ष के अत्यन्त सुन्दर युवक है। वर्ण साँवला है। कटि से नीचे पीले रग का रेशमी अधोवस्त्र धारण किये है। कटि के ऊपर का भाग खुला हुआ है। हाथो में सुवर्ण के रत्न-जटित वलय, भुजाओ पर केयूर और अँगुलियो में मुद्रिकाएँ धारण किये है। ललाट पर केशर का तिलक है। सिर के लम्बे केश लहरा रहे है, पर मूँछें-दाढ़ी नही है। सीता लगभग १८ वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती है। नीली रेशमी साडी पहने है, और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बँधा है। रत्न-जटित आभूषण पहने है। ललाट पर इंगुर की टिकली और माँग में सेंदुर है। लम्बे बालो का जूडा पीछे बँधा है, जो साड़ी के वस्त्र से ढँका है। पैरो में महावर लगा है। दोनो के मुख पर हर्ष-युक्त शाति विराज रही है। सीता के नेत्र लज्जा से कुछ नीचे को झुके हुए है, जो उनकी स्वाभाविक मुद्रा जान पडती है।]

राम—(हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए) देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने मे मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। दायित्व ग्रहण करने के लिए एक पहर ही तो शेष है, मैथिली।

सीता—हाँ, नाथ, केवल एक पहर। सफलता के सम्बन्ध मे प्रश्न ही निरर्थक है, आर्यपुत्र। यदि ससार मे आपको ही अपने कर्तव्य मे सफलता न मिली तो अन्य को मिलना तो असम्भव है।

राम—(किरीट लगाते हुए) परन्तु, वैदेही, किसी कार्य का उत्तर-दायित्व सँभालने के पूर्व वह कार्य जितना सरल जान पडता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् नही। महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा

के निमित्त जब मैं लक्ष्मण-सहित उनके सग गया था, उस समय मुझे वह कार्य जितना सरल भासता था, उतना सरल वह न निकला। फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पडे विना नही रहता। ताडका की स्त्री-हत्या की ग्लानि को, यद्यपि वह पुण्य कार्य के लिए की गयी थी, मै अब तक हृदय से दूर नही कर सका हूँ।

सीता—परन्तु, आर्यपुत्र, प्रजा के पालन और रजन के लिए तो इस प्रकार के न जाने कितने कार्यों को करना पड़ेगा।

राम—(पीत रेशमी उत्तरीय गले में डालते हुए) हाँ, प्रिये, तभी तो कहता हूँ कि देखना है इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने मे मै कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। इस सूर्यवश मे महाराज इक्ष्वाकु, भगीरथ, दिलीप, रघु आदि अनेक प्रतापी, वीर, कर्तव्य-परायण और प्रजा-पालक राजा तथा सम्राट् हुए है। इस वश का राज-भार सँभालने के लिए जैसे पुष्ट कन्धो, दीर्घ भुजाओ, दृढ और साथ ही साथ कोमल हृदय एव स्पष्ट तथा विशद् मस्तिष्क की आवश्यकता है, ज्ञात नही, मेरे ये अवयव वैसे है या नही।

सीता—मेरा इस सबध मे कुछ भी कहना पक्षपात ही होगा, नाथ।

राम—(चौकी पर बैठते हुए) नही, मैथिली, यह बात नही है। सर्व-साधारण प्रत्येक वस्तु को प्राय तुलनात्मक दृष्टि से देखते है; साधारण वस्तुओ के बीच कुछ भी विशेषता रखनेवाली वस्तु का आदर हो जाता है, पर मेरी परख तो सूर्यवश के इन महा तेजस्वी रत्नो के बीच में मुझे रखकर की जायगी।

सीता—(दूसरी चौकी पर बैठकर) और, नाथ, मुझे विश्वास है कि आप उनमे अद्वितीय निकलेगे।

राम---इसका क्या प्रमाण है, वैदेही ? सुवाहु और ताडका का मैं वध कर सका एव मारीच को मेरा वाण उठाकर कुछ दूर तक ले जा सका, जिससे महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ, क्या यही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण है ? मै धनुष-भग कर तुम्हारा पाणि-ग्रहण कर सका, क्या इतने से ही यह वात मानी जा सकती है ? ये तो मेरे पाशविक वल के प्रमाण है। इससे मैं प्रजा का सुशासन कर सकूँगा यह तो सिद्ध नही होता।

सीता---क्यो, आर्यपुत्र, इतना ही क्यो ? पापिष्ठा अहल्या का आपने उद्धार किया, भगवत्-अवतार परशुराम पर आपने आत्मिक विजय पायी।

राम---इसमे केवल मेरी विशेषता ही नही है, मैथिली, इन वातो के अन्य कारण भी थे।

सीता---और, नाथ, आज सारी प्रजा आपको प्राणो से अधिक चाहती है, क्या आपके विना किसी गुण के ही ?

राम---इसका कारण मुझसे की जानेवाली भविष्य की आशा ही है। न जाने प्रजा ने मुझसे अगणित आशाएँ क्यो वाँध रखी है।

सीता---इसका कारण आप नही जान सकते, आर्यपुत्र, पर आपके आत्मीय जानते है, आपकी प्रजा, गुरु, माता-पिता, भ्राता जानते है, और मैं जानती हूँ, नाथ। निसर्ग ने आपको जैसा हृदय, मस्तिष्क और पराक्रम दिया है वैसा यदि अन्य को मिलता तो वह फूला न समाता, गर्व से उसका मस्तिष्क सातवे लोक को पहुँच जाता, परन्तु आपकी तो दृष्टि तक अपने गुणो की ओर नही जाती। अन्य को अपने राई-समान सुगुण भी पर्वताकार दिखते है, परन्तु आपको तो अपने पर्वताकार

सुगुण राई-तुल्य भी नही दिखते। अपने प्रति यह विराग ही तो इस सुगुण रूपी स्वर्ण-मन्दिर का रत्न-जटित कलश है। लोकोपकार मे आपका सारा समय व्यतीत होता है, आर्यपुत्र। कर्तव्य ही आपके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न है।

राम—तुम सबो का मुझमे इस प्रकार के गुणो का अवलोकन और इसके आधार पर मुझसे महान् आशाएँ ही तो मुझे अधिक शकित बनाये रहती है। प्रिये, जिससे जितने अधिक ऊँचे उठने की आशा की जाती है, उसका मार्ग उतना ही अधिक कठिन और दुस्तर हो जाता है। जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर दृष्टि फेकता है तब उसकी अत्यधिक ऊँचाई देख उसे अनेक बार शका हो उठती है कि वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकेगा या नही।

सीता—यह शका उन्ही के हृदय मे अधिक उठती है जो उस स्थान तक पहुँचने की क्षमता रखते है। समर्थ ही सदा शकित रहता है, असमर्थ को तो कोई भी वस्तु सामर्थ्य के बाहर दृष्टिगोचर नही होती।

राम—पर, मैथिली, आदर्श ऊँचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा में कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे, अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पडे तो भी वह पीछे न हटे, राजा के लिए कही भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुनें पडे। वैदेही, यह महान् उच्च आदर्श है।

सीता—जो स्वय जितना उच्च होता है उसका आदर्श भी उतना ही ऊँचा रहता है।

राम—देखना है, प्रिये, कितना कर पाता हूँ। पिताजी आज अभिषेक के उत्तरदायित्व के अनुष्ठान का भी आरम्भ कर देगे। सन्तोष

इतना ही है कि फिर भी पिताजी और गुरुजी की अनुभव-शील सम्मति पथ-प्रदर्शक रहेगी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सदृश भ्राता सहायता करेगे; तीन तीन पूजनीय माताओ का आशीर्वाद और तुम्हारा प्रेम साथ मे होगा। वैदेही, पूज्यपाद दिलीप महाराज को उनकी सन्तान-कामना के अनुष्ठान मे जितनी सहायता महारानी सुदक्षिणा से मिली थी, मुझे तुमसे, मेरी कर्तव्य-पूर्ति मे, उससे कही अधिक मिलनी चाहिए।

[नेपथ्य में वाद्य बजता है।]

राम—(खड़े होकर) यह लो, उष काल की प्रार्थना का समय भी हो गया।

[सीता भी खड़ी हो जाती है। नेपथ्य में गान होता है।]

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त।
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव प्रसीद॥
यद् यद् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मंगलाय॥

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी ऊँचा और मोटा वृद्ध व्यक्ति है। केश श्वेत हो गये है। सिर के बाल लम्बे है, और दाढ़ी लबी है। शरीर के ऊपर के भाग में कंचुक (एक प्रकार का लबा वस्त्र) और नीचे के भाग में अधोवस्त्र धारण किये है। सिर पर श्वेत पाग है। सुवर्ण के भूषण पहने है। दाहने हाथ में ऊँची सुवर्ण की छड़ी है।]

प्रतिहारी—(सिर झुकाकर अभिवादन कर) श्रीमन्, महामत्री सुमन्त पधारे है। श्रीमान् महाराजाधिराज स्वस्थ नही है, अत. आपका स्मरण किया है।

राम—(चौंककर) अच्छा! मै अभी उपस्थित होता हूँ।

एक—(दूसरी ओर से आनेवाले दोनो से) तुमने सुना, क्या अघटित घटना घटी ?

दूसरा—आज आनन्द के दिन रामाभिषेक के सम्बन्ध मे ही और कोई आनन्ददायक घटना घटित हुई होगी।

पहला—(लम्बी सॉस लेकर) वही होता तो क्या पूछना था, बन्धु, पर दैव बडा दुष्ट है।

तीसरा—(घबड़ाकर) क्यो, क्यो, क्या हुआ ? राजवंश मे तो सब कुशल है ?

पहला—(लम्बी सॉस लेकर) नही।

दूसरा—(घबडाकर) नही ! इसका क्या अर्थ ? तुरत कहो, तुरत।

तीसरा—(घबड़ाये हुए) महाराज तो प्रसन्न है ? रानियाँ तो प्रसन्न है ? जिन अनुपमेय राम और सीता के दर्शन कर हम लोग नित्य कृतार्थ होते है, जो निशिदिन हमारे कल्याण की चिन्ता मे मग्न और हमारे हित के लिए भटकते रहते है, वे तो आनन्द-पूर्वक है न ?

दूसरा—वीरवर लक्ष्मण तो कुशल से है ? पुण्यात्मा भरत और शत्रुघ्न के तो ननिहाल से कोई अशुभ समाचार नही आये ?

पहला—(लम्वी सॉस लेकर) अब सब अशुभ ही अशुभ है। न जाने कितनी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शुभ घडी आज दृष्टिगोचर होती, वही जब न होगी, तो फिर शुभ क्या है ?

दूसरा—(अत्यन्त घबड़ाकर) पर हुआ क्या ? तुम लम्वी साँसे ले रहे हो, पर बतलाते कुछ नही।

तीसरा---(घबड़ाहट के मारे जल्दी-जल्दी) मेरे प्राण मुँह को आ रहे हैं। तुरन्त कहो, बन्धु, तुरन्त, शीघ्रातिशीघ्र कहो।

पहला---(नेत्रो में आँसू भरकर) युवराज-पद के स्थान पर महाराज ने· ······। (उसका गला भर आता है।)

दूसरा---(टहलते हुए) हाँ, महाराज ने, क्या ? शीघ्र कहो, नही तो हम ही दौडते हुए ड्योढी को जाते हैं।

पहला---(भर्राये हुए स्वर में) नही कहा जाता, बन्धु, नही कहा जाता। क्या कहूँ ! हा ! सुनने के पूर्व ही प्राण क्यो न निकल गये।

[जिधर से एक पुरवासी आया था उसी ओर से दौडते हुए एक का और प्रवेश। इसकी वेश-भूषा भी पहले पुरवासियो की-सी है।]

पहला---(आगन्तुक से) क्यो पूछ आये ?

आगन्तुक---हाँ, सच है।

दूसरा---क्या, कुछ हमे भी तो बताओ ?

तीसरा---(पहले की ओर सकेत कर) ये भी नही बता रहे हैं।

आगन्तुक---क्या बताऊँ, अनर्थ हो गया, घोर अनर्थ। अवध की प्रजा के भाग्य फूट गये। राज्याभिषेक के स्थान पर महाराज ने राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया और भरत को राज्य !

दूसरा---क्या कहा ? राम को वनवास ! (सिर पकड़कर बैठ जाता है।)

तीसरा---और भरत को राज्य !

आगन्तुक---(लम्बी साँस लेकर) हाँ, बन्धु, यही। (पहले की ओर

संकेत कर) जब इन्होंने मुझसे यह वृत्त कहा तब मैंने भी इस सवाद पर विश्वास न किया था, मै स्वय ड्योढी पर गया और सुन आया कि यह सत्य है।

दूसरा—कारण क्या? महाराज तो राम से अत्यन्त प्रसन्न थे।

पहला—महाराज का दोप नही है, भरत का षड्यन्त्र सफल हो गया।

आगन्तुक—नही, नही, भरत को क्यो दोष देते हो? उनकी माता के अपराध के कारण उनको दोष देना अन्याय है।

तीसरा—अच्छा, तो कैकेयी महारानी दोषी है?

पहला—कैकेयी का तो नाम है, मेरा तो विश्वास है कि सारी विष-बेलि भरत की बोयी हुई है।

दूसरा—अच्छा तो सारा वृत्त तो कहो कि क्या हुआ?

आगन्तुक—सारे वृत्तान्त के कहने का तो मुझमे भी साहस नही है और न अभी ज्ञात ही है। सक्षेप मे यही है कि कैकेयी महारानी को महाराज ने कभी दो वर देने का वचन दिया था, रात्रि को जब महाराज शयनागार मे गये तब महारानी ने राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राज्य देने के दो वर माँगे। महाराज की सत्यवादिता तो विख्यात ही है; महाराज को अपना वचन पूर्ण करना पड़ा। राम अभी महाराज के निकट गये थे, उन्होने वन जाने की प्रतिज्ञा की है और वे जाने को प्रस्तुत होने के लिए अपने ·· ··। (इतना कहते-कहते उसका गला भर आता है, कुछ ठहरकर वह फिर कहता है) पतिव्रता सीता देवी और भ्रातृवत्सल लक्ष्मण भी उनके साथ जायँगे।

पहला—(आश्चर्य से) अच्छा! यह मुझे भी ज्ञात नही था। उन्हे भी वनवास दिया गया है?

आगन्तुक—नही, और राम ने बहुत चाहा कि वे सग न जावें, पर दोनो ने नही माना, अन्त मे राम ने स्वीकृति दे दी। राम माता से भी आज्ञा ले आये है और लक्ष्मण भी।

दूसरा—आह! सीता देवी चौदह वर्ष वन में!

तीसरा—महान् अनर्थ है! (क्रोध से) मै भी मानता हूँ कि यह सब भरत, शत्रुघ्न और कैकेयी के षड्यन्त्र से हुआ है, वे दोनो ननिहाल चल दिये और माँ को आगे कर दिया।

दूसरा—यदि यह सत्य हुआ तो हम लोग विप्लव करेंगे।

आगन्तुक—बन्धु, उत्तेजना मे मनुष्य सत्य बात का निर्णय कभी नही कर सकता। मुझे विश्वास है कि पुण्यात्मा भरत से यह होना सम्भव नही है, फिर सच बात तो प्रकट होकर ही रहेगी, और हमारे लिए तो राम और भरत दोनो समान है, परन्तु . ।

पहला—(क्रोध से) कभी नही, राम और भरत कभी समान नही हो सकते।

दूसरा—(और भी क्रोध से) असम्भव है।

तीसरा—(अत्यन्त क्रोध से) नितान्त।

आगन्तुक—पर इसके निर्णय का तो यह समय नही है। जब भरत सिहासनासीन होने लगेगे, उस समय प्रजा अपने कर्तव्य का निर्णय करेगी। मै तो यह कह रहा था कि यदि कैकेयी भरत को राजा ही बनाना चाहती थी, तो वे बनवाती, पर राम को वनवास क्यो? राम का स्वभाव तो

ऐसा है कि वे भरत को सहर्ष राज्य दे देते। प्रजा से राम का यह वियोग क्यो कराया जा रहा है ?

पहला—(शोक से) हाँ, बन्धु, क्या वृद्ध, क्या युवा, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी सभी को राम एक-से प्रिय है।

तीसरा—(शोक से) इसमे कोई सन्देह नही। जहाँ वे जाते हैं, घडियो तक नर-नारियाँ उसी मार्ग को देखा करते हैं, उन्ही की चर्चा होती है। कौन वैसी प्रजा-सेवा करेगा ?

पहला—(आँसू भरकर) ओह! चौदह वर्ष उनके दर्शन न होगे। महाराज, महारानी कौशल्या और सुमित्रा तथा उर्मिला देवी कैसे जीवित रहेगी ?

दूसरा—पर देखे, वे कैसे जाते है ? सारे अयोध्या-निवासी उनके रथ को रोक लेगे, घोडो को पकड लेगे, रथ के चको को नही छोडेगे, देखे, उनका रथ कैसे चलता है ?

तीसरा—हॉ, हॉ, वे यदि पैरो जाने का उद्योग करेंगे तो वह भी न करने देगे, उनके सम्मुख लेट जायँगे। राम ऐसे निर्दयी नही है कि मनुष्यो को कुचल कर जावे।

पहला—चलो, चलो, सारे पुर मे सूचना करें; सारे पुरवासी ड्योढी को चलेगे।

[चारो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या मे राजप्रासाद के बाहर का राज-मार्ग

समय—प्रात काल

[सामने दूरी पर अनेक खण्डो का ऊँचा राजप्रासाद दिखला है। मार्ग के दोनो ओर अनेक खण्डो के भवन बने हैं। मार्ग जन-समुदाय से भरा है। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी दृष्टिगोचर होते हैं। पुरुष और बालक उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। स्त्रियाँ और बालिकाएँ साड़ी पहने और वक्षस्थल पर वस्त्र बाँधे हैं। सभी आभूषण धारण किये हैं। किसी के आँसू बह रहे हैं, कोई इधर-उधर दौड़ रहा है। बडा हल्ला हो रहा है। कभी-कभी हल्ला कम होता है और तरह-तरह के शब्द सुनायी देते हैं।]

एक—राज्याभिषेक के स्थान पर वन-गमन हुआ।

दूसरा—दैवी माया सचमुच बडी अद्‌भुत है।

पहला—हा! आज अवध का राज्य अनाथ हो जायगा।

दूसरा—न जाने, राजा को क्या सूझा है?

एक वृद्धा—फिर हमे उनके मुख न दिखेंगे, क्यो?

[कुछ देर तक हल्ले में कुछ सुनायी नहीं देता, फिर कुछ शान्ति होती है।]

एक—अब उनका जा सकना असम्भव है।

दूसरा—यदि वे चाहे तो उनका रथ या उनके पैर अगणित प्रजा को रौंदकर अवश्य जा सकते हैं।

तीसरा—यह भी सम्भव नही है, जहाँ तक वे जायँगे, हम पीछा करेंगे।

एक स्त्री—अरे, स्त्रियाँ तक दौडेंगी।

एक बालक---और बालक भी।

[राजप्रासाद के महाद्वार से एक रथ निकलता है। छतरीदार रथ है। रथ में चार घोडे जुते हैं। सामने सारथी बैठा है जो श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है तथा सुवर्ण के आभूषण पहने है। रथ पर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सोना-चाँदी लगा है। रथ की छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वजा उड रही है। फिर हल्ला होता है। रथ पर भूषणो से रहित, वल्कल-वस्त्र पहने राम और लक्ष्मण बैठे है। सीता अपनी साधारण वेश-भूषा में बैठी है और महर्षि वसिष्ठ भी है। लक्ष्मण का स्वरूप राम से मिलता हुआ है, पर वे गौर वर्ण है। वसिष्ठ वृद्ध है, फिर भी केशों की श्वेतता के अतिरिक्त वृद्धावस्था का कोई प्रभाव शरीर और मुख पर नहीं है। उनका शरीर गौर वर्ण का सुडौल है। सिर पर जटा बँधी है और लम्बी श्वेत दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के है। रथ को सारथी धीरे-धीरे आगे बढ़ाता है। कुछ देर पश्चात् सुन पडता है।]

वसिष्ठ---(राम से) इस अपार जन-समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे, राम ?

राम---(लम्बी साँस लेकर) आपके प्रयत्न से, प्रभो। अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दु ख न होगा ? परन्तु पूज्यपाद पिताजी की आज्ञा का तो अक्षरश पालन करूँगा, भगवन्।

[जैसे ही रथ आगे बढ़ता है कुछ लोग कहते हैं।]

एक---अब रथ आगे नही बढ सकता।

दूसरा---असम्भव है।

तीसरा—सर्वथा असम्भव है।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

एक—क्या आप इतने जन-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध कार्य करेंगे, स्वामिन् ?

दूसरा—प्रजा-रजन सूर्य-वशियो का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा—धर्म है, धर्म।

[फिर भी रथ कुछ और आगे बढ़ता है। फिर हल्ला होता है। कई पुरवासी आगे बढ़, घोड़ो की रास और रथ के चके पकड, रथ को रोक लेते है। एक अत्यन्त वृद्ध पुरवासी आगे बढता है।]

वृद्ध—(नेत्रो में आँसू भर) कहाँ, कहाँ जाते हो, राम ? इन वस्त्रो को पहनकर कहाँ जाते हो ? सूर्य-वशी राजाओ और सम्राटो को चौथेपन मे मैने ये वस्त्र पहने, वन जाते, रानियो को वन मे सग ले जाते, देखा है, पर इस अवस्था मे नही, राम, इस अवस्था मे नही।

एक वृद्धा—(आगे बढ़ रोती हुई सीता से) पुत्री, तू कहाँ जायगी ? तू वन को जायगी ! वृद्ध सास-ससुर को, हम सबको छोड तू वन को जायगी ! यह नही होगा, कभी नही होगा। हम अवध-निवासी वृद्धाओ के प्राण रहते कभी नही होगा।

[फिर हल्ला होता है, थोडी देर कुछ सुनायी नहीं देता, फिर सुन पडता है।]

एक ब्राह्मण—(आगे बढ़ वसिष्ठ से) भगवन्, यह कहाँ की नीति है ? कहाँ का धर्म है ? आपके कुल-गुरु होते हुए यह अनीति, यह अधर्म !

एक युवक—(आगे बढ) और प्रजा की इस आज्ञा के सम्मुख अकेले

महाराज दशरथ की आज्ञा कौनसी वस्तु है ? (वसिष्ठ से) प्रभो, इस सूर्यवंश के राजाओ ने, जो प्रजा को प्रिय रहा है, वही किया है। महाराज दशरथ हमारे नरेश हे, पूज्य है, परन्तु उन्हे यह अधिकार नही कि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार का कार्य करे।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् फिर सुनायी देता है।]

एक स्त्री——जिस वैदेही ने पिता और ससुर के घर मे पृथ्वी पर पैर नही रखा, वह वन की पथरीली, कँकरीली ओर कॉटो की भूमि मे भटकेगी!

दूसरी स्त्री——वन की शीत, ताप और वर्षा सहन करेगी!

तीसरी स्त्री——सीता देवी के कष्टो की ओर ही देखकर न जाओ, युवराज!

एक बालक——**(आगे बढ़ सीता से)** मै तो राजभवन मे बहुत आता था, आप तो मेरे साथी बालको को और मुझे विविध प्रकार के मिष्ठान्न देती थी, क्या हम बालको को छोडकर आप चली जायँगी ? आप ही **(राम की ओर संकेत कर)** इन्हे रोकिए, देवि।

एक युवक——**(आगे बढ़ लक्ष्मण से)** वीरवर, आपके अग्रज ने आपका कहना कभी नही टाला। आप ही हम लोगो की ओर से इन्हे समझाइए।

दूसरा युवक——**(लक्ष्मण से)** पिता की आज्ञा मानना यदि धर्म मान लिया जाय तो एक ओर पिता की आज्ञा है और दूसरी ओर इस अपार जन-समुदाय का सन्तोष।

एक वृद्ध——नही, नही, इस जन-समुदाय की प्राण-रक्षा। अवध मे बिना तुम लोगो के दर्शन के कोई जीवित न बचेगा।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

राम—(दु:खित हो वसिष्ठ से) भगवन्, सचमुच यह तो वडी कठिन समस्या है, आप ही इससे उद्धार कीजिए। इस अपार जन-समुदाय का यह करुण-क्रन्दन तो असह्य है।

[वसिष्ठ बोलने के लिए रथ पर खडे होते है। उन्हें खडे देख प्रजा चुप हो जाती है।]

वसिष्ठ—पुरवासी नर-नारियो, राम के प्रति तुम्हारा यह अगाध प्रेम केवल सराहनीय न होकर अभूतपूर्व है, परन्तु, वन्धुओ, यदि प्रेम मोह मे परिणत हो जावे तो वह दु खप्रद हो जाता है। राम के प्रति तुम्हारा प्रेम सराहनीय है, पर मोह सराहनीय नही है। यदि मोह के वशीभूत होकर तुम कर्तव्य-च्युत हो जाओ, या तुम्हारे कारण राम को कर्तव्य-च्युत होना पडे, तो वह न तुम्हारे लिए सराहनीय वात होगी और न राम के। पिता की आज्ञा मानना राम का धर्म है।

एक व्यक्ति—पर, यह आज्ञा अनुचित है।

बहुत से व्यक्ति—नितान्त अनुचित।

वसिष्ठ—क्या अनुचित और क्या उचित है, इसकी मीमासा, इस वृहत् जन-समुदाय मे, ऐसे समय होना जब कि किसी की भी वुद्धि ठिकाने नही है, सम्भव नही। विषय क्या है, उसे थोडा सोचो। महाराज दशरथ ने महारानी कैकेयी को दो वर देने का वचन दिया, वे अपने वचन से वद्ध है। महाराज के वचन की सिद्धि राम की कृति पर अवलम्वित है, और राम का पुत्र के नाते कर्तव्य है कि वे अपने पिता के वचन को सत्य कर दे। यह तुम्हारे सहयोग पर निर्भर है, अत इस समय राम का वन जाना और तुम्हारा इनके मार्ग मे आडे न आना ही धर्म है। (वसिष्ठ बैठ जाते है।)

एक युवक---(आगे बढ़ ज़ोर से) यदि यह मान भी लिया जाय कि इस समय राम का धर्म वन जाना है, तो लक्ष्मण और सीता का तो नही है ?

दूसरा युवक---कदापि नही।

पहला युवक---वे तो राम के सग जा रहे है।

तीसरा युवक---साथी की दृष्टि से ?

पहला---हॉ, साथी की दृष्टि से। तो बस हम सव भी वन जायँगे। अवध के निवासी वही वसेगे, जहॉ राम होगे।

कुछ व्यक्ति---बस, यही ठीक है। राम अपने धर्म का पालन करे और हम अपने धर्म का करेगे।

[फिर हल्ला होता है।]

पहला युवक---(आगे बढ़ जोर से) अच्छा, वन्धुओ, घोडो को छोड दो, रथ चले, हम सब पीछे-पीछे चलेगे।

[लोग घोड़ो और रथ को छोड़ देते है। रथ धीरे-धीरे आगे बढता है। जन-समुदाय कोलाहल करता हुआ पीछे-पीछे चलता है। राम, सीता, लक्ष्मण और वसिष्ठ दुःखित दृष्टि से सबकी ओर देखते है।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान---पचवटी

समय---सन्ध्या

[गोदावरी के किनारे राम की पर्णकुटी है। गोदावरी का श्वेत नीर डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणो में चमक रहा है। चारो ओर सघन वन दृष्टि-गोचर होता है। वृक्षों के ऊपरी भाग भी सूर्य की किरणो से पीले हो रहे है। अनेक प्रकार के पुष्पो के वृक्ष कुटी के चारो ओर लगे हैं। कुटी के बाहर, चट्टानो पर मृगचर्मो को बिछा, राम, लक्ष्मण और सीता बैठे हुए है। राम और लक्ष्मण की जटाएँ बहुत बढ गयी हैं, जिनका मुकुट के सदृश जूडा सामने बँधा है। दोनो के वस्त्र वल्कल के है और सीता के नील रेशमी। सीता आभूषण भी धारण किये है। राम और लक्ष्मण के निकट ही उनके धनुष रखे है, तथा बाणो के तरकस। इनके निकट ही, हाथ में पहनने के, गोह के चमडे के बने हुए, गोधागुलिस्त्राण भी रखे है।

बीच में एक छोटासा लता-मंडप है। मंडप के चारो ओर पत्रो तथा पुष्पो का बन्दनवार बँधा है। मंडप के बीच अग्निहोत्र की वेदी में से थोडा-थोड़ा धूम उठ रहा है। आश्रम के चारो ओर वृक्षो पर तोते आदि पक्षी दिखाई देते है। एक पालतू मृगी सीता के पास बैठी है, जिसका सिर सीता सुहला रही है। तीनो सन्ध्या की प्रार्थना में गायन गा रहे हैं।]

रविसा विशते सतां क्रियायै।
सुधया तर्पयते पितृन्सुरांश्च ॥
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे।
हरचूड़ानिहितात्मने नमस्ते ॥

राम--(गायन पूर्ण होने पर) सन्ध्या की प्रार्थना के सग ही आज वनवास की तेरहवी वर्ष गाँठ का उत्सव भी समाप्त होता है, वैदेही, अब कहो, इस उत्सव के उपलक्ष मे तुम्हे क्या भेट दी जाय ?

सीता--नाथ, इस तेरह वर्षो के आपके सग और इन वनो के नित नये विहारो की स्मृति क्या छोटी भेट है ? फिर भेट तो आपके चरणो मे आज मुझे अर्पित करनी चाहिए।

राम--तुम तो मुझे सभी भेट कर चुकी हो, प्रिये। क्या और कुछ भेट करने को शेष है ? अयोध्या के राजप्रासाद मे तुम आनन्द-पूर्वक निवास कर सकती थी, या अपने पिता के राजभवन को जा सकती थी, दोनो ही स्थानो पर सभी प्रकार के आहार-विहार थे, परन्तु कहाँ ? तुम तो तेरह वर्षो से, प्रति वर्ष कपकपानेवाली शीत, झुलसानेवाली लू और पचासो जगह टपकनेवाली इस पर्णकुटी मे वृष्टि को सहन कर रही हो। चार पग भी चलने से जो पैर दुखने लगते थे वे पथरीली और काँटोवाली भूमि मे योजनो चल चुके है। वन की पवन से सारा शरीर रूखा हो गया है और मुख क्या वैसा है, जैसा अयोध्या छोडने के पूर्व था ? क्या कहूँ ?

सीता--परन्तु आपके विना अयोध्या अथवा मिथिला के वे राज्य-वैभव मुझे क्या सुख देते, आर्यपुत्र ? मै सत्य कहती हूँ, इन तेरह वर्षो का, वन का, यह सुख मै जीवन भर न भूलूँगी।

राम--(लक्ष्मण से) लक्ष्मण, वधू उर्मिला क्या सोचती होगी ? तुम तो हठ कर मेरे सग आ ही गये, पर वह मुझे अवश्य शाप देती होगी। वधू उर्मिला और पूज्यपाद सुमित्रा का जब स्मरण आता है तब मै उद्विग्न हो उठता हूँ।

लक्ष्मण--मुझे विश्वास है, तात, आपके सग मेरे आने से उन्हे दु.ख नही, आनन्द, असीम आनन्द होगा।

राम--(लम्बी साँस लेकर) इन तेरह वर्षो के पूर्व का, आज का दिवस फिर दृष्टि के सम्मुख घूम रहा है। पिताजी की वह आतुरता, प्रजा का वह करुण-क्रन्दन ! आह ! यदि दूसरे दिन रात्रि को ही सबके सोते हुए हम लोगो ने रथ न चला दिया होता तो क्या लोग अयोध्या लौटते ? न जाने क्या होता ? उसके पश्चात् भी क्या न हुआ। मेरे वियोग मे पिताजी का स्वर्गारोहण, भरत का नन्दीग्राम मे तप करना। कुछ ही दिन नही हुए, सुना था कि तेरह वर्ष बीत जाने पर भी अब तक अवध मे कोई उत्साह-पूर्ण कार्य नही होता, न जन्म मे उत्सव होता है, न विवाह मे। एक मनुष्य के लिए करोडो का यह क्लेश !

लक्ष्मण--पर किस एक मनुष्य के लिए, आर्य ? उसके लिए जिसने विना उत्तरदायित्व के ही प्रजा की सेवा मे अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया था, उसके लिए जिसने अपने कर्तव्य के सम्मुख राज-पाट, धन-वैभव, आनन्द-विहार सबको तुच्छ माना, सबको ठुकरा दिया। प्रजा के आप प्राण है, तात, प्रजा आपके विना निर्जीव है।

सीता--मुझे तो जब आपने चित्रकूट से भरत आदि कुटुम्बीजनो

एव प्रजा को लौटाया था, उस समय की उनकी मुख-मुद्रा विस्मृत नही होती। जान पडता था, मानो हमने उनका सर्वस्व हरण कर उन्हे लौटाया हो।

लक्ष्मण—और, आर्य, मुझे वह दृश्य अब तक खटक रहा है जब आपने पूज्यपाद कौशल्या के भी पूर्व कैकेयी के चरणो का स्पर्श किया था।

राम—(मुस्कराकर) लक्ष्मण, अनेक बार तुम इस बात को कह चुके हो और मैं तुम्हे समझा भी चुका, पर पूज्यपाद कैकेयी के प्रति क्रोध तुम्हारे हृदय से नही जा रहा है। क्या कहूँ? वत्स, इसमे उनका दोष नही था। दैवी प्रेरणाओ से अनेक बार मनुष्य कुछ का कुछ कर डालते है। देखा नही, उन्हे कितना पश्चात्ताप था?

लक्ष्मण—एक वर्ष और शेष है, तात। एक वर्ष मे सबके पश्चात्ताप और दु ख दूर हो जायँगे।

राम—परन्तु न जाने, लक्ष्मण, बार-बार क्यो मेरे हृदय मे उठता है कि अभी और अनर्थ होना है। जब अभिषेक को एक पहर ही था तब चौदह वर्ष के लिए वन को आना पडा, अब वनवास का एक वर्ष शेष है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है इस एक अक मे कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। मुझे बार-बार भासता है कि यह एक वर्ष उस प्रकार न बीतेगा जैसे ये तेरह वर्ष व्यतीत हुए है।

[दूरी पर सुनहरे चर्म का एक मृग दिखता है।]

सीता—(मृग देखकर) नाथ, आप पूछते थे कि वनवास की तेरहवी वर्षगाँठ के उपलक्ष मे मुझे आप क्या देवे? यह लीजिए, दण्डकारण्य के इस विचित्र मृग को देखिए। इसका चर्म मुझे ला दीजिए। आर्यपुत्र, इसके चर्म पर विराजमान आपके दर्शन कर मुझे विशेष आनन्द होगा।

राम—(मृग को देख, गोधागुलित्राण हाथ म पहिन, धनुष उठाते और तरकस बाँधते हुए) हाँ, प्रिये, मृग अवश्य अद्भुत है। मै अभी इसे मार लाता हूँ। (लक्ष्मण से) लक्ष्मण, जब से शूर्पनखा के नाक-कान काटे गये है और जनस्थान के खर, दूषण आदि का वध हुआ है तब से राक्षस चारो ओर बहुत घूम रहे है, यहाँ से न हटना और सावधान रहना।

[राम का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। अँधेरा होने लगता है।]

सीता—(चारो ओर देखकर) अँधेरा हो चला है, मैने अच्छा नही किया जो आर्यपुत्र को इस समय उस मृग के पीछे भेजा।

लक्ष्मण—आप चिन्तित न हो, अब। तात के लिए मै कही और किसी परिस्थिति मे भी भय का कोई कारण नही देखता।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है। और अँधेरा हो जाता है।]

सीता—बहुत देर हो गयी, वे अब तक नही लौटे।

लक्ष्मण—आते ही होगे, आप तनिक भी चिन्ता न करे।

[फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर पश्चात् नेपथ्य में शब्द होते है—'लक्ष्मण! हा! लक्ष्मण!' 'लक्ष्मण! मै मरा, दौडो!' 'मुझे बचाओ, बचाओ!']

सीता—(घबडाकर) यह कैसा शब्द! यह कैसा शब्द, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—(प्रथम चौक, फिर शान्त हो) कोई राक्षसी माया है। आर्य, तात के लिए कोई भय सम्भव नही।

सीता—(बहुत ही घबड़ाकर खड़ी हो) नही, नही, लक्ष्मण, तुम जाओ, तत्काल जाओ। वह आर्यपुत्र का, ठीक उन्ही का स्वर था। उन-पर कोई भारी आपत्ति है।

लक्ष्मण—मै कहता हूँ उनपर ऐसी आपत्ति आना असम्भव है। देवि, मै आपको अकेला छोडकर कैसे जा सकता हूँ? स्मरण नही है, वे जाते समय मुझे क्या कह गये थे?

सीता—(उत्तेजित होकर) मै आज्ञा देती हूँ तुम जाओ, तत्काल जाओ। एक पल का विलम्ब न करो, एक पल का भी नही।

लक्ष्मण—किन्तु........।

सीता—(अत्यन्त उत्तेजित तथा क्रोधित होकर) गुरुजनो की आज्ञा मे 'किन्तु,' 'परन्तु' की क्या आवश्यकता है? यदि ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा पालन करना तुम अपना कर्तव्य समझते हो तो मेरी आज्ञा मानना भी तो तुम्हारा कर्तव्य है। मै अन्तिम वार तुम्हे आज्ञा देती हूँ कि तुम जाओ, तत्काल जाओ, नही तो मै जाऊँगी।

लक्ष्मण—(खड़े होकर) आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मै जाता हूँ, पर आप कुटी के वाहर पैर न रखे।

सीता—हॉ, हॉ, मै कुटी के बाहर न जाऊँगी, तुम तो जाओ, तत्काल जाओ। ओह! तुमने वहुत विलम्ब कर दिया!

[लक्ष्मण का प्रस्थान। सीता घबड़ाहट से इधर-उधर टहलती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वन का मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक ओर से राम और दूसरी ओर से लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम--(लक्ष्मण को देख आश्चर्य से) हैं! तुम वैदेही को अकेली छोडकर!

लक्ष्मण--(सिर नीचा किये) क्या करूँ, आर्य, कई बार मुझे पुकारा गया, आपका-सा स्वर था, फिर भी मुझे सन्देह नही हुआ, पर सीता देवी की ऐसी आज्ञा हुई कि मुझे आपको ढूँढने आना ही पडा।

राम--आह! मैं सब समझ गया। वह मृग नही था, राक्षस था। मृग-रूप से आया और मरते समय उसने मेरा-सा स्वर बना तुम्हे पुकारा। जब उसने तुम्हे पुकारा था तभी से मेरे हृदय मे शका हो गयी थी कि मैथिली तुम्हे भेजे बिना न रहेगी, वही हुआ। वैदेही की कुशलता नही है। (लम्बी साँस लेकर) चलो, शीघ्र कुटी चले। मैंने कहा ही था कि मेरे हृदय मे शकाएँ उठती है।

[दोनो का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान--राम की कुटी

समय--सन्ध्या

[कुटी सूनी पडी है। सन्ध्या का बहुत थोडा प्रकाश रह गया है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम--(सूनी कुटी देख, इधर-उधर घूमकर, जोर से) जानकी!

वैदेही! मैथिली! (कोई उत्तर न पा लक्ष्मण से) देखा, लक्ष्मण, देखा, वैदेही नही है।

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये हुए दुःखित स्वर से) हाँ, तात, यह मेरे दोष से हुआ।

राम—(लक्ष्मण को दुखी देख) नही, नही, लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यो समझ रहे हो? मै तुम्हे दोष नही दे रहा हूँ, यह सब मेरे भाग्य का दोष है।

लक्ष्मण—पर आप धैर्य रखे, आर्य, हम उनकी खोज करेगे। वे मिलेगी, अवश्य मिलेगी, मेरा हृदय कहता है मिलेगी, अन्तरात्मा कहती है मिलेगी। यह भी कोई राक्षसी माया है।

राम—हाँ, खोज अवश्य करेगे, लक्ष्मण, पर यदि कोई वन-पशु ही उसे खा गया होगा, अथवा राक्षस हर ले गया होगा तो? वह जीवित होगी तभी तो मिलेगी न? यदि कोई राक्षस उसे ले गया होगा तो मेरे बिना वह प्राण कब तक रखेगी? यदि उसका पता लग जाय तब तो, उसे ले जानेवाला चाहे कितना ही पराक्रमी क्यो न हो, मै पलो मे उसे परास्त कर सकता हूँ। पापी की शक्ति ही कितनी रहती है? पर पता लगे तब तो, फिर पता लगने तक वह जीवित रहे तब न!

लक्ष्मण—पता भी लगेगा, तात, और वैदेही हमे मिलेगी भी, जीवित मिलेगी। मुझे ऐसा भासता है मानो मेरे कान मे चुपचाप कोई यही कह रहा है।

राम—तुम्हारा ही अनुमान सत्य हो। पर, इस घोर वन मे, जहाँ दिन को ही किसी का पता लगना कठिन है वहाँ, रात्रि के अन्धकार मे तो हाथ को हाथ न सूझेगा, और यदि किसीने उसको हरा है तो प्रात काल तक तो वह न जाने कितनी दूर तक जा चुकेगा।

लक्ष्मण--अभी चन्द्रोदय होगा, आर्य, हम चन्द्र का प्रकाश होते ही उन्हे ढूँढने चलेगे।

राम--(कुछ ठहरकर) लक्ष्मण, जानकी कही छिपकर हमसे हँसी तो नही कर रही है? (ज़ोर से) मैथिली! मैथिली! वैदेही! वैदेही!

[कोई उत्तर नही मिलता।]

लक्ष्मण--नही, तात, यह नही हो सकता। यदि उन्होने हँसी की होती तो क्या आपका यह करुण स्वर सुनकर भी वे चुपचाप छिपी रह सकती थी?

राम--हाँ, वत्स, ठीक कहते हो। मेरा इतना दुःख देखना तो दूर रहा, वह पलमात्र भी मुझे उदास नही देख सकती थी। यदि कभी मैं पिता, माता, भरत अथवा अयोध्या-निवासियो का स्मरण कर थोडा भी खिन्न होता तो वह अपनी कोकिल-कण्ठी वाणी द्वारा मेरा हृदय उस ओर से हटाने का उद्योग करती थी। कभी मै उसके इस कौशल को समझ जाता और हँस देता तो लज्जा से वह सिर झुका लेती, उसका उस समय के, ज्योत्स्ना पडते हुए कमल के सदृश अवनत, मुख का मुझे इस समय जितना स्मरण आ रहा है उतना कभी नही आया, लक्ष्मण। मैने तो उसे विदेह महाराज तक का स्मरण करते नही देखा। मै यदि उसे उनका स्मरण दिलवाता तो वह इस भय से, कि कही उसके मुख पर कोई खिन्नता न दिख जावे और उससे मुझे क्लेश न पहुँचे, उस बात को ही टाल देती, उस समय के, सरला मृगी के-से उसके नेत्र मुझे इस समय जितने स्मरण आते है उतने कभी भी नही आये, वत्स। मुझे वन मे कभी कष्ट न पहुँचे इसकी उसे कितनी चिन्ता थी? मेरे नित्य कर्मो की व्यवस्था के लिए वह उषःकाल मे उठती और पहर रात गये सोती थी। मेरे भोजन का

उसे कितना ध्यान रहता था। मै ही उसके लिए सर्वस्व था। उसके प्रेम, उसके वात्सल्य, उसके सुख, उसके आनद का मे ही आश्रय था। तुम ठीक कहते हो, क्या वह मुझे कभी दुखी देख सकती है ? तभी कहता हूँ, लक्ष्मण, वह मेरे बिना कैसे जीवित रहेगी ?

लक्ष्मण—मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तात। जब तक कोई दु ख नही पडता, मनुष्य सोचता है, वह कैसे सहन होगा, पर जब सहने का समय आता है तब उसे सह सकने की शक्ति मिल जाती है। आपके दर्शन की आशा पर ही वे सब कुछ सहन कर लेगी।

राम—हाँ, ठीक कहते हो, वत्स, मै ही उससे कहता था कि यदि मै वन को अकेला आ जाता तो उसका वियोग मै कदाचित् ही सहन कर सकता। पर देखो, आज वह कहाँ है यह भी ज्ञात न होने पर मै प्राण धारण किये हूँ। **(चन्द्रोदय होता हुआ देखकर)** यह लो, यह लो, लक्ष्मण, चन्द्रोदय हो रहा है। **(कुटी को देख)** देखो तो, वत्स, यह कुटी कैसी शून्य दिखती है। इसपर छाये हुए पत्रो को तो देखो। इन्हे, तुमने और जानकी ने मिलकर, छाया था। **(चाँदनी में चमकते हुए उनके किनारो को देखकर)** वैदेही के वियोग से इनके नेत्रो मे आँसू भर आये है ? **(आँगन के पाटल के पुष्पो और लतामंडप की चमेली पर पडी हुई ओस को चाँदनी में चमकती हुई देख)** देखो, देखो, लक्ष्मण, इन पुष्पो के नेत्रो मे भी आँसू भर आये है। **(गोदावरी को देख)** यह देखो, अपनी लहरो द्वारा गोदावरी किस प्रकार रुदन कर रही है, यह जानती है कि अब उष काल मे मैथिली इसमे स्नान न करेगी। **(कुछ ठहरकर)** उसके कोई पालतू पक्षी भी नही बोलते, सब शोक से मौन हो गये है। कहाँ है उसकी परिपालित हरिणी ? जानकी मेरे लिए इस समय मरुस्थल का कुसुम, सूखे नद का नीर और सर्प की खोयी हुई मणि के समान हो गयी है। क्यो, वत्स, कभी मिलेगी या नही ? सूर्योदय होते ही पद्म का दु ख दूर हो जायगा, क्योकि उसे रवि की किरण

मिल जायगी, कोक का क्लेश चला जायगा, क्योंकि उसे कोकी मिल जायगी। देखना है, मेरे कष्ट का क्या होता है। आह ! अब नही, लक्ष्मण, अब नही, यहाँ अब एक क्षण भी रहना असम्भव है।

लक्ष्मण—हाँ, आर्य, चलिए, हम उन्हे ढूँढेगे। मुझे विश्वास है कि वे मिलेगी, अवश्य मिलेगी।

[दोनो का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—किष्किन्धा का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक-एक खण्ड के साधारण गृह है। सकरा-सा मार्ग है। दोनो ओर से दो वानरो का प्रवेश। इनका सारा शरीर मनुष्यो के सदृश है, मुँह कुछ बन्दर से मिलता है। सिर और आँखो के बीच में बहुत थोडा अन्तर है, अर्थात् सकरा ललाट है। आँखें गोल और नाक चपटी है। गालो की हड्डियाँ उठी हुई और जबड़े की हड्डियाँ चौडी है। रग कुछ लाल है। कपडे उस समय के मनुष्यो के सदृश, अर्थात् अधोवस्त्र और उत्तरीय, धारण किये है।]

एक वानर—कहो, बन्धु, सुना ? आज मृग सिंह से, मूषक विलाव से, सर्प मयूर से, कपोत बाज से और मत्स्य ग्राह से युद्ध करने आ रहे है।

दूसरा वानर—यही न कि सुग्रीव वालि से युद्ध करने जा रहे है ?

पहला—हाँ, पर, क्या यह युद्ध जैसा मैने कहा वैसा ही नही है !

दूसरा—वैसा तो नही कहा जा सकता, पर हाँ, गज सिंह से, बिलाव श्वान से, सर्प नकुल से, मुर्ग बाज से युद्ध करने जा रहे हैं यह कह सकते हो, ग्राह से इस प्रकार का युद्ध किससे हो सकता है सो मुझे नही सूझता।

पहला—ऐसा सही। पर गज को सिंह, बिलाव को श्वान, सर्प को नकुल और मुर्ग को बाज भी सदा पछाड ही देते है।

दूसरा—प्राय , पर सदा यह नही होता। गज की पीठ पर यदि व्याघ्र हो, या ऐसे ही दूसरे जीव सिखाये हुए हो, तो कभी-कभी विपरीत फल भी हो जाता है।

पहला—तो क्या कोई ऐसी बात है ?

दूसरा—अवश्य। नही तो तुम समझते हो कि सुग्रीव वालि को इस प्रकार युद्ध के लिए ललकार सकते थे ?

पहला—**(उत्सुकता से)** क्या, बन्धु, वह क्या है ? मुझे ज्ञात नही।

दूसरा—**(कुछ धीरे से)** देखो, अपने तक ही रखना ।

पहला—मैं किसीसे क्यो कहने लगा ? मै तो चाहता ही हूँ कि क्रूर वालि के राज्य का जितने शीघ्र अन्त हो, उतना ही अच्छा है।

दूसरा—**(और धीरे)** सुग्रीव की एक बडे पराक्रमी मनुष्य से मित्रता हुई है।

पहला—किससे ?

दूसरा—उत्तर मे अवध एक राज्य है। वहाँ के राजकुमार राम को उनके पिता ने, चौदह वर्ष का वनवास दिया है।

पहला—**(जल्दी से)** यह तो मैं जानता हूँ, पर उनसे सुग्रीव का सम्बन्ध कैसे हुआ ?

दूसरा—वही तो कहता हूँ, सुनो न। वे अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ पचवटी मे रहते थे। वहाँ से उनकी पत्नी को कोई हरण कर ले गया है। वे उसे ढूँढते-ढूँढते ऋष्यमूक पर्वत के नीचे पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने उन्हे देखा और हनुमान को भेज अपने निकट बुलवाया। सुग्रीव ने सीता के खोजने, और यदि उनका पता लग गया तो जिसने उनका हरण किया है उससे अपनी वानर और भालु-सेना सहित युद्ध कर राम को पुन प्राप्त करा देने, का वचन दिया है और राम ने सुगीव को वालि का वध कर उसके कष्ट-निवारण का ।

पहला—यह सब तुम्हे कैसे ज्ञात हुआ ?

दूसरा—मै उस दिन ऋष्यमूक को गया था।

पहला—पर वालि से तो सुग्रीव युद्ध करेगे, रामचन्द्र उन्हे युद्ध मे कैसे सहायता करेगे ?

दूसरा—यह भी वताता हूँ। जव सुग्रीव वालि से युद्ध करेंगे तव राम छिपे हुए बैठे रहेगे और वालि को एक ही वाण मे समाप्त कर देगे। वे वडे पराक्रमी है, उन्होने एक ही वाण से सात ताल वृक्षो को वेध दिया था।

पहला—पर यह तो अधर्म होगा, राम तो वडे धर्मात्मा सुने गये है।

दूसरा—क्या किया जाय, कोई उपाय नही है। सुग्रीव ने जव उन्हे वालि के अत्याचारो का वर्णन सुनाया और वतलाया कि उसकी पत्नी को वालि ने किस प्रकार हरा है, उसकी सम्पत्ति को लेकर उसे राज्य से किस प्रकार निकाल दिया है, तथा वह किस प्रकार मारे-मारे घूमने के पश्चात् अन्त में इस पर्वत पर, यह देख कि वालि शाप के कारण वहाँ नही आ सकता, किस प्रकार कष्ट से अपने दिन व्यतीत कर रहा है, तव राम ने वालि को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। उसके पश्चात् उन्हे विदित हुआ कि वालि को वर प्राप्त है कि जो उसके सम्मुख युद्ध करने जाता है उसका आधा वल

वालि को मिल जाता है। तथापि अब तो वालि को किसी प्रकार मारना ही होगा। (कुछ रुककर) फिर राम को यह भी ज्ञात हुआ है कि वालि अपनी प्रजा पर भी वडी क्रूरता से राज्य करता है ।

पहला--तो अब वालि गया, पर सुग्रीव अपनी स्वाभाविक अत्यधिक दयालुता के कारण राज-काज चला सकेंगे ?

दूसरा--आदर्श राज्य तो तभी था जब इन दोनो भ्राताओ मे परस्पर स्नेह था, एक की वीरता और दूसरे की दया से प्रजा महान् सुख भोग रही थी, पर वह तो वालि ने ही निर्दोष सुग्रीव को कष्ट दे-देकर असम्भव कर दिया।

पहला--(कुछ ठहरकर) तुम कहाँ जा रहे थे?

दूसरा--उसी युद्ध को देखने।

पहला--मै भी वही जा रहा था।

दूसरा--तो चलो, चले।

[दोनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान--एक वन

समय--सन्ध्या

[घना जंगल है, जो डूबते हुए सूर्य की किरणो से रँग रहा है। एक वृक्ष की ओट में खडे हुए राम और लक्ष्मण दूर पर कुछ देख रहे है। राम के धनुष पर वाण चढा हुआ है।]

राम—वह देखो, वह देखो, लक्ष्मण, इस समय सुग्रीव बडी वीरता दिखा रहे है। उनके मल्ल-युद्ध के प्रकर्पण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण कौशल देखने ही योग्य है।

लक्ष्मण—यह प्रथम उत्साह की वीरता है, तात, वे कही वालि के सामने ठहर सकते है।

[कुछ देर तक दोनो चुप रहते है।]

राम—हॉ, हाँ, ठीक कहते हो, यह देखो उन्हे वालि ने पटक दिया। अव मेरा वाण ही उनकी रक्षा कर सकता है, अन्य कुछ नही।

लक्ष्मण—तो चलाइए वाण, आर्य, विलव क्यो ?

राम—पर लक्ष्मण, ताडका को मारते समय जैसे भाव उठे थे आज फिर वैसे ही मेरे हृदय मे उठ रहे है। वह स्त्री-हत्या थी, यह युद्ध मे अधर्म है।

लक्ष्मण—पर, इससे वडे अधर्मो का नाश करना और मित्र के प्रति मित्र के कर्तव्य की पूर्ति है।

राम—**(वाण सँभालकर, पर फिर हाथ ढीलाकर)** नही, नही, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। विना यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नही हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नही हो सकती, तो न हो, पर युद्ध मे यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नही है।

लक्ष्मण—**(जल्दी से)** इस समय यह सोचने का समय नही है, तात, और न सीता देवी की खोज एव उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है, अव यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र वनाया है, उसकी प्राण-रक्षा का। शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नही तो वह वालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा।

यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा, धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायँगे, रघुवंशियो से ऐसा विश्वासघात कभी नही हुआ।

राम--**(घबड़ाकर)** पर, यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाई है, वत्स। जिस समय यह प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नही उठे थे।

लक्ष्मण--**(बहुत जल्दी)** पर, आपके इस विचार ही विचार मे उसके प्राण जा रहे है, आर्य। आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है, प्रतिज्ञा की है। चलाइए, चलाइए वाण, तात, नही तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मै ही वालि का वध कर दूँ। **(धनुष पर बाण चढ़ाते है।)**

राम--नही, नही, यह कैसे हो सकता है कि मै अपना कर्तव्य न कर पाप तुमपर डालूँ। **(कुछ ठहरकर, उस ओर देखते हुए)** सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही है। अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण, वही हो। **(बाण छोड़ते है।)**

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—लका मे अशोक-वाटिका

समय—सन्ध्या

[सुन्दर वाटिका है। अशोक के वृक्ष अधिक दिखायी देते है। वाटिका के बाहर, दूरी पर लंका के अनेक खण्डो के विशाल भवनो के ऊपरी खण्ड दिखायी देते है। भवन पीत रग के होने के कारण सुवर्ण के-से दिखते है। डूबते हुए सूर्य के पीले प्रकाश से इनकी दीप्ति और बढ़ गयी है। एक अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वी पर शोक से ग्रसित सीता बैठी है। चूड़ियो को छोड और कोई भूषण सीता के शरीर पर नही है। शरीर क्षीण और मलीन हो गया है। सीता धीरे-धीरे गा रही है।]

कबहूँ हा! राघव आवहिगे ?
मेरे नयन-चकोर-प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिगे ॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिगे।
अग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि जहँ-तहँ छावहिगे ॥

बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यो कृपा-दृष्टि-जल पलुहावहिंगे।
निज-वियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ॥

[सरमा का प्रवेश। सरमा की अवस्था सीता से चार-पाँच वर्ष अधिक है। वर्ण साँवला है, पर मुख और शरीर सुन्दर है। वस्त्र सीता के-से है। आभूषण भी पहने है।]

सरमा--'आवहिंगे', नही सखि, आ गये। अभी-अभी मैं देखकर आ रही हूँ। रघुनाथजी अनुज सहित समुद्र के इस पार उतर आये। नौकाओ द्वारा आने के लिए नौकाएँ बनानी पडती, उनके वनाने मे वहुत विलम्व होता, अत सेतु बाँधकर आ गये, सखि।

सीता--(प्रसन्न होकर उठते हुए) ये सव वाते तुम मुझे धैर्य वँधाने को कहती हो, सरमा, या ये सव सच्चे सवाद है ?

सरमा--सच्चे, सर्वथा सच्चे, सखि। इस उद्यान का कोट इतना ऊँचा है कि यहाँ से समुद्र नही दिख सकता, अन्यथा मैंने तुम्हे स्वय दिखा दिया होता कि समुद्र पर कैसा सेतु वँधा है और विना नौकाओ की सहायता के ही किस प्रकार उनकी वानर-भालु-सेना इस पार आ रही है। रघुनाथजी और सौमित्र के सग वानर और भालुओ की आधी सेना तो इस ओर आ ही गयी और शेष आधी भी आज रात्रि तक आ जानेवाली है।

सीता--पर, सरमा, समुद्र पर सेतु वँधते आज तक नही सुना !

[दोनो वैठ जाती है।]

सरमा--इसमे तो आश्चर्य की वात नही है। जिस स्थान पर सेतु वाँधा गया है वहाँ समुद्र गहरा नही है। वहाँ की पथरीली भूमि इतनी ऊँची उठी

हुई है कि सहज मे ही सेतु बँध गया। उसी ओर से तो हनुमान भी कही तैरते और कही चट्टानो पर विश्राम करते हुए आये थे।

सीता——(आँसू भरकर) तव तो आर्यपुत्र के दर्शन कदाचित् इस जीवन मे सम्भव हो जायँगे, सखि।

सरमा——अब इसमे कोई सन्देह नही है।

सीता——(कुछ ठहरकर) युद्ध भी अनिवार्य है, क्यो? राक्षसराज रावण, अगणित राक्षस और इस सोने की लका के नाश का कारण मैं ही होऊँगी, सरमा?

सरमा——तुम काहे को होगी, सखि? राक्षसराज का पाप इसका कारण होगा।

सीता——बिना युद्ध के वे मुझे आर्यपुत्र को न सौपेंगे?

सरमा——उनके भ्राता ने उन्हे समझाया तो लात खायी और अन्त मे उन्हे रघुनाथजी के पास जाना पडा, महारानी मन्दोदरी ने उन्हे समझाया सो महारानी को झिडकी मिली। जब नाश का समय उपस्थित होता है तब बुद्धि ठिकाने पर नही रहती।

सीता——सचमुच मै बडी मन्दभागिनी हूँ। विवाह के समय कठिनाई से पिता की प्रतिज्ञा रही, ससुर के घर मे पैर पडते ही पति को वनवास हुआ, ससुर की मृत्यु हुई, एव सासुओ को वैधव्य, वन मे पति के सग आयी तो वे भी सुखपूर्वक न रह सके तथा यह विग्रह खडा हुआ और लका में पैर पडते ही लका जली तथा राक्षस-कुल के नाश की सम्भावना दिख रही है।

सरमा——इसमे तुम्हारा क्या दोष है, देवि? तुम्हारे सुख के लिए,

तुम्हारे उद्योग से, यह सब होता तो तुम दोषी थी। तुम तो नारी-कुल की शोभा और पातिव्रत की मूर्ति हो। रक्षोराज रावण से कौन स्त्री अपना सतीत्व बचा सकी है? जिस-जिस पर उसने दृष्टि डाली—किसीने वैभव के लोभ और किसीने प्राणो के भय से अपना आत्म-समर्पण किया। तुम्ही हो, मैथिली, कि तुमने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नही, इस स्वर्ग-तुल्य वैभव और इस कुन्दन से अपने शरीर को तुच्छ समझा, वह भी उस समय, वैदेही, जब रघुनाथजी के लका मे आ सकने की कोई सम्भावना न थी, इस दुख-समुद्र का कोई पार दृष्टिगोचर न होता था।

सीता—कोई नारी कैसे इस प्रकार आत्म-समर्पण कर सकती है, यह मेरी तो समझ मे ही नही आता, सरमा। मुझे तो अपने पर उल्टा इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि बिना आर्यपुत्र के अबतक मै प्राण कैसे रख सकी! कदाचित् उन्हीका स्मरण मुझे जीवित रखे हुए है, वे विस्मृत हो जावे तो कदाचित् यह शरीर क्षणमात्र भी नही रह सकता।

सरमा—किस-किस नारी के प्राण इस प्रकार केवल पति-दर्शन की अभिलाषा पर अवलम्बित रहते है!

सीता—न जाने कैसे आरम्भ से ही मुझे यह आशा रही कि आर्य-पुत्र मुझे मिलेगे। निराशा का कुहरा बार-बार हृदय पर छा जाता है, पर यह आशारूपी सूर्य इतना प्रखर है कि उस कुहरे को बहुत देर नही ठहरने देता। आर्यपुत्र, आर्यपुत्र का क्या-क्या वृत्त कहूँ, सरमा? वह रूप, वह हृदय, वे चरित्र! आह! मिथिलापुरी की पुष्पवाटिका मे सर्व-प्रथम उनके दर्शन हुए थे, फिर धनुपयज्ञ के समय धनुपभग के अवसर पर; इसके पश्चात विवाह मे और परशुराम के पराभव के समय और फिर तो गत ग्यारह मास के पूर्व नित्य ही। उप काल से शयन-पर्यन्त उनकी कैसी दिनचर्या है! आठो पहर और चौसठो घडी कैसे भाव उनके हृदय मे उठते है! न उन्हे

राज्याभिषेक का हर्ष था और न वनगमन का दु.ख। हाँ, दूसरो के दुःख से वे अवश्य विचलित हो जाते है। मेरी जिन कैकेयी सास ने उन्हे वनवास दिलाया उनके पश्चात्ताप तक ने जब आर्यपुत्र के कोमल हृदय पर ठेस पहुँचायी तब दूसरो के दु'खो से उनके हृदय की क्या दशा होती होगी इसकी तो तुम भी कल्पना कर सकती हो, सखि। उनके अयोध्या के और इन तेरह वर्ष के वन के सारे चरित्रो का मै क्या-क्या वर्णन करूँ, कहाँ तक करूँ, सरमा? अबतक न जाने तुम्हारे सम्मुख कितना वर्णन किया है। एक-एक चरित्र को वर्षो तक मै नये-नये राग और नवीन-नवीन भावो मे गान कर सकती हूँ। प्रात काल से ले दूसरे प्रात काल तक हृदय यही करता है। हृदय के इसी गान से जीवित हूँ, इसीसे, सखि।

सरमा—तुम धन्य हो, जानकी, धन्य, जिसे ऐसे पति प्राप्त हुए और धन्य है वे रघुनाथजी जिन्हे ऐसी पत्नी मिली। धन्य है तुम्हारा यह हृदय जिसमे पति के प्रति ऐसी श्रद्धा, ऐसी भक्ति और ऐसा अनन्य प्रेम है।

सीता—मै उनके योग्य हूँ, सरमा? नही, मै तो अपने को ऐसा नही समझती, वे अवश्य कहा करते है कि मै उत्तम हूँ, सर्वोत्तम हूँ, मेरा हृदय उच्च है, सर्वोच्च है। रही उनके प्रति मेरी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम, सो यह तो अवश्य है। मैने आजतक पिता-तुल्य पुरुषो और बालको के अतिरिक्त समवस्यक किसी अन्य पुरुष का पूर्णरूप से मुख भी नही देखा, सखि। मनसा, वाचा और कर्मणा वे ही मेरे सर्वस्व है। उन्हीको मै अपना धर्म, कर्म, तप, व्रत और ज्ञान मानती हूँ और मै ही क्यो, सरमा, क्या वे मुझपर कम प्रेम करते है? जबतक मै अयोध्या मे रही, या, गत तेरह वर्षो तक वन मे उनके साथ रही, उन्होने मुझे सदा अपने हृदय और नेत्रो पर प्रतिष्ठित रखा। उनके सग के दिन! आह! उनके सग वन मे भी तेरह वर्ष पल के सदृश निकल गये और ये वियोग के एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव क्षण भी एक-एक युग

के समान जा रहे है। ज्ञात नही, मेरे विना वन मे उनकी क्या दशा होगी? सन्तोष इतना ही है कि मेरे देवर उनके सग है। सरमा, प्यारी सरमा, तुम्हे आशा तो है न कि कभी मै आर्यपुत्र के दर्शन करूँगी?

[सरमा के गले से लिपट, सीता फूट-फूटकर रोने लगती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—लकापुरी का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[दूरी पर अनेक खण्डों के पीत रंग के गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौडा है। दो राक्षस-सैनिको का प्रवेश। दोनो मनुष्यो के समान ही हैं, पर वर्ण सॉवला है। शरीर पर लोहे के कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये है, आयुधो से भी सुसज्जित है।]

एक राक्षस—भयकर योद्धा है, वन्धु, भयकर योद्धा! दस दिनो के युद्ध मे ही सारे राक्षस खेत रह गये। महावीर सुबाहु, शूर-शिरोमणि कुभ-कर्ण और वीरता का प्रत्यक्षरूप इन्द्रजीत सभी का सहार हो गया। अव मुट्ठी भर सैनिको के सग स्वय रक्षोराज युद्ध करने निकले है। मुझे तो उनका निधन भी निश्चित दिखता है।

दूसरा राक्षस—इसमे सदेह नही। जव राम और लक्ष्मण के धनुप से बाण चलते है, चाहे वे दूर से चलाये जानेवाले वडे वाण हो अथवा निकट से चलाये जानेवाले एक बीते लवे, तव कव धनुप नवाया गया,

कब ज्या चढायी गयी और कब बाण छूटे, इसका पता ही नही लगता, बाण चढाते हुए उनके हाथ कभी कन्धे से छूटते हुए नही दिखते। इसी प्रकार जब उनकी सेना, अय कणप यन्त्र से लोहे के गोले और चक्राश्म और भुशुण्डी यन्त्रो से पापाण-खण्ड हमारी सेना पर चलाती है तब जान पडता है मानो हमारी सेना पर लोहे के गोलो और पापाण की, आकाश से, वृप्टि हो रही है।

पहला—यह रक्षोराज के पाप ने राक्षस-कुल का नाश कराया है, कदाचित् लका मे एक राक्षस भी न बचेगा।

दूसरा—वानरो और भालुओ का उतना सहार नही हुआ जितना राक्षसो का हुआ है।

पहला—क्यो होवे ? हमारी सेना का हृदय युद्ध मे नही है। क्या हम हृदय से इस युद्ध को चाहते है ? हमारी अन्तरात्मा कहती है कि हमारा पक्ष अन्यायपूर्ण है। मैने तो यहाँ तक सुना है कि कुभकर्ण तक ने हृदय से युद्ध नही किया, वरन् उन्हे राम से उल्टी सहानुभूति थी।

दूसरा—हाँ, बन्धु, जब कोई कार्य इच्छा के विरुद्ध करना पडता है तब यही दशा होती है। तभी तो अन्याय की हार और न्याय की जीत होती है। पर, फिर भी युद्ध करना होगा, न करने पर भी तो मारे जायँगे।

पहला—यही भाव तो ससार मे इतना रक्त-पात करा रहा है। यदि सैनिक मरने का भय छोड, अन्यायपूर्ण युद्ध मे भाग न लेने का निश्चय कर ले तो ससार का रक्त-पात ही बन्द हो जाय। युद्ध मे मरते है, पर सच्चे सिद्धान्त के लिए मरने से डरते है। तभी तो मै तुमसे सदा कहता हूँ कि युद्ध मे सैनिक बहुधा भय से लडते है, वीरता से नही।

[एक राक्षस-सैनिक का प्रवेश। वह भी इन्हीं दोनो के समान है।]

आगन्तुक—अरे, अरे! तुम युद्ध छोडकर यहाँ क्या कर रहे हो? आज का युद्ध तो अभी समाप्त हुआ है।

पहला—हम कोई एक घडी पहले हटे होगे। दिन भर मार-मार, काट-काट के मारे आज तो ऐसे थक गये थे कि क्षण-भर भी और ठहरने का साहस न हुआ।

दूसरा—और हम दो जन वहाँ रहते भी तो घडी भर मे राम-सेना को परास्त कर डालते क्या?

आगन्तुक—पर, बन्धुओ, आज तो बडी भारी सफलता मिली है।

पहला—कौनसी?

आगन्तुक—रक्षोराज ने लक्ष्मण को शक्ति से आहत किया है।

दूसरा—अच्छा, तो वे इस लोक मे नही है?

पहला—(खेद से) मुझे तो इस सवाद से उल्टा दु ख होता है।

आगन्तुक—(आश्चर्य से) शत्रु-पक्ष से इतनी सहानुभूति!

पहला—न्याय से सभी की आन्तरिक सहानुभूति रहती है। अच्छा, इसे जाने दो, यह कहो, लक्ष्मण जीवित है या नही?

आगन्तुक—हाँ, अभी तो जीवित है, परन्तु मूर्च्छित है। जीवित भी बहुत थोडे समय के लिए समझो।

पहला—यह तुम्हे कैसे विदित हुआ?

आगन्तुक—हमारे यहाँ का वैद्य उन्हे देखने गया था, उसीका यह मत था।

दूसरा—हमारा वैद्य उन्हे देखने कैसे गया!

आगन्तुक—उनके बुलाने से।

पहला—तुम्ही देख लो, सभीकी उनके साथ कितनी सहानुभूति है।

पहला—अच्छा, वैद्य ने क्या कहा, यह थोडा विस्तार से कहो।

आगन्तुक—उसने कहा, सजीविनी वूटी के अतिरिक्त लक्ष्मण को और कोई वस्तु जीवित नही रख सकती और यदि प्रात काल तक वह न आयी तो उनका मरण निश्चित है। पर, वह वूटी वहुत दूर है और प्रात काल तक उसका आना असम्भव है।

पहला—मुझे निश्चय है कि वह प्रात काल के पूर्व आ जायगी।

आगन्तुक—यह कैसे ?

पहला—उनके अद्भुत-अद्भुत साथी है। स्मरण नही है, समुद्र के उथले स्थल का पता लगा समुद्र पार कर हनुमान कैसे आ गया था। कैसे एक हनुमान ने सारी लका को जला डाला। नौकाओ द्वारा आने मे नौकाएँ वनानी पडती और नौकाओ के वनने मे विलव लगता, अत नल-नील ने उसी उथले स्थल पर कैसे समुद्र का सेतु वाँध दिया कि विना नौकाओ की सहायता के ही सारी वानर-भालु-सेना इस पार आ गयी। अगद जव दूत वनकर हमारी राज-सभा मे आया था और उसने चुनौती दी थी कि मै उसे पराक्रमी समझूँगा जो मेरा पैर हटा देगा, तव इतनी वडी सभा मे एक भी ऐसा वीर न निकला जो उसका पैर सूत वरावर भी हटा सकता। फिर हमारे प्रत्येक महारथी का कैसी शीघ्रता से नाश हुआ। निर्वल वानर और भालु भी पराक्रमी राक्षसो को मार रहे है!

दूसरा—और, वन्धु, सवसे वडी वात तो यह है कि न्याय-पक्ष उनका है, न्याय-पक्ष के भगवान् सहायक होते है।

पहला---अच्छा, चलो अभी तो लक्ष्मण का और कुछ पता लगावे।

[तीनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान---लका के बाहर राम की सेना का पडाव

समय---अर्द्ध रात्रि

[दूरी पर लंका नगर दिखायी देता है। किन्तु दूर होने के कारण अन्धकार में वह बहुत धुंधला दिखता है। राम की सेना मैदान में, वृक्षो के नीचे डेरा डाले हुए है। राम की गोद में मूर्च्छित लक्ष्मण पड़े हुए है। चारो ओर वानर और भालु बैठे है। भालुओ के शरीर भी मनुष्यो के समान ही है, पर मुख वानरो से मिलते है। नाक कुछ अधिक लम्बी है और वर्ण साँवला है। दो राक्षस भी है। एक के सिर पर किरीट है जिससे मालूम होता है कि वह विभीषण है। दूसरे के सम्मुख शीशियाँ, खलबट्टा आदि रखे है जिससे वह वैद्य जान पडता है। वानरो में एक वानर के सिर पर और भालुओ में एक भालु के सिर पर किरीट है, अतः ये सुग्रीव और जामवन्त जान पडते है।]

राम---(दुःखित स्वर से किरीटवाले राक्षस से) आधी रात्रि बीत चुकी, लकेश, आधी ही और शेष है। अर्द्ध रात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी; पर वे अब तक नही लौटे। क्या मन्दभागी राम के भा॰ मे अभी और कुछ बदा है ?

राक्षस---आप दु खित न हो, महाराज, हनुमान प्रात काल के पूर्व अवश्य आ जायँगे।

राम—(किरीटवाले वानर से) क्यो, वानरेश, आपको पूरा भरोसा है कि हनुमान प्रभात के पूर्व आ जायँगे ?

वानर—हनुमान के कार्यो को आप स्वय देख चुके है। श्रीमान्, मुझे तो यही आश्चर्य है कि वे अब तक क्यो नही लौटे, उनके प्रभात के पूर्व लौटने मे तो मुझे तनिक भी सन्देह नही है।

राम—(और भी विकल होकर) और यदि वे न आये तो ? हे लकेश, और हे वानरेश, फिर मै अयोध्या को न लौटूँगा। इतने राक्षसो का सहार हो चुका, फिर बचे हुओ का सहार कर, लका को जीत और वैदेही का उद्धार कर ही मै क्या करूँगा ? बिना लक्ष्मण के मेरा जीवन पलमात्र के लिए सम्भव नही है। मेरे बिना मैथिली का जीवन असम्भव है। यदि ठीक समय पर हम लोग अयोध्या न पहुँचे तो भरत कदापि प्राण न रखेगे। भरत-बिना शत्रुघ्न क्यो जीवित रहेगे। जब हम चारो भाई ही न रहेगे तो हमारी माताएँ और बधुएँ क्यो प्राण रखेगी। अवध की प्रजा का वृत्तान्त मै आपको सुना ही चुका हूँ। लक्ष्मण के बिना अवध का सारा साम्राज्य श्मशान-तुल्य हो जायगा। आप लोगो का यह समस्त सद्उद्योग क्या इस प्रकार निष्फल हो जायगा, बन्धुओ ?

राक्षस—नही, महाराज, यह असम्भव है। धर्म, न्याय और सत्य का कभी यह फल नही हो सकता।

वानर—कर्तव्य-परायणता का यह निष्कर्ष सम्भव नही।

राम—(लक्ष्मण को देख) लक्ष्मण, प्यारे लक्ष्मण, सुमित्रा के एकमात्र प्राणाधार, उर्मिला की जीवन-नौका के खेवट, वैदेही के परम प्रिय देवर, राम के सर्वस्व, उठो, वत्स, उठो। (आँखो में आँसू भरकर) तुम तो सदा मेरी आज्ञा मानते थे। मेरी आँख के सकेत पर सब कुछ करने के लिए कटिबद्ध रहते थे। क्या आज मुझे भी भूल गये, प्यारे भ्राता ? तुमने तो

मेरे सन्मुख कभी पिता की अपेक्षा नही की, माता की ममता न रखी, पत्नी का वियोग इस अवस्था मे सहा, आहार, निद्रा, किसीकी ओर लक्ष न रख वन-वन और अरण्य-अरण्य मेरे पीछे घूमे, मेरे पीछे भटके। मेरी यह उपेक्षा क्यो, वन्धु ? मै अवध न भी गया और मैने प्राण भी दे दिये तो पूज्यपाद सुमित्रा मुझे क्या कहेगी ? जिसे मै सदा सौभाग्यवती देखकर प्रसन्न रहने की अभिलाषा रखता था, उस उर्मिला वधू का क्या होगा ? लक्ष्मण ! हा, लक्ष्मण ! प्रिय वत्स लक्ष्मण ! सर्वस्व लक्ष्मण ! उठो वन्धु, जागो, भ्राता ! (आँसू बहते है।)

राक्षस—महाराज, धैर्य, थोडा धैर्य धरिए। हनुमान आते ही होगे।

वानर—हनुमान का आना निश्चित है, महाराज।

राम—(अत्यन्त कातर हो) कैसे धैर्य धरूँ, लकेश और वानरेश ? समय वीतता जा रहा है, पल पर पल, त्रुटि पर त्रुटि, कला पर कला, काष्ठा पर काष्ठा और घटिका पर घटिका व्यतीत हो रही है। पहले अर्द्धरात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी, पर अब रात्रि आधी से कही अधिक बीत चुकी। हा ! लक्ष्मण को पिता ने वनवास नही दिया था, मुझे दिया था। ये और वैदेही तो मेरे कारण वन आये। वन्धुओ, मै जीता-जागता बैठा हूँ, वैदेही रावण के वन्धन मे पडी है और भ्राता मृत्यु-मुख मे। जो कुछ अब तक हुआ है उससे तो भविष्य अधिक अन्धकारमय ही दिखता है। मेरा भाग्य मुझे ही दु ख नही दे रहा है, पर जिन-जिनसे मेरा सम्वन्ध होता है सभी क्लेश पाते है। पिता की मृत्यु और माताओ तथा भ्राताओ एव सारी प्रजा के कष्ट का मै ही कारण हूँ। ये दो आत्मीय सग आये थे, इनकी यह दशा हुई। पुण्यात्मा जटायु ने वैदेही की रक्षा के लिए मेरे कारण रावण से युद्ध किया तो उनके भी प्राण गये। फिर कैसे शुभाशा करूँ, वन्धुओ ? कैसे मन को ढाढस मिले ?

[नेपथ्य में कोलाहल होता है और ये शब्द होते हैं--"आ गये हनुमान, आ गये", "पवनकुमार पधार आये", "अंजनासुत की जय", "राजा रामचन्द्र की जय", "वीरवर लक्ष्मण की जय।" एक वानर का एक पर्वत-शिखर के सग प्रवेश। वह वैद्य के सम्मुख पर्वत-शिखर रखता है। राम लक्ष्मण का सिर धीरे से नीचे रखकर, दौड़कर आगन्तुक वानर को हृदय से लगा लेते हैं। राम के नेत्रो से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगती है। पर्वत-शिखर की जमी हुई घास को निकाल वैद्य खल में कूट उसका रस लक्ष्मण के मुख में डालते है। सब लोग एकटक आतुरता से लक्ष्मण की ओर देखते हैं। रस मुख में जाने के कुछ देर पश्चात् लक्ष्मण, "हे तात, हे तात, रक्षोराज क्या अभी भी जीवित है", कहते हुए नेत्र खोल, उठ बैठते है। राम आँसू वहाते और काँपते हुए हाथो से लक्ष्मण को हृदय से लगाते हैं। पुन. जय-जयकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—एक वन मार्ग

समय—तीसरा पहर

[एक वानर और एक भालु का प्रवेश।]

वानर—अन्त में रक्षोराज का भी वध हुआ। देखा, अधर्म का क्या ल निकला ?

भालु—हाँ, वन्धु, सच है, अधर्म सदा वश भर को डुबोकर रहता है।

वानर—विभीषण के कुटुम्व को छोड, तथा बालक, वृद्ध और स्त्रियो

के अतिरिक्त कोई भी लका मे न दचा। पाप करनेवाले ही दण्ड नही पाते, पर पाप के पोषक भी पापी के सग ही पिस जाते है। पाप-रूपी दव के लिए द्रव्य और वल वन से अधिक नही है, पर हाँ, तुमने एक वात देखी ?

भालु—क्या ?

वानर—इतने उद्योग से जिन सीता देवी का रघुनाथजी ने उद्धार किया, जव उनके समीप लाने की चर्चा हुई तव हर्ष के स्थान पर उल्टा शोक उनके मुख पर झलक रहा था।

भालु—मैने तो ध्यान नही दिया, पर कारण ?

वानर—तुम्हीने क्या किसीने भी कदाचित् उनकी मुद्रा की ओर ध्यान न दिया होगा। ऐसे असीम हर्ष के समय कौन किसीकी मुद्रा देखता है। कदाचित् मेरा भी भ्रम ही हो, पर नही वे उदास अवश्य थे। उदासी का कोई कारण भी समझ मे नही आता। देखो, अभी वैदेही के आगमन के समय कदाचित् कोई गूढ रहस्य खुले।

[नेपथ्य में "जय, जानकी की जय", "वैदेही की जय", "मैथिली की जय" शब्द होते है।]

वानर—लो, ज्ञात होता है वे शिविर मे आ गयी। चलो, देखें, वियोग के पश्चात् पति-पत्नी किस प्रकार मिलते है।

भालु—हाँ, हाँ, शीघ्र चलो।

[दोनो का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राम की सेना का पडाव

समय—तीसरा पहर

[वानर और भालुओ के बीच में राम और लक्ष्मण बैठे है। राम अत्यन्त उदास मालूम होते है। बाकी सब प्रसन्न है। जय-घोष के बीच सीता और सरमा का प्रवेश।]

सीता—(आँसू बहाती हुई शीघ्रता से राम की ओर बढ) आर्य-पुत्र, आर्य-पुत्र! (राम के चरण पकडने के लिए हाथ बढाती है, उदास राम खडे होकर पीछे हट जाते है। लक्ष्मण भी खड़े हो जाते है।)

राम—ठहरो मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नही हो।

[सीता स्तम्भित हो जाती है, लक्ष्मण आश्चर्य से एकटक राम की ओर देखने लगते है। सारा जन-समाज चौंक पड़ता है। निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे-धीरे बोलते है।]

राम—बन्धुओ, जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मै यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवश के निर्मल आकाश मे मै धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगो की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवश की प्रतिष्ठा रह गयी, पर, पर-गृह मे रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणो से प्रिय क्यो न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नही है; यह धर्म की मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मै बाल्यावस्था से ही कभी नही गया हूँ और जिसके लिए मै चौदह वर्ष को वन आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लघन मेरे लिए असम्भव है। (सीता से) मैथिली, मै जानता हूँ। इसमे तुम्हारा दोष नही है। मै यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे इस सदा के वियोग

के कारण यदि मेरे प्राण तत्काल न गये और यदि मै भविष्य के अपने कर्तव्यो को करने के लिए इस शरीर को जीवित रख सका तो भी तुम्हारे वियोग का दुःख सदा मुझे पीडित करता रहेगा। उन दिनो, उन घटिकाओ, उन पलो की स्मृति, जो मैने तुम्हारे सग अयोध्या मे और वन मे व्यतीत किये है, सदा मुझे व्यथित करती रहेगी। तुम यह न सोचना कि मै पुन विवाह कर, चाहे वह सुख के लिए हो या सन्तान के, अथवा यज्ञ के लिए तुम्हारे स्थान की पूर्ति कर लूँगा। नही, वैदेही, नही, राम से यह कभी न होगा। गृहस्थ-सुख से वचित राम चाहे दुःख पावे, सतति-रहित राम पितृ-ऋण न चुका सकने के कारण चाहे पुन जन्म लेवे, तुम्हारे बिना यज्ञ न कर सकने के कारण राम चाहे नरक मे पडे, पर अन्य स्त्री का राम के हृदय पर प्रतिष्ठित होना असम्भव है, साथ ही धर्म और नीति की मर्यादा की रक्षा के हेतु तुम्हारे और मेरे इस शरीर के रहते हमारी भेट भी अव सम्भव नही। (जल्दी-जल्दी) तुम स्वतन्त्र हो, मैथिली, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ जा सकती हो और जो तुम्हारी इच्छा हो वह कर सकती हो।

[राम के भाषण से लक्ष्मण-सहित सारा जन-समुदाय अपना मस्तक झुका लेता है, किसीके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। निम्न-मुख सीता के नेत्रो से बहते हुए अश्रु उनके वक्षस्थल के वस्त्र को भिगो देते है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। उसके पश्चात् रुँधे हुए कण्ठ से सीता धीरे-धीरे बोलती है।]

सीता—नाथ, धर्म की मर्यादा और नीति की रक्षा के लिए आपने जो कुछ कहा वह उचित ही होगा, पर मेरे लिए तो मेरा धर्म, मेरी नीति **(राम के चरणो की ओर सकेत कर)** ये चरण ही है। राक्षस के गृह मे इतने काल तक रहने मे मेरा कोई दोष नही है यह आप स्वीकार ही करते है। मै आपको इतना विश्वास दिला सकती हूँ कि मै शुद्ध, नितान्त शुद्ध

हूँ। आर्यपुत्र, यदि यह शरीर शुद्ध न होता तो आपके चरणो के समीप आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता, इसका इस भूमि पर रहना ही सम्भव न था। आप कहते है, मै स्वतन्त्र हूँ और जहाँ चाहे वहाँ जा सकती हूँ, परन्तु, नाथ, इन चरणो के अतिरिक्त ससार मे मेरे लिए स्थान ही कहाँ है ? पर नही, मै आपके धर्म, आपकी नीति और आपके कर्तव्य-मार्ग का कण्टक न बनूंगी। मै आपको अपने ग्रहण करने के लिए वाध्य नही करना चाहती। उन राजर्पि विदेह की कन्या, जिन्हे शरीर रहते हुए भी शरीर का कोई मोह न होने के कारण विदेह की पदवी मिली है, उन महाराज दशरथ की वधू, जिन्होने अपने वचन को सत्य करने के लिए अपने शरीर को भी छोड दिया और उनकी पत्नी जो धर्म, नीति और कर्तव्य के मूर्तिमन्त स्वरूप है, अपने स्वार्थ-हेतु, प्रेम अथवा किसी भी साधन द्वारा अपने पति को किसी बात के लिए भी विवश करने का प्रयत्न तक न करेगी। परन्तु, आर्यपुत्र, आपने मुझे जो दूसरी स्वतन्त्रता दी है, अर्थात् मै जो चाहूँ सो कर सकती हूँ, उसका मै आज उपयोग करूँगी। ससार मे मेरे लिए अन्य कोई स्थान न रहने के कारण या तो मै इन चरणो के सम्मुख अग्नि मे भस्म हो जाऊँगी या यदि सतीत्व का प्रताप अग्नि से भी रक्षा कर सकता है तो उस अग्नि की लपटो मे से भी जीती-जागती निकल, आपके चरण स्पर्श करने के लिए आपको विवश करूँगी।'

राम—(**प्रसन्न हो गद्गद कण्ठ से**) वैदेही, तुम राजर्षि विदेह की सच्ची पुत्री हो, तुम महाराज दशरथ की सच्ची वधू हो, नही तो ऐसे वाक्य किस नारी के मुख से निकल सकते है ? ऐसा साहस कौन नारी कर सकती है ? मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हे भस्म न कर सकी तो मै तुम्हे अवश्य ग्रहण कर लूँगा। ससार मे अपने सत्य की आज तक ऐसी परीक्षा किसीने नही दी।

सीता—(जल्दी-जल्दी) नाथ, अब आप तत्काल काष्ठ की चिता

बनवाइए, मुझे इस समय का एक-एक पल युग से भी अधिक हो रहा है।

राम--(लक्ष्मण से) लक्ष्मण, बिना विलम्ब इसका प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण--(दीर्घ निश्वास छोड़कर) जो आज्ञा।

[लक्ष्मण, कुछ वानर और भालुओ के संग जाते है, काष्ठ आता है, चिता तैयार होती है। उपस्थित जन-समुदाय मस्तक नीचा कर एकटक चिता की ओर देखता है। अनेक के नेत्रो से अश्रु बहते है।]

राम--अच्छा लक्ष्मण, इसमे अग्नि लगाओ।

लक्ष्मण--(दीर्घ निश्वास छोडकर) यह भी मै ही करूँ, तात?

राम--क्यो, तुम्हे खेद होता है?

लक्ष्मण--आपकी कोई भी आज्ञा मानने मे मुझे खेद नही हुआ, पर . ।

राम--अच्छा, मै ही करता हूँ। (राम आगे बढते है।)

लक्ष्मण--(जल्दी से) नही, नही, तात, मै ही करूँगा, मै ही करूँगा। आपकी कोई भी आज्ञा लक्ष्मण कैसे उल्लघन कर सकता है।

[लक्ष्मण चिता में अग्नि लगाते हैं। कुछ देर में ज्वालाएँ निकलती है।]

सीता--(चिता की ओर देख, राम के निकट बढ़कर) जाती हूँ, आर्यपुत्र, इस चिता की भीषण अग्नि को आलिगन करने सहर्ष जाती हूँ। यदि सतीत्व के प्रताप ने इस अग्नि से रक्षा की तो इसी शरीर से आपको पुन प्राप्त करूँगी अन्यथा जहाँ इस शरीर को छोडकर जाऊँगी वहाँ।

[सीता चिता की ओर बढती है। राम का मस्तक अत्यधिक झुक जाता है। जन-समूह मस्तक उठा एकटक सीता और चिता को देखता है।]

सरमा--(एकाएक आगे बढकर चिता और सीता के बीच में आ) ठहरो, वैदेही, ठहरो। मै भी तुम्हारे सग चितारोहण करूँगी।

[सीता आश्चर्य से स्तभित हो रुक जाती है। जन-समुदाय की दृष्टि एकाएक सरमा की ओर घूम जाती है, जिसमें अत्यधिक आश्चर्य दृष्टि-गोचर होता है। राम सिर उठाकर तथा विभीषण आश्चर्य से सरमा की ओर देखते है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। सरमा सीता की भुजा पकड चिता की ओर बढती है।]

राम--(शीघ्रता से) ठहरिए, सरमा देवी, ठहरिए। आप यह क्या अनर्थ कर रही है और क्यो?

सरमा--(रुककर) एक महान् अनर्थ को रोकने के लिए, देव।

सीता--(जल्दी से) मेरी रक्षा के लिए? जिसमे तुम्हारे कारण मैं चितारोहण न करूँ?

सरमा--नही, मैथिली, परन्तु इसलिए कि जगत् मे एक मिथ्या बात सत्य सिद्ध न हो पावे।

सीता--मै तुम्हारा अभिप्राय ही नही समझी।

सरमा--देखो, वैदेही, तुम अपने सतीत्व का इस प्रकार प्रमाण देने जा रही हो जिससे उल्टा यह सिद्ध होगा कि तुम सती न थी। तुम्हारे समान सती का, ऐसी सती का, जिससे बडी सती मेरे मतानुसार आज पर्यन्त इस ससार मे कभी नही हुई, असती सिद्ध होना जगत् मे एक महान् मिथ्या बात का सत्य सिद्ध होना होगा।

सीता—अभी भी मै तुम्हारे कथन का अर्थ नही समझ सकी ।

सरमा—तुम समझती हो कि इरा अग्नि से अपने सतीत्व के प्रताप के कारण तुम जीती हुई निकल आओगी ?

सीता—मै नही जानती कि क्या होगा ।

सरमा—परन्तु मै जानती हूँ । तुम्हारा भस्म होना निश्चित है। सतीत्व का प्रताप आधिभौतिक शरीर को अग्नि से बचा सकने मे असमर्थ है । अग्नि का धर्म दग्ध करना है । वह पवित्र और अपवित्र दोनो को समान रूप से दग्ध करेगी । तुम्हारा शरीर नष्ट होते ही ससार कहेगा तुम अपनी परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हो गयी अत तुम सती न थी । मै किसी पर-पुरुष के गृह मे नही रही हूँ । मै तुम्हारे सग चितारोहण कर ससार को इस बात का प्रमाण देना चाहती हूँ कि अग्नि का धर्म ही जलाना है, अत उसने सीता सती के सग ही सती सरमा के शरीर को भी जला दिया । सीता इसलिए भस्म हो गयी कि अग्नि का धर्म भस्म करना है न कि इसलिए कि वे असती थी ।

[जन-समुदाय मे 'धन्य है, धन्य है' शब्द होता है ।]

सीता—परन्तु परन्तु मेरे लिए तुम ।

सरमा—तुम्हारे लिए नही, मैथिली, किन्तु ससार मे एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने के ।

[सरमा सीता की भुजा पकडे हुए पुनः चिता की ओर बढ़ती है । जन-समुदाय में हाहाकार होता है ।]

लक्ष्मण—(आगे बढ़कर सीता और सरमा से) ठहरिए, माता, और ठहरिए, सरमा देवी । मुझे तात से एक बात पूँछ लेने दीजिए।

(दोनो रुक जाती है। राम से—) तात, इन दोनो सतियो को इस प्रकार भस्म होने देना ही क्या आप इस समय का धर्म और कर्तव्य मानते है? सरमा देवी के इस कथन मे क्या आप सत्यता नही मानते कि अग्नि का धर्म ही जलाना है? वह पवित्र और अपवित्र दोनो को ही जलाती है?

राम—(कॉपते हुए स्वर में) परन्तु, लक्ष्मण, राक्षस के गृह में रही हुई सीता को ग्रहण करना धर्म और कर्तव्य की दृष्टि से कहाँ तक उचित है यह प्रश्न भी तो मेरे सम्मुख है।

लक्ष्मण—सीता देवी अपनी पवित्रता का इससे वडा क्या प्रमाण दे सकती थी, आर्य, कि वे अग्नि को भी आलिगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गयी। अव एक ओर इन दोनो सती-साध्वियो के शरीर की रक्षा और इनकी शरीर रक्षा ही नही, परन्तु उससे भी कही वडी वस्तु एक मिथ्या वात को सत्य सिद्ध होने से रोकने का प्रश्न है और दूसरी ओर आपका सीता देवी के ग्रहण करने का प्रश्न। तात, क्या अग्नि को इस प्रकार आलिगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना ही उनकी अग्नि-परीक्षा नही है? क्या आज पर्यन्त अपने सतीत्व की ऐसी परीक्षा किसीने दी है?

[राम पुन: मस्तक झुका लेते है। जन-समुदाय उत्कठित हो एकटक राम की ओर देखता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

लक्ष्मण—(राम को उत्तर न देते देखकर जन-समुदाय की ओर लक्ष्य कर) क्या आप लोग सीता देवी की इस परीक्षा को ही अग्नि-परीक्षा नही मानते? क्या उनकी शुद्धता मे किसीको सन्देह है?

जन-समुदाय—(एक स्वर से) किसीको नही, किसीको नही। वैदेही नितान्त शुद्ध है। मैथिली परम पवित्र है। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है।

[राम मस्तक उठाकर आँसू-भरी हुई दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं।]

यवनिका–पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान--अयोध्या का एक मार्ग

समय--सन्ध्या

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। एक ओर से चार पुरवासियो का प्रवेश ।]

एक--समय निकलते कुछ भी विलम्ब नही लगता।

दूसरा--हाँ, देखो न, दुःख के चौदह वर्ष भी किसी न किसी प्रकार बीत ही गये।

तीसरा--पर, जिस प्रकार गत आठ मास बीते है उस प्रकार चौदह वर्ष न बीते थे।

चौथा--राम-राज्य सचमुच जैसी कल्पना की थी वैसा ही हुआ। आज राम को सिंहासनासीन हुए लगभग आठ मास ही हुए, परन्तु इन

आठ मासो मे ही अवध का कैसा कायाकल्प हो गया है। राम राजाओ के चारो व्यसनो मद्यपान, द्यूत, स्त्री-सभोग और मृगया से मुक्त है। उनका एकमात्र व्यसन प्रजा-सेवा है। इसीलिए प्रजा को स्वर्गीय सुख है।

तीसरा—इस सूर्यवश मे भी कैसे-कैसे महान् जन हुए। ये चार भाई हुए तो चारो ही अपूर्व। राम की कर्तव्यशीलता अद्वितीय, लक्ष्मण की आज्ञा-परायणता अद्‌भुत, भरत का त्याग असीम और शत्रुघ्न का विलक्षण कार्य तो गत चौदह वर्षो मे देख ही लिया है।

पहला—पर, तुमने एक बात सुनी ?

तीसरा—क्या ?

पहला—जानकी को गर्भ है।

तीसरा—हाँ, यह तो सुना है और सुनकर बडा आनन्द भी हुआ।

पहला—पूरे दिन होना चाहते है।

चौथा—सो भी होगा, फिर ?

पहला—फिर क्या ? राम को राक्षस के घर रही हुई पत्नी को ग्रहण करना क्या उचित था ?

दूसरा—पर, उन्होने सीता देवी की परीक्षा के पश्चात् उन्हे ग्रहण किया है।

तीसरा—और वह भी मैथिली ने ऐसी परीक्षा दी जैसी ससार में आज तक किसीने न दी थी। सुना नही, वे अग्नि मे प्रवेश कर ज्यो की त्यो बाहर निकल आयी थी।

पहला—यह तो राम तक नही कहते, परन्तु हॉ, यह अवश्य सुना

कि उन्होंने अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए अग्नि मे प्रवेश करने का प्रस्ताव किया था।

तीसरा—नही, नही, उन्होने अग्नि में प्रवेश किया और उनकी पवित्रता के कारण अग्नि भी उन्हे नही जला सकी।

पहला—व्यर्थ की बाते न करो। जो बात राम स्वय नही कहते वे उनके भक्त फैला रहे है। स्त्रियाँ पति के साथ अग्नि में सती हो सकती है, पर आज तक स्त्री ही क्या कोई भी प्राणी चिता से जीवित निकला है? बिना जले जैसा का तैसा? यह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। मने तो ऐसी बात देखना दूर रहा, न कभी सुनी और न कही पढी है।

चौथा—इससे क्या, आज तक कोई सीता देवी के सदृश सती उत्पन्न ही न हुई होगी।

पहला—वाह! वाह! यह तुमने अच्छा कहा। पातिव्रत का ठेका कुछ सीता ही ने ले लिया है? हम लोगो की स्त्रियाँ भी पतिव्रता है, वे भी सती है।

तीसरा—तो इस बात को दूसरी प्रकार से देखो, किसी सती को अब तक अपने सत् की परीक्षा देने का ऐसा अवसर नही मिला।

पहला—इस प्रकार और उस प्रकार क्यो देखूँ? हर वस्तु को घुमा-फिरा कर देखने की अपेक्षा सीधी दृष्टि से देखना ही उत्तम होता है। मै तो यह भी नही मानता कि वैदेही ने अपनी शुद्धता की परीक्षा देने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का भी प्रस्ताव किया होगा।

तीसरा—तब यह अग्नि-परीक्षा की चर्चा ही कैसे हुई?

पहला—स्पष्ट ही सुनना चाहते हो?

चौथा—हाँ, हाँ, कहो न?

पहला—राम सीता देवी पर अत्यधिक प्रेम करते है और प्रजा मे अपवाद भी नही चाहते इसलिए।

तीसरा—अर्थात् राम ने ही यह झूठ बात फैलवायी है।

चौथा—कदापि नही, राम ऐसी मिथ्या बात कभी नही फैला सकते।

पहला—यह अपने-अपने विश्वास की बात है।

दूसरा—(सिर हिलाते हुए) जो कुछ भी हो, पर अच्छा ही होता, यदि महाराज सीता देवी को ग्रहण न करते।

पहला—सच कहा, यह उनके निष्कलक चरित्र मे सदा कलक रहेगा। सूर्यवश मे ऐसा कोई नही हुआ, जिसने पर-घर मे रही हुई स्त्री को ग्रहण किया हो।

तीसरा—यदि यह उनका दोष भी मान लिया जाय तो दोष किसमें नही होते?

चौथा—हॉ, गुणी सदा गुण की ओर ही लक्ष रखते है।

पहला—पर, सर्व-साधारण की दृष्टि सदा दोषो की ओर ही जाती है। यह अपवाद राज्य मे बहुत फैलता जा रहा है। जब से लोगो को ज्ञात हुआ है कि जानकी गर्भवती है तब से तो बहुत अधिक चर्चा हो रही है। लोग कहते है कि क्या अब राक्षस-पुत्र अवध के राजा होगे।

चौथा—इस पचायत ही पचायत मे वह धर्म-सभा हो जायगी और हम यही खडे रह जायँगे।

तीसरा—हॉ, हाँ, चलो। इस प्रकार की चर्चाएँ तो नित्य की चक्की है, चला ही करती है।

[चारो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष वही है जो पहले अंक के पहले दृश्य में था। राम चौकी पर बैठे और लक्ष्मण खड़े हैं। दोनो के राजसी भेष है।]

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये, दु.खित स्वर में) तो महाराज, यह आपका अन्तिम निर्णय है?

राम—(दु:खित स्वर में जल्दी-जल्दी) हाँ, लक्ष्मण, अन्तिम, सर्वथा अन्तिम। राजा का कर्तव्य प्रजा-पालन ही न होकर प्रजा-रजन भी है। जिस राजा के लिए प्रजा मे इस प्रकार का अपवाद हो वह राजा कभी न तो राज्य के योग्य है और न राज्य कर ही सकता है।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, महारानी निर्दोष, सर्वथा निर्दोप है, शुद्ध, नितान्त शुद्ध है।

राम—परन्तु, यह अपवाद उन्हे शुद्ध कह देने मात्र से शान्त नही होगा। वत्स, इसके लिए मुझे और वैदेही दोनो को ही तपस्या करनी होगी।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, वे अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए अग्नि को आलिंगन करने के लिए भी प्रस्तुत थी।

राम—अग्नि को आलिंगन किया तो नही न?

लक्ष्मण—जिस प्रकार वे प्रस्तुत हुई थी उस प्रकार प्रस्तुत होना ही क्या उनकी शुद्धता का पूर्ण प्रमाण नही है?

राम—प्रजा तो उनका उस प्रकार प्रस्तुत होना भी नही मानती।

लक्ष्मण—प्रजा यदि कोई बात नही मानती तो प्रजा के अनुचित हठ के कारण महारानी को त्यागकर उनपर अत्याचार करना भी तो अधर्म है।

राम—हो सकता है, पर मै स्वय अपने सुख के लिए यह अधर्म नही कर रहा हूँ। मुझे क्या मैथिली के त्याग से कम दुख होगा? मेरा मन क्या रात्रि और दिवस उसके ऊपर किये गये अत्याचार और उसके वियोग से नही कुढेगा, हृदय नही फटेगा, विदीर्ण न होता रहेगा? लगभग एक वर्ष तक जब उसका और मेरा वियोग रहा, तब तुमने मेरी स्थिति नहीं देखी थी? यह वियोग तो, सम्भव है, चिरवियोग हो जावे। सम्भव है वैदेही अपने प्राण ही त्याग दे या इसे न सह सकने के कारण, सम्भव है, मेरा यह शरीर ही न रहे। पर, इससे क्या? इससे क्या, वत्स? राजा के कर्तव्य का पालन तो करना ही होगा। जब राजपद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है तब एक वैदेही के प्रति अत्याचार करने के भय से अथवा एक वैदेही के प्रति अधर्म हो जाने के डर से, चाहे वह मुझे कितनी ही प्रिय क्यों न हो, सारी प्रजा को असन्तुष्ट तो नही किया जा सकता, छोटे पाप के लिए एक बडा पाप तो नही हो सकता।

लक्ष्मण—(**आँसू भरकर**) महाराज, महारानी गर्भवती है, पूरे दिन है।

राम—(**खड़े होकर भर्राये हुए स्वर से**) अब और कुछ न कहो वत्स, और कुछ न कहो। पिता की मृत्यु का कारण राम है और सन्तान की मृत्यु का कारण होना भी कदाचित् राम के भाग्य मे लिखा है। राम का जन्म रूखा-सूखा कर्तव्य पालन करने और दुख पाने के लिए ही हुआ है, सुख के लिए नही। तुम तो मेरी आज्ञा बिना प्रश्न किये ही मानते रहे

हो, जाओ, इसका भी पालन करो, लक्ष्मण, इसका भी। तपोवन दर्शन की उसने इच्छा प्रकट की थी, अत वाल्मीकि के आश्रम के निकट, अत्यन्त निकट उसे छोडना। वही उसे मेरा सन्देश देना, यहाँ नही, लक्ष्मण। देखो, स्पष्ट कहना कि राम तुम्हे शुद्ध, नितान्त शुद्ध समझता है। पर, जनसाधारण के सन्तोष के लिए यह आवश्यक है कि वह और मै दोनो ही तपस्या करें।

लक्ष्मण—(कातर दृष्टि से राम की ओर देखते हुए) महाराज . महाराज ।

राम—(सिर नीचा कर इधर-उधर टहलते हुए) वस, वत्स, बस, अव एक शव्द नही, इस विवाद से मुझे दु ख, घोर दु ख होता है; मेरा हृदय फटता है। जाओ, जाओ, शीघ्रातिशीघ्र जाओ। जो मैने कहा वही करो, मुझसे अव इस सम्वन्ध में एक शव्द न कहो।

[लक्ष्मण की आँखो से आँसू बहने लगते है। वे मस्तक नीचा किये धीरे-धीरे चले जाते है। लक्ष्मण के जाने के पश्चात् राम—"हाय रे हतभाग्य राम" यह कहते हुए बैठकर अपना सिर हाथो पर रख, बालको के समान फूट-फूटकर रो पड़ते है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—प्रात काल

[मार्ग वही है जो पहले अक के दूसरे दृश्य में था। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—सुना, बन्धु, प्रजा मे अपवाद के कारण प्रजा के सतोष के लिए महाराज ने सती महारानी का भी त्याग कर दिया।

दूसरा—हाँ, और उस समय, जब ये गर्भवती है।

पहला—फिर उनपर महाराज का अत्यधिक प्रेम था।

दूसरा—कौन करेगा, बन्धु, कौन राजा अपने कर्तव्य का इस प्रकार पालन करेगा ?

[एक ओर से वसिष्ठ और दूसरी ओर से हाथ में एक बालक का शव लिए एक ब्राह्मण का प्रवेश।]

ब्राह्मण—**(वसिष्ठ से)** दुहाई है, भगवन्, दुहाई है। आप ही के पास जा रहा था, आप ही के। इस दुखी ब्राह्मण का कष्ट निवारण कीजिए। यह देखिए, यह मेरा पुत्र मर गया है। इकलौता पुत्र था, प्रभो, इकलौता। जब से राम का राज्य हुआ तब से तो किसी पिता के सम्मुख कोई पुत्र नही मरा। मैंने बहुत विचार कर देखा, मैंने कोई पाप नही किया, जिससे यह मर जाता। इसकी माता ने भी विचारा, उसने भी कोई पाप नही किया, फिर यह किस पाप से मर गया, देव ? राजा के पाप से, अथवा कुल-गुरु के पाप से ? या तो आप मुझे सन्तुष्ट कीजिए, या मै भी इस बालक के सग ही अपने प्राण दे दूँगा, इसकी माँ भी मर जायगी और एक ब्राह्मण का कुल नष्ट हो जायगा। **(रोता है।)**

वसिष्ठ—इतने दुखित और आतुर न हो, ब्राह्मण, इसपर विचार होगा। राम-राज्य मे यह अनर्थ सचमुच आश्चर्य-जनक है। चलो, मैं तुम्हारे साथ पहले आश्रम को चलता हूँ। वहाँ योगबल से इसका कारण खोजूँगा। यदि राजा से इसका सम्बन्ध होगा तो तत्काल राज-भवन को चलूँगा।

[दोनो का प्रस्थान।]

पहला पुरवासी—चलो, वन्धु, हम लोग भी चलकर देखे, इसमे क्या रहस्य निकलता है ?

दूसरा—अवश्य।

[दोनो का वसिष्ठ और ब्राह्मण के पीछे-पीछे प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान में पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है और दोनो ओर दो स्तभ तथा स्तंभो के नीचे कुंभी और ऊपर भरणी। राम और लक्ष्मण टहलते हुए बातें कर रहे है।]

राम—जब तुमने उसे मेरा सन्देश सुनाया, उसी समय वह आश्रम को चली गयी ?

लक्ष्मण—नही, महाराज, मेरे सामने वे नही गयी, जब तक मै खडा रहा, वे खडी रही। मैने जब गगा पार की और उस पार से देखा तब भी वे खडी हुई मेरी नौका को देख रही थी, जब मै रथारूढ हुआ तब भी वे खडी थी और जब तक मार्ग के मोड पर मेरा रथ न घूम गया तब तक वे मुझे बराबर वही खडी दिखी। महाराज, यह क्रूर हृदय लक्ष्मण ही वन मे उन्हे अकेली तजकर चला आया, गर्भवती अवस्था मे छोडकर लौट आया, मुख-मोड़कर भाग आया, हृदय पर पत्थर रखकर आ गया।

पर, वे, आह ! वे तो अन्त तक मुझे वही खडे-खडे देखती रही। (लक्ष्मण के अश्रुधारा बहती है।)

राम--(लम्बी साँस लेकर) हा !

लक्ष्मण--आपको उन्होने सन्देश भी दिया है।

राम--(उत्सुकता से) क्या वत्स, क्या सन्देश दिया है ?

लक्ष्मण--मैंने उसे पत्र पर लिख लिया है। मै उनके सन्देश को आपके सम्मुख जैसा का तैसा पढूँगा, महाराज, उसका एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा निरन्तर जप करते रहने की वस्तु है।

राम--पढो, लक्ष्मण, पढो, उसे भी यह हतभाग्य राम हृदय पर पत्थर रखकर सुनेगा।

लक्ष्मण--(एक कागज पढ़ते है) "नाथ ! आपके त्याग से जो कष्ट मुझे हुआ और होगा उसका वर्णन मै शब्दो मे नही कर सकती। सच्चे भावो के पूर्ण प्रकाशन के लिए शब्द कभी यथेष्ट नही होते, फिर ऐसे अवसर पर न शब्द ही स्मरण आते है और न उनसे वाक्य-रचना ही हो सकती है। इस कष्ट के निवारण का सरल उपाय यही था कि मैं अपने प्राण दे देती, पर, आपने मुझे ऐसे समय त्याग किया जब यदि मै ऐसा करूँ तो मुझे ही आत्म-हत्या और गर्भ-हत्या का पाप न लगेगा, पर, आपके प्रति आपकी सन्तानोत्पत्ति के अपने कर्तव्य से भी मै च्युत हो जाऊँगी, जो विश्व मे मै अपना सबसे बडा धर्म मानती हूँ। लका मे मै आपके वियोग मे आपके पुन दर्शन की आशा पर जीवित थी, अब मुझे वह अवलम्ब भी नही है। मेरे प्रयत्न करते रहने पर भी कि मै जीवित रह आपकी सन्तति की उत्पत्ति और उसका पोषण कर सकूँ, यदि इस वियोग के न सह

सकने के कारण मेरी मृत्यु हो जावे, तो आप मुझे क्षमा करेंगे, आपके क्षमा न करने से तो न जाने मेरी क्या गति होगी।"

राम—(आँसू पोछते हुए) आह ! आह !

लक्ष्मण—(आँसू पोछते हुए) "आर्यपुत्र, मै जानती हूँ कि आपको मेरे वियोग से दुःख होगा, पर, मै हाथ जोडकर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हो। आप यह भी न विचारे कि मेरे दुःखो के कारण आप है। आपको मै मनसा, वाचा और कर्मणा किसी प्रकार भी दोषी नही ठहराती। यह मेरे भाग्य का दोष है या मेरे पूर्व सचित पापो का फल है कि मुझे आपके वियोग का दुःख मिल रहा है, जिससे बडा ससार मे मेरे लिए और कोई दुःख नही हो सकता। इस दुःख मे भी सबसे अधिक क्लेश मुझे इस बात का रहेगा कि आप मेरे लिए दुखी रहेगे, इसलिए मै फिर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हो।"

राम—(टहलते हुए) आह ! लक्ष्मण, आह ! मेरे ऐसे क्रूर काण्ड पर भी उसने मुझे दोष नही दिया, नही धिक्कारा ?

लक्ष्मण—(गद्गद कण्ठ से) दोष देना और धिक्कारना कैसा, महाराज। उन्होने तो इसके विपरीत अपने भाग्य को ही दोष दिया है, अपने कल्पित पापो को ही दोष दिया है।

राम—और उसने क्या कहा, बन्धु ?

लक्ष्मण—उन्होने इस प्रकार अपना सन्देश पूर्ण किया—"नाथ, आप मुझे भूलने का उद्योग कीजिएगा, क्योकि दुःख मे कर्तव्यो का ठीक पालन नही हो सकता। मै आपके सग रहे हुए दिनो का स्मरण करते हुए, आपके स्वरूप का ध्यान और आपके नाम का जप करते करते आपकी सन्तति का पोषण करने के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करूँगी। जब मेरा

अन्त समय उपस्थित होगा उस समय आपके पाद-पद्मो मे चित्त रख मै यही विनय करती हुई प्राणो को तजूँगी कि जन्म-जन्म मुझे आपके समान ही पति प्राप्त हो।"

[इतना पढते-पढ़ते लक्ष्मण बालको के समान फूट-फूटकर रोने लगते है। राम के नेत्रो से भी अश्रुधारा बह निकलती है और वे इधर-उधर टहलने लगते है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। राम फिर धीरे-धीरे कहते है।]

राम——और भी कुछ वैदेही ने कहा, लक्ष्मण ?

लक्ष्मण——(धीरे-धीरे रुँधे हुए कण्ठ से) आपके कहने को कुछ नही, महाराज, पर, मुझे आपके स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे सदा सतर्क रहने के लिए बहुत कुछ कहा है। मै तो उन्हे सान्त्वना तक न दे सका, पर उन्होने उल्टी मुझे सान्त्वना दी है।

राम——(लम्बी सॉस ले) इतने पर भी उसे मेरी चिन्ता है ! इतनी चिन्ता, वत्स !

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी——(अभिवादन कर) गुरुदेव पधारे है, श्रीमान् से भेंट करना चाहते है।

राम——(सँभलकर) उन्हे आदरपूर्वक भीतर भेज दो।

[राम-लक्ष्मण दोनो, नेत्र पोछ स्वस्थ होने का प्रयत्न करते है। वसिष्ठ का प्रवेश। राम, लक्ष्मण प्रणाम करते है। वसिष्ठ आशीर्वाद देते है।]

वसिष्ठ——राज्य मे एक घोर अधर्म हो रहा है, उसे तुम्हे निवारण करना है, राम।

राम--(चौंककर और भी स्वस्थ हो) अधर्म, भगवन् ! कैसा अधर्म ? मेरे कर्तव्य-च्युत होने से तो कोई अधर्म नही हो रहा है, प्रभो ?

वसिष्ठ--नही वत्स, नही, तुम्हारे सदृश कर्तव्यपरायण और प्रजा-रजक कौन होगा, जिसने प्रजा-रजन के लिए वैदेही-सदृश पत्नी तक का त्याग कर दिया।

राम--तब क्या है, देव ?

वसिष्ठ--आज प्रात काल एक ब्राह्मण-पुत्र की उसके माता-पिता के जीवित रहते हुए मृत्यु हो गयी, उसने मुझसे यह वृत्त कह इसका कारण पूछा, मैंने योग-बल से कारण का पता लगा लिया है, राम।

राम--अब तक तो राज्य मे ऐसा कभी नही हुआ था, क्या कारण है, नाथ ?

वसिष्ठ--दण्डकारण्य मे शम्बूक नामक एक शूद्र तप कर रहा है। दण्डकारण्य तुम्हारे राज्य मे है। इस पाप से यह ब्राह्मण-पुत्र मरा है।

राम--(आश्चर्य से)तपस्या करना पाप हुआ, भगवन् ?

वसिष्ठ--धर्म और पाप की बडी गूढ व्याख्या है। स्थान, काल और पात्र के अनुसार इनका स्वरूप निर्धारित होता है। इस काल मे, इस राज्य मे, शूद्र की तपस्या पाप ही है।

राम--तो क्या करना होगा, प्रभो ?

वसिष्ठ--तुम तत्काल दण्डकारण्य जाओ, शूद्रक उल्टा सिर किये हुए तप कर रहा है, उसे खोज लेना। या तो उसे तपस्या से विमुख करो, या उसका वध।

राम---(आश्चर्य से) तपस्वी का वध, नाथ ?

वसिष्ठ---हॉ, यही इस समय का धर्म है, विलम्ब नही, तत्काल।

राम---जैसी आज्ञा।

[राम और लक्ष्मण का वसिष्ठ को प्रणाम कर एक ओर, और वसिष्ठ का आशीर्वाद दे दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान---दण्डक-वन

समय---सन्ध्या

[घना जगल है। अस्त हुए सूर्य की सुनहरी किरणें वृक्षो के ऊपरी भागो पर पड़ रही है। एक वृक्ष से लटका और नीचे की ओर मुँह किये वृद्ध शम्बूक तप कर रहा है। जटा और दाढी बढ गये है। शरीर जर्जर हो गया है। चार घोड़ो से जुता हुआ एक रथ आता है। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था। रथ पर राम और लक्ष्मण बैठे है। राम, लक्ष्मण शम्बूक को देख विमान से नीचे उतरते है।]

राम---(लक्ष्मण से) यही शम्बूक जान पडता है। यही दण्डकारण्य है। यही निकट ही पचवटी है। यही अनेक वर्ष तुम्हारे और वैदेही के सग आनन्दपूर्वक निवास किया था। अब कहॉ वे दिन, लक्ष्मण ? क्या कभी जीवन मे फिर वैसे आनन्द के दिन आवेगे ? उस समय तो वे वडे कष्ट-प्रद मालूम होते थे, अयोध्या-निवासियो के दु ख से हृदय विह्वल रहता था, पर वे ही दिन उत्तम थे, वे ही। वत्स, यह कर्तव्य सचमुच वडा

विलक्षण हे। अव तो जानकी के लिए रोने तक का अवकाश नही है।

लक्ष्मण—इसमे क्या सन्देह है, महाराज।

राम—(शम्बूक के निकट जाकर) शम्बूक, तुम मुझे जानते हो ?

शम्बूक—(उसी स्थिति में ध्यानपूर्वक राम को देखते हुए) मैं तपोवल से सव कुछ जानता हूँ, राम।

राम—अच्छा, तव तो तुम यह भी जानते होगे कि मै यहॉ क्यो ाया हूँ।

शम्बूक—हाँ, आर्य, ब्राह्मणो की सत्ता स्थापित वनाये रखने के लिए, ारा वध करने।

राम—नही, नही, पहले तुमसे अनुरोध करने कि तुम इस मार्ग को ोड दो।

शम्बूक—हाँ, परन्तु यदि मै न छोडूं ? तव तो तुम मेरा वध ही करोगे न ?

राम—तव यह करना मेरा कर्तव्य होगा।

शम्बूक—और अपना सकल्प न छोडना मेरा कर्तव्य है। सुनो, राम, मुझे ज्ञात है कि राज्य मे एक ब्राह्मण का पुत्र मरा है। मै यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे ब्राह्मण-कुल-गुरु ने इसका कारण मेरी तपस्या वतलाया है, पर इसका यथार्थ कारण तुम्हारे राज्य की ब्राह्मण-सत्ता है। ब्राह्मण यह मानते है कि हम शूद्रो को तप का अधिकार नही है। मैने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है। यदि मेरे तप से कोई शूद्र का वालक मरता तो मेरे तप का कुफल हो सकता था, पर ब्राह्मण-वालक मरा इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे ही भूल मे है। भगवान् उनको जता देना चाहते है

कि उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए किसी भी व्यक्ति पर अत्याचार नही हो सकता। यदि ब्राह्मण एक जन-समुदाय को सदा नीच बनाये रखने का उद्योग करेंगे तो हम इसी प्रकार सिर उठावेगे। इससे उन्ही का सहार होगा। वसिष्ठ ने यह तो अपने योगबल से जान लिया कि मेरे तप के कारण ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हुई, पर उन्होने यह नही जाना कि इस प्रकार की मृत्युओ का निवारण मेरी अकेले की हत्या से न होकर उनके मत के परिवर्तन मे ही सम्भव है। पर, राम, यह विवाद निरर्थक है। मै योगबल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म मे समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओ की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोडने के निमित्त नही। मै अपना सकल्प न छोडूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड़ जाते है। इधर-उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

राम—यह सब कैसा रहस्य है, वत्स! मर्यादा का उल्लघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन मे मै भारी सत्य देखता हूँ। पर, फिर भी इसे इसी प्रकार छोड इस हत्या से विमुख होने मे मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य-भग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताडका की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियो को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था; मित्र से उसके वध करने की मै प्रतिज्ञा कर चुका था और इस नि शस्त्र तपस्वी की हत्या? आह! वह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है।

लक्ष्मण—हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है।

राम—ओह! आज के समान सकल्प-विकल्प तो हृदय मे कभी नही उठे। न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना वदा है? (कुछ ठहर-कर) जो कुछ हो, धर्म की मर्यादा-रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है, चाहे यह तपस्वी हो अथवा नि शस्त्र। यह तपस्या नही छोडना चाहता, अत इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है? कोई नही—लक्ष्मण, कोई नही। (फिर शम्बूक के निकट जाकर) फिर पूछता हूँ कि तप छोडना तुम्हे स्वीकार नही है?

शम्बूक—कदापि नही।

राम—सोच लो, अच्छी प्रकार विचार लो।

शम्बूक—(घृणा से मुस्कराकर) न जाने कितने काल से सोच और विचार लिया है।

राम—(लबी साँस लेकर) अन्तिम निर्णय है?

शम्बूक—अन्तिम, सर्वथा अन्तिम।

राम—(तलवार निकाल, आगे वढ, शम्बूक पर प्रहार करते हुए) आह! लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्तव्य है?

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान---राम के प्रासाद की दालान

समय---तीसरा पहर

[दालान वही है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। राम और वसिष्ठ खडे हुए बातें कर रहे हैं।]

वसिष्ठ---तब तो देव-ऋण से उऋण होना सम्भव नही दिखता, राम।

राम---जो कुछ भी हो, भगवन्, यदि बिना विवाह किये यज्ञ होना सम्भव नही है, तो मुझे नरक मे पडने दीजिए। मनुष्य पर जो देवता, ऋषि, पितृ और मनुष्य इस प्रकार के चार ऋण रहते हैं, उनमे से विद्याध्ययन द्वारा ऋषि और जन-सेवा द्वारा मनुष्य-ऋण से तो मुक्त होने का मैंने प्रयत्न किया ही है। अब यदि बिना पुत्र के पितृ-ऋण और बिना यज्ञ के देव-ऋण से मैं मुक्त नही हो सकता तो मुझे नरक मे ही पडने दीजिए, देव।

वसिष्ठ—धन्य हो, राम, धन्य हो। तुम्हारा मैथिली पर सत्य प्रेम है। मैंने शास्त्र को देख लिया है। वैदेही की सुवर्ण मूर्ति के सग तुम्हारा यज्ञ होगा। शास्त्र की मर्यादा इसमे भग नही होती। एक पत्नीव्रत का जाज्वल्यमान उदाहरण भी तुम छोड जाओगे। मै देखता था कि कहाँ तक तुम अपनी टेक पर रह सकते हो। हिमालय से ले समुद्र-पर्यन्त तुम्हारे राज्य की विजय-पताका अश्वमेध-यज्ञ मे उड सकेगी। चलो, आज ही शुभ मुहूर्त्त है। आज से ही यज्ञ की तैयारी का आरम्भ किया जाय।

राम—(गद्गद होकर) आप सदृश कुल-गुरु को पाकर मेरा कौन-सा मनोरथ विफल रह सकता है, प्रभो ?

[दोनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वाल्मीकि का आश्रम

समय—प्रात काल

[छोटी-छोटी कई कुटियाँ गंगा के किनारे बनी हुई है। इनके चारो ओर फलो के वृक्ष दिखायी देते है जिनपर पुष्प-लताएँ चढ़ी हुई है। वृक्षो पर बन्दर और तोते तथा अनेक प्रकार के पक्षी दिखते है। इधर-उधर कोई पालतू मृग और मोर दिखायी देते है। सारा दृश्य प्रातःकाल के प्रकाश से आलोकित है। कुटी के बाहर बीच में यज्ञ-वेदिका है। उसीके निकट सीता और बासन्ती बैठी हुई बातें कर रही है। सीता बहुत क्षीणकाय हो गयी है। हाथो में चूड़ियो के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं है। वल्कल-वस्त्र पहिने हुए है। वासन्ती की अवस्था सीता से कुछ अधिक है। वह

भी गौर वर्ण है और उसकी वस्त्र-भूषा भी सीता के ही समान है। सीता गा रही है ।]

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौ कछु पै सकौं कहि हौं न॥
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन-कौन ।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ॥
जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन ॥

सीता--(**गान पूर्ण होने पर**) आज पूरे बारह वर्ष हो गये। वासन्ती, आज ही के दिन लक्ष्मण मुझे भागीरथी के तीर पर छोडकर गये थे। वह सारा दृश्य आज फिर नेत्रो के सम्मुख घूम रहा है। लक्ष्मण कैसे शोक-ग्रस्त थे, आर्यपुत्र के वियोग का भय मेरे हृदय को कैसा विदीर्ण कर रहा था, वार-वार मन मे यह उठता था कि मै उनके बिना प्राणो को कैसे रख सकूँगी, पर, सखि, बारह वर्ष हो चुके और ये अधम प्राण शरीर को अब भी नही छोडते। लका मे तो आर्यपुत्र के मिलने की आशा पर प्राण अवलम्बित थे, पर यहाँ तो वह आशा भी नही है। सचमुच मनुष्य सारे कष्टो को सहन कर लेता है।

बासन्ती--तब यदि उनके मिलने की आशा अवलम्ब थी तो अब उनके चिन्ह ये कुश-लव अवलव नही है ? दोनो बालक कैसे है ! रघुनाथजी के सदृश ही रूप, उन्हीके सदृश गुण, सब कुछ उन्ही-सा तो है ।

सीता--पर, न जाने, बासन्ती, इन पुत्रो के भाग्य मे क्या बदा है ? चक्रवर्ती राजा के पुत्र होकर ये वन मे उत्पन्न हुए, आश्रम मे इनका लालन हुआ और भिक्षान्न से पालन।

बासन्ती---इसकी चिन्ता न करो, सीता, सुना नही कि तुम्हारी ही सुवर्ण-मूर्ति के सग महाराज यज्ञ करेंगे ? अभी भी वे क्या तुम्हे भूले हैं, वैदेही ?

सीता---यह तो मै जानती हूँ, वासन्ती, वे मुझे क्षणमात्र को भी नही भूल सकते। मै क्या उनके हृदय से परिचित नही हूँ ? अयोध्या मे, वन जाने के पूर्व और वन से लौट कर वे मुझे जिस प्रेम से रखते थे, वह क्या यह शरीर रहते मुझे विस्मृत हो सकता है ? वन मे तेरह वर्ष तक उन्होने जिस प्रकार मुझे रखा वह स्मृति तो मेरी अटूट निधि है। अभी भी आठो पहर और चौसठो घडी मै ही उनके हृदय मे निवास करती होऊँगी, पर इन वालको को तो वे तभी ग्रहण करेगे जव उनके कर्तव्य में बाधा न पहुँचेगी।

बासन्ती---देखो, सखि, दोनो वालक महर्षि वाल्मीकि के सग यज्ञ मे अयोध्या गये ही है। ज्ञात नही, क्यो बार-बार मेरे हृदय मे उठता है कि इस यज्ञ मे कोई न कोई अद्भुत घटना अवश्य घटित होगी। अयोध्या में भी यह स्पष्ट हो जायगा कि ये कुश-लव रघुनाथजी के ही पुत्र है।

[वाल्मीकि का प्रवेश। वाल्मीकि अत्यन्त वृद्ध है। शरीर दुर्बल, किन्तु ऊँचा है। वर्ण साँवला और छोटी-छोटी श्वेत रंग की जटा तथा लम्बी दाढी है। वस्त्र वल्कल के है। वाल्मीकि को देख सीता और बासन्ती दोनो खडी हो प्रणाम करती है।]

वाल्मीकि---(आशीर्वाद दे, सीता से) तेरे सारे दु खो की समाप्ति का समय आ गया, पुत्री, राम के और तेरे त्याग ने सारे देश की प्रजा का हृदय द्रवी-भूत कर दिया। जो प्रजा तेरे सम्वन्ध मे अपवाद लिए बैठी थी, वही तेरे इन बारह वर्षो का जीवन-वृत्तान्त सुन, कुश और लव को ठीक राम के अनुरूप देख, अव यह चाहती है कि राम तेरी सुवर्ण-प्रतिमा के

संग नही किन्तु प्रत्यक्ष तेरे सग बैठकर यज्ञ करे। मै कुश और लव को अयोध्या मे ही छोडकर अभी वहाँ से लौट रहा हूँ। जिस मार्ग से वे बालक मेरी रामायंण का गान करते हुए निकलते है, सहस्रो का जन-समुदाय इकट्ठा हो जाता है। राजभवन मे भी उन्होने राम आदि को रामायण गाकर सुनायी है। अवध की प्रजा के झुण्डो के झुण्डो ने और देश-देश के माण्डलीक राजाओ ने, जो यज्ञ मे अपनी प्रजा के मुख्य-मुख्य जनो के सग आये है, अपनी प्रजा-जनो के सहित राम के पास जा-जाकर तेरे ग्रहण करने का अनुरोध किया है। हिमालय से समुद्र-पर्यन्त सारे देश के मनुष्य राम के सग तेरे दर्शन चाहते है, एक स्वर से अयोध्या मे यही ध्वनि निकल रही है। राम ने भी तुझे सहर्ष ग्रहण करना स्वीकार किया है और राजगुरु वसिष्ठ ने भी तेरे ग्रहण करने की अनुमति दे दी है। इसी कारण यज्ञारम्भ का मुहूर्त्त आगे बढा दिया गया है। यज्ञ-शाला की पुण्य-भूमि मे ही राम तुझे ग्रहण करेगे। तुझे मेरे सग अभी अयोध्या चलना है, पुत्री।

सीता—(गद्गद होकर) प्रभो, क्या मै जीवित हूँ? क्या जीवित अवस्था मे, उसी शरीर के रहते, उन्ही कानो से यह सम्वाद सुन रही हूँ! भगवन्, यह सब क्या सम्भव है? क्या मुझ मन्दभागिनी के भी दिन फिरे है? मेरे लिए भी क्या सुदिन आया है?

वाल्मीकि—हाँ, सतियो की आदर्श, पातिव्रत की मूर्तिवन्त मूर्ति, यह सब सत्य है। चल मेरे सग और राम को अपने पुण्यमय दर्शन दे तथा उनके पुण्यमय दर्शन कर। स्वय राम का रथ तेरे लिए आया है।

बासन्ती—बधाई है, सखि, बधाई है, इस अभूतपूर्व दिवस, इस शुभ तिथि और इस पुण्य काल के लिए।

[तीनो का प्रस्थान। दृश्य बदलता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या मे सरयू-तट पर अश्वमेध-यज्ञ-शाला

समय—तीसरा पहर

[चारो ओर चन्दन के स्तभ है। बीच में यज्ञवेदी बनी हुई है और इसके चारो ओर बैठने के स्थान बने है। यज्ञशाला बन्दनवार, पताका आदि से सजायी गयी है। आकाश बादलो से आच्छादित है। कभी-कभी बादलो की गरज सुन पडती है और बिजली भी चमक जाती है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—अभी तो कुछ विलम्ब है, लक्ष्मण ?

लक्ष्मण—कुछ विलम्ब तो अवश्य है, पर बहुत नही, महाराज, यज्ञ-शाला का द्वार अभी नही खुला है। बाहर तो अपार जन-समुदाय है। द्वार खुलते ही सब भीतर आ जावेगे। महर्षि वाल्मीकि का रथ आते ही द्वार खुल जायगा।

राम—बारह वर्ष बीत गये, लक्ष्मण, पर यह थोडा-सा समय बीतना कठिन हो रहा है।

लक्ष्मण—जब किसी भी कार्य के पूर्ण होने मे थोडा-सा समय शेष रहता है तब उसका व्यतीत होना बडा कठिन हो जाता है।

राम—देखो, वत्स, अन्त मे वही हुआ न जो मैने कहा था। सारे देश की प्रजा के भावो मे परिवर्तन हो गया। उस समय यदि वैदेही को न त्यागा होता तो यह सम्भव नही था। यह लोकमत बडी विलक्षण वस्तु है। अभी भी मै जानकी को ग्रहण करने के पूर्व उससे शुद्धता की परीक्षा देने के लिए कहूँगा।

लक्ष्मण––(**आश्चर्य से**) पुन परीक्षा, महाराज ?

राम––हाँ, लक्ष्मण, जिससे यदि थोडा-बहुत सन्देह लोगो के हृदय मे रह गया हो तो वह भी दूर हो जावे। सन्देह के अवशेष का अवशेष भी बडा भयकर होता है। अग्नि-कण के सदृश अथवा मेघ के छोटे-से खण्ड के समान उसे फैलने मे विलम्ब नही लगता। अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि मैथिली के लिए उसके अद्भुत सयम के कारण किसी प्रकार की भी परीक्षा दे देना बाएँ हाथ का खेल है। (**पृथ्वी काँपती है। आश्चर्य से**) है! यह कप कैसा! क्या भूकप है ?

लक्ष्मण––(**कुछ रुककर, इधर-उधर देख**) हाँ, महाराज, भूकम्प-सा ही जान पडता है।

राम––हाँ, हाँ, (**यज्ञशाला के काँपते हुए स्तंभो को देखकर**) यह देखो न, यज्ञशाला के स्तभ कॉप रहे है। (**यज्ञशाला की कॉपती हुई वेदी को देखकर**) यज्ञवेदी भी कॉप रही है। (**बैठने के कॉपते हुए स्थानो को देखकर**) आसन भी काँप रहे है। (**कंप एकाएक रुक जाता है।**)

लक्ष्मण––परन्तु, अब सब वस्तुएँ पुन स्थिर हो गयी, महाराज। भूकप ही था, अवश्य भूकप।

राम––और यथेष्ट रूप मे हुआ, वत्स।

लक्ष्मण––हिमालय की तराई और उसके निकट के इन स्थानो में सुना जाता है कि अनेक बार भूकप होते है।

[नेपथ्य में कोलाहल होता है।]

राम––लो, यज्ञशाला का द्वार खुल गया। महर्षि वाल्मीकि आ गये होगे, लोग भीतर आ रहे है।

[वसिष्ठ, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जाम-वन्त, ऋषि, राजा, राज-कर्मचारी तथा प्रजा-जनो आदि का प्रवेश। राम और लक्ष्मण सबका स्वागत करते है। यज्ञवेदी के दक्षिण ओर ऋषि, वाम ओर नरेश तथा सामने प्रजा बैठती है। वेदी के निकट ही राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और वसिष्ठ बैठते है। प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) महर्षि वाल्मीकि महारानी और राजकुमारो के सग मडप मे है। महर्षि ने कहा है कि जब सब लोग बैठ जायँ और महर्षि वसिष्ठ आज्ञा दे तब हमे सूचना देना, हम लोग भी आ जावेगे।

वसिष्ठ—(चारो ओर देखकर) हाँ, सब लोग यथास्थान बैठ गये है। महर्षि वाल्मीकि को मै ही चलकर लाता हूँ।

[वसिष्ठ का प्रस्थान और वाल्मीकि, सीता तथा कुश-लव के सग पुनः प्रवेश। सीता अपने वल्कल-वस्त्रो में ही अवनत मुख से आती है। कुश-लव ब्रह्मचारियो के वेश में है और रामायण गा रहे है। सीता का क्षीण शरीर और वेश देख राम सिर झुका लेते हैं। लक्ष्मण आदि अनेक लोगो के नेत्रो से अश्रुधारा बह चलती है।]

कुश-लव—

मंजु विलोचन मोचत बारी। बोली देख राम महतारी।
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहि पियारी।
मै पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई। रूप-राशि गुण सील सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेहु प्रान जानकिहिं लाई।
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।
बन हित कोल किरात किसोरी। रची विरचि विषय सुख भोरी।
पाहन कृमि जिमि कठिन स्वभाऊ। तिनहि कलेस न कानन काऊ।

कै तापस तिय कानन जोगू। जिन तप हेतु तजा सब भोगू।
सिय बन बसहिं तात केहि भाँती। चित्र लिखे कपि देखि डराती।

[कुछ देर पश्चात् वाल्मीकि के संकेत से कुश-लव गान बन्द कर एक ओर बैठ जाते है। वाल्मीकि कहते है।]

वाल्मीकि—राम-राज्य के निवासियो! आप लोगो की इच्छानुसार मै इस सती-शिरोमणि भगवती सीता देवी को पुन आपकी राजधानी मे ले आया हूँ। भारतवर्ष मे ही क्या सारे ससार मे आज तक किसीका ऐसा उज्ज्वल और कलक-रहित चरित्र नही रहा है जैसा महारानी सीता का है। रावण के सदृश पराक्रमी राजा के यहाँ असहाय रहने पर भी इन्होने अपने सतीत्व की रक्षा की। अपनी शुद्धता का प्रमाण देने, अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी सहर्ष प्रस्तुत हो गयी। इतने पर भी जब आप लोगो का विश्वास नही हुआ, तब पूरे एक युग तक इन्होने वन मे कठिन तप किया। ये तो आजन्म तप करती, परन्तु आप ही के अनुरोध से पुन अयोध्या मे आयी है। कहिए, आप अपने राजा को अनुमति देते है कि वे कृतकार्य राजा पुन अपनी शुद्ध और अद्वितीय अर्द्धांगिनी को ग्रहण कर पूर्णांग एव धन्य हो?

[ज़ोर से "अवश्य ग्रहण करें", "अवश्य ग्रहण करें" शब्द होते है।]

वसिष्ठ—राम, वैदेही को पुन ग्रहण कर अपना जन्म सफल करो।

राम—(गद्गद कण्ठ से) महर्षियो! नरेशो! और बन्धुओ! मुझे वैदेही के चरित्र पर कभी सन्देह नही था, सर्व-साधारण के विश्वासार्थ ही मैने लका मे इनकी परीक्षा ली थी और यहाँ आने के पश्चात् भी प्रजा के रजनार्थ ही मैने इनका त्याग किया था, क्योकि मेरा यह दृढ विश्वास है कि जो राजा प्रजा की इच्छानुकूल अपने कार्य नही करता वह

कर्तव्य-च्युत है और नरक का अधिकारी होता है। कई दिनो से आज मुझे यह देखकर असीम आनन्द हो रहा था कि देश की सारी प्रजा एक स्वर से मुझसे पुन मैथिली के ग्रहण करने का अनुरोध कर रही है। इस अनुरोध की उत्कटता इस समय और स्पष्ट हो गयी, फिर भी यह और उत्तम होगा यदि आप सबके सम्मुख एक बार पुन मैथिली अपनी शुद्धता का कोई न कोई प्रमाण दे देवे।

सीता---(दृढता से) अभी भी मेरी शुद्धता के प्रमाण की आवश्यकता है, आर्यपुत्र? (कुछ रुककर) आह! आह! (फिर कुछ ठहर पृथ्वी को सम्बोधितकर) अब तो सहन नही होता, जननी,) फिर कुछ रुककर आर्त स्वर में) यदि मैंने जीवन मे कभी भी मनसा, वाचा और कर्मणा किसी पर-पुरुष का चिन्तन तक न किया हो तो तू फट जा, माँ, और अब तो मुझे अपनी गोद मे ही स्थान दे दे।

[जोर से भूकम्प होता है। सीता के सम्मुख पृथ्वी फटती है और सीता उसमें समा जाती है। पृथ्वी फिर जैसी की तैसी हो जाती है।]

राम---वैदेही, वैदेही, यह क्या! यह क्या!

उपस्थित जन-समुदाय---है, है, है, है! भूकम्प! भूकम्प!

[कोलाहल और हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान---अयोध्या का मार्ग

समय---प्रात काल

[वही मार्ग है जो पहले अक के दूसरे दृश्य में था। चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—राम-राज्य को अनेक वर्ष बीत गये, बन्धुओ।

दूसरा—अनेक।

पहला—परन्तु, सीता देवी के पृथ्वी-प्रवेश के पश्चात् वह उत्साह और आनन्द दृष्टिगोचर नही होता।

तीसरा—इसमे सन्देह नही, यद्यपि राम-राज्य वैसा ही सुखद है, तथापि शिथिलता और निस्तेजता-सी छायी रहती है।

चौथा—और यज्ञ मे भी क्या वह आनन्द आया था जिसकी आशा थी?

पहला—सती की महिमा ही अद्भुत होती है। सीता देवी के पश्चात् वह आनद रह ही कैसे सकता था। कभी कहने से पृथ्वी फटती हुई देखना तो दूर रहा, सुना और पढा भी न था।

दूसरा—हाँ, बन्धु, अद्भुत बात हुई। किन्तु, उसके कुछ समय पूर्व भी पृथ्वी काँपी थी।

तीसरा—उसके पश्चात् तो नही काँपी। अरे, उनकी आज्ञा से ही पृथ्वी फटी। इसी प्रकार वे अग्नि मे प्रवेश कर जीवित निकल आयी होगी जिसपर हमे विश्वास ही नही होता।

चौथा—राम और सीता दोनो ही अद्भुत निकले। सूर्यवश मे ही क्या ससार मे कही भी ऐसे नर-नारी का वर्णन नही सुना।

पहला—जिन्हे भगवान् का अवतार कहा जाता है, ये, वे है। अवध मे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ने अवतार लिया है और शक्ति ने मिथिला

मे लिया था। एक को हमने अपनी दुर्बुद्धि से खो दिया। उस दिन के पहले भी जब सीता देवी पृथ्वी मे समायी, सबके सन्देह थोडे ही दूर हुए थे।

तीसरा—हॉ, हाँ, राम तो साक्षात् अन्तर्यामी है, सबके हृदय की बात समझते है, इसीलिए उन्होने पुन सीता देवी को शुद्धता का प्रमाण देने के लिए कहा।

चौथा—मै तो अपने ही मन की बात कहता हूँ, मेरे हृदय तक में सन्देह बना था।

पहला—सन्देह बडी बुरी व्याधि है, बन्धु, सीता देवी मरकर ही इसका मूलोच्छेदन कर सकी।

चौथा—सुना है, रघुनाथजी ने भी सारा राज्य अपने और भ्राताओ के पुत्रो मे बॉट दिया है। अब वे भी वाणप्रस्थ लेने की तैयारी कर रहे है।

पहला—अयोध्या के अब वे दिन कदाचित् न लौटेगे।

तीसरा—(कुछ ठहरकर) तो फिर चले न, रघुनाथजी के दर्शन का समय हो गया।

सब—(एक साथ) हाँ, हाँ, चलना चाहिए।

[चारो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवॉ दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—प्रात काल

[वही दालान है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। इतना ही अन्तर है कि दाहनी ओर एक खिड़की बना दी गयी है। राम और लक्ष्मण खड़े हुए हैं। राम दाहनी ओर की खिड़की में से बाहर की ओर देख रहे हैं। बाल श्वेत हो गये हैं और मुखो पर झुर्रियाँ दिखायी देती हैं। दोनो वृद्ध दिखते है।]

राम---देखते हो लक्ष्मण, कितनी भीड जमा है। नित्यप्रति यह भीड बढती ही जाती है।

लक्ष्मण---कई लोगो का व्रत है, महाराज, जब तक प्रात काल वे आप के दर्शन नही कर लेते तब तक भोजन नही करते।

राम---हाँ, वत्स, पहले मै झूठा था। वैदेही को अत्यधिक चाहता था, यही मेरा दोष था। इसी कारण प्रजा समझती थी कि मैंने झूठ फैलाया है कि वह अपनी शुद्धता का प्रमाण देने अग्नि मे प्रवेश करने के लिए भी प्रस्तुत थी। अब मैं परब्रह्म परमात्मा का अवतार हो गया हूँ, क्योंकि प्रजा की इच्छा के अनुसार मैंने सब कुछ किया, अपने सर्वस्व की आहुति दे दी। यह मनुष्य-हृदय ही विलक्षण वस्तु है!

लक्ष्मण---इसमे सन्देह नही महाराज, आप अपना सर्वस्व खोकर ही यह पद पा सके।

राम---पर, लक्ष्मण, मेरे हृदय को फिर भी सुख नही है, वैदेही के स्मरण की भभकती हुई अग्नि तथा जो पृथ्वी मेरे देखते-देखते उसे निगल गयी उसी पृथ्वी की जो मुझे रक्षा करनी पड रही है, यह मेरी कृति, सदा मेरे हृदय को जलाया करती है। अब तो राज्य भी बाँट दिया है, वत्स, अब जीवित रहने की इच्छा नही है, इस जन्म मे मुझे सुख न मिल सकेगा।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी---(अभिवादन कर) श्रीमान्, एक मुनि आये है; अपने को अतिबल का दूत बतलाते हैं, महाराज से भेट करना चाहते है।

राम---उन्हे आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान। मुनि के सग फिर प्रवेश। मुनि को छोड फिर प्रस्थान। राम और लक्ष्मण मुनि को प्रणाम करते है और वे आशीर्वाद में केवल हाथ उठा देते है।]

मुनि---राम, मुझे एकान्त मे आपसे बातचीत करना है।

राम---जो आज्ञा, प्रभो।

मुनि---परन्तु, इसके पूर्व आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी।

राम---वह क्या, भगवन्?

मुनि---यदि उस वार्तालाप मे कोई आवेगा तो उसका आपको वध करना होगा। मै दूर, अत्यन्त दूर से आया हूँ। मेरी यह याचना, आशा है, आप अवश्य पूर्ण करेंगे, आपके वश मे किसी याचक को कभी विमुख कर नही लौटाया गया।

राम---परन्तु, नाथ, यह प्रतिज्ञा तो बडी भयानक प्रतिज्ञा है।

[मुनि राम के कान में धीरे-धीरे कुछ कहते है।]

राम---अच्छी बात है। ऐसा ही हो, देव। पधारिए भीतर। (लक्ष्मण से) लक्ष्मण, तुम्ही बाहर चले जाओ, देखते रहो, मेरे कक्ष मे कोई न आवे।

लक्ष्मण---जो आज्ञा।

[राम पुन खिड़की से बाहर की ओर देख, हाथ जोड प्रणाम करते है। फिर वे आगन्तुक मुनि के सग एक ओर तथा लक्ष्मण दूसरी ओर जाते है। परदा गिरता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान---अयोध्या का मार्ग

समय---तीसरा पहर

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। बादलो की गरज सुन पड़ती है और रह-रहकर बिजली चमकती है। वायु के वेग से चलने के कारण उसका शब्द भी सुनायी देता है। एक नगरवासी का एक ओर से और कई का दूसरी ओर से दौड़ते हुए प्रवेश। वायु के वेग के कारण उनके वस्त्र उड़ रहे हैं।]

पहला---कहाँ जा रहे हो, बन्धुओ, कहाँ जा रहे हो ?

कई व्यक्ति---ड्योढी पर, ड्योढी पर।

पहला---किस लिए ?

कई व्यक्ति---तुमने नही सुना, नगर मे फैल रहा है कि महाराज ने लक्ष्मण को त्याग दिया और उन्होने सरयू मे जाकर योगबल से अपना शरीर　　　　। (गला भर जाता है।)

दूसरा---(रुँधे हुए कण्ठ से) इसीका पता लगाने जा रहे है कि क्या यह सच है।

पहला---(रोते हुए) मैं वही से आया हूँ, सत्य है।

[उसकी बात सुन सब रो पड़ते हैं।]

एक अन्य व्यक्ति---(रुँधे गले से) कारण क्या हुआ ?

पहला—हम अवध के लोगो का मन्दभाग्य कारण है, और क्या ?

वही पहलेवाला—फिर भी कोई कारण तो होगा। महाराज को लक्ष्मण अत्यन्त प्रिय थे, प्राणो से अधिक प्रिय थे। लक्ष्मण ने उनके लिए क्या नही किया ? चौदह वर्ष माता और पत्नी को छोड वन मे रहे। सदा उनकी आज्ञा का पालन किया। ऐसी-आज्ञा पालन कौन ।

पहला—पर, इससे क्या, बन्धु, भगवान् रामचन्द्र के लिए तो सर्व-प्रथम उनका कर्तव्य है।

वही—पर, लक्ष्मण को त्याग देने का कर्तव्य कहाँ से आ पहुँचा ?

पहला—(धीरे-धीरे, रुक-रुककर कहता है) बात यह हुई कि कोई मुनि महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन्होने महाराज से प्रतिज्ञा करायी थी कि हम दोनो की बातचीत के बीच मे यदि कोई आ गया तो आपको उसका वध करना होगा। महाराज प्रतिज्ञा कर और स्वय लक्ष्मण को द्वार-पाल का काम सौप, क्योकि बडे महत्त्व की बात थी, किसी मनुष्य के प्राण न चले जायँ यह विषय था, मुनि से वार्तालाप करने भीतर गये। इतने मे दुर्वासा आ पहुँचे। उन्हे भी महाराज के दर्शन की इतनी शीघ्रता थी कि उन्होने लक्ष्मण की बात तक न सुनी और कहा कि या तो तत्काल महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो या मैं सारे वश को शाप देता हूँ। लक्ष्मण को और कोई उपाय न देख भीतर जाना पडा। महाराज की प्रतिज्ञा तो महा-राज की प्रतिज्ञा ही ठहरी। वसिष्ठ बुलाये गये। उन्होने व्यवस्था दी कि बन्धु का त्याग ही वध है, पर महाराज को छोड लक्ष्मण क्यो जीवित रहने लगे, फिर उन्हे तो महाराज की प्रतिज्ञा अक्षरश सत्य करनी थी। उन्होने सरयू पर जाकर योगबल से शरीर त्याग दिया। हाय ! अयोध्या-वासियो का भाग्य फूट गया।

[वह रोने लगता है और सभी के नेत्रो से अश्रुधारा बहने लगती है।

जिस ओर से पहला व्यक्ति आया था उसी ओर से एक व्यक्ति का और दौड़ते हुए प्रवेश ।]

आगन्तुक---(रुँधे गले से) अरे ! अरे ! और अनर्थ हुआ, और अनर्थ हुआ ! उर्मिला देवी ने लक्ष्मण के सग सती होने का निश्चय किया है।

पहला---(गद्‌गद कण्ठ से) अब अयोध्या पूर्ण श्मशान बनकर ही रहेगी। (और अधिक रोने लगता है।)

एक अन्य व्यक्ति---(रुँधे कण्ठ से) चलो, बन्धुओ, हम सब भी श्मशान को चले।

कुछ व्यक्ति---(एक साथ) हाँ, वहाँ तो चलना ही है।

एक व्यक्ति---(रुँधे कण्ठ से) ससार मे वही तक का तो साथ है।

[सबका प्रस्थान। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान---सरयू के तट की श्मशान-भूमि

समय---सन्ध्या

[निकट ही सरयू बह रही है। सरयू के दोनो तटो पर वृक्ष है। उस ओर के तट से कुछ दूर बसी हुई अयोध्या दिखायी देती है। अयोध्या के पीछे की ओर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिख पडती है। आकाश बादलो से छाया हुआ है। रह-रहकर बिजली चमकती है और बीच-बीच में बादलो की गरज भी सुनायी देती है। वायु वेग से चल रही है और इसका भी शब्द हो

रहा है। इस तट पर पानी के निकट ही लक्ष्मण की चिता है। राम अपने दोनो अनुज और वसिष्ठ आदि के सग शोक से सिर झुकाये हुए चिता के निकट खडे है। उनके चारो ओर जन-समुदाय है। वायु-वेग के कारण सबके वस्त्र उड रहे है। सभी शोक से विह्वल है। इस जन-समुदाय में हाहाकार मचा हुआ है। वाद्य बजता है। अनेक स्त्रियो के सग सौभाग्य-वती स्त्री के सदृश श्रृंगार किये उर्मिला का प्रवेश। उर्मिला आगे बढ राम एवं भरत और वसिष्ठ के चरण-स्पर्श कर चिता पर बैठ जाती है। उर्मिला के द्वारा चरण-स्पर्श होते ही राम रो पडते है।]

वसिष्ठ—शोक नही, राम, शोक नही। तुमने तो ससार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जैसा आज-पर्यन्त किसी ने नही किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोडा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिरवियोग सहा और अन्त मे प्राणो से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थो को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। राम, राम-राज्य के समान राज्य कभी नही हुआ, जिसमें प्रजा को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी क्लेश कभी नही पहुँचा। तुम्हारे इसी कर्तव्य-पालन के कारण हिमालय से ले कन्याकुमारी तक और पूर्व समुद्र से ले पश्चिमी समुद्र तक की सारी पृथ्वी पर एक स्वर से भगवान् के समान तुम्हारा जयघोष हो रहा है, तुम्हारे भ्राताओ का हो रहा है, तुम्हारे वश का हो रहा है। जहाँ तुम जाते हो वहाँ की पृथ्वी पुष्प, चन्दन-चूर्ण और खीलो की वर्षा से ढक जाती है। इतिहास मे तुम्हारा चरित्र सदा दूसरे सूर्य के समान तेजस्विता के सग चमकता हुआ ससार को आलोकित रखेगा। लक्ष्मण शोक के योग्य नही है, राम, उनका यह शरीर, जो नाशवान है, चाहे न रहा हो, परन्तु उनकी कीर्ति सदा के लिए भूमण्डल मे स्थिर रहेगी। राम, तुम्हारा शोक करना शोभा-जनक नही है; तुम शोक करते हो, राम, तुम शोक !

राम——प्रभो, मैंने लक्ष्मण के अतिरिक्त किसीके सम्मुख आज तक अपना शोक प्रकट नही किया, परन्तु आज उनके न रहने पर यह शोक प्रकट हो गया। मेरे निज का ससार न रहने से आज यह इस ससार के सामने आ गया है। मेरे सम्बन्ध मे आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है, नाथ, परन्तु मैंने यह सब स्वय को खोकर पाया है। ताडका की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन मे है, बालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, निःशस्त्र शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्त करण व्यथित है, फिर पिता की मृत्यु का मै ही कारण हूँ, पत्नी को मेरे कारण क्लेश भोगना पडा, अन्त मे इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो, जैसा भ्राता आज-पर्यन्त किसीने नही पाया था, मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये, मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते, सती होने जा रही है। नाथ, मै समझता था कि कर्तव्य-पालन से ससार को सुखी करने के सग मनुष्य स्वय भी सुखी होता है, पर नही, यह मेरा भ्रम ही निकला; मै तो सदा दुख से ही पीडित रहा, भगवन्।

वसिष्ठ——कर्तव्य-पालन से स्वय को सुख की प्राप्ति होती है, राम, अवश्य होती है और वह सुख अनन्त होता है, पर जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पडता है तब तक वह सुख नही मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म मे नही, अनेक जन्म के पश्चात् बिरला मनुष्य ही कर सकता है, वही जीवन-मुक्त की अवस्था है, वहाँ द्वन्द्व नही रह जाता, वहाँ मनुष्य स्वय और सकल विश्व मे भिन्नता का नही, किन्तु समानता का अनुभव करता है। जीवन रहते कर्म करना ही पडता है, अत इस जीवन-मुक्त अवस्था मे ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आपसे आप होते रहते है और इनको करने मे ही उसे सुख मिल जाता है। पर लो, राम, इस

समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो। लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नहीं हैं, अत शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघु भ्राता ही अग्नि-सस्कार कर सकता है। तुम्हे और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अत लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो।

राम—यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी ? पर, नही प्रभो, नही, शत्रुघ्न ही यह करे। अब तो सहा नही जाता, नाथ, असह्य हो चुका। इस क्षीण देह और भग्न-हृदय पर यह अन्तिम चोट थी। **(दोनो हाथो से हृदय को सँभालते हुए)** हृदय मे अत्यन्त पीडा हो रही है, देव, अत्यन्त। **(सामने देख चौंकते हुए)** ठहरिए, ठहरिए, देखिए, देखिए,वह सामने कौन है ? देखिए, प्रभो, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है ? आप कहते है न कि कर्तव्य-पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म मे न होकर अनेक जन्म मे होती है, आप कहते है न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पडना एक जन्म मे नही अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है, देखिए, देखिए, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। वह मुझे शीघ्र, शीघ्राति-शीघ्र बुला रहा है। अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है ? अन्तिम अवलब लक्ष्मण भी चले गये, नाथ, मै भी क्यो यह दु सह दु ख सहता रहूँ ? जाता हूँ, जाता हूँ, भगवन्, पति के सग स्त्री ही सती न होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के सग ही जलेगा।

[राम दोनो हाथो से हृदय मसोसते हुए नेत्र बन्द कर लेते है। उनका मृत शरीर वसिष्ठ की भुजाओ में गिर पडता है। हाहाकार होता है। वर्षा आरम्भ होती है और वायु का वेग बढता है। एकाएक जोर से पृथ्वी काँपने लगती है।]

वसिष्ठ—है ! भूकप ! भूकप !

एक मनुष्य—हाँ, भारी, भारी भूकप है।

[सरयू के तटों के वृक्ष जोर से काँपते है। उस पार बसी हुई अयोध्या के गृह जोर-जोर से गिरते है। श्मशान में खडे हुए जन-समुदाय में कोलाहल मचता है। दूर से भी कोलाहल सुन पड़ता है। अनेक व्यक्ति भागते है। अनेक भागते हुए व्यक्ति पथ्वी के काँपने से गिर पड़ते है।]

वसिष्ठ--(राम के शव को लिये हुए ही चिल्लाकर) ठहरो, ठहरो, पहले राजा का अग्नि-सस्कार करना होगा।

एक मनुष्य--(चिल्लाकर) किसका अग्नि-सस्कार कौन करेगा! जान पडता है, सारे अयोध्या के निवासी राजा के सग ही स्वर्गारोहण करेगे।

[कोलाहल बढता है। पृथ्वी पर अनेक दरारें फटती है। उनसे पानी निकलता है। अनेक व्यक्ति उन दरारो में समाते है। राम का शव लिये हुए वसिष्ठ तथा भरत और शत्रुघ्न भी पृथ्वी की एक दरार में समा जाते है। इसी प्रकार लक्ष्मण की चिता भी पृथ्वी की एक दरार में समाती है। सरयू के उस ओर अयोध्या की बस्ती के परे की पहाडियो से अग्नि और धूम निकलता है। भीषण कोलाहल।]

यवनिका-पतन

उत्तरार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल मे यमुना-तट

समय—उप काल

[पूर्वाकाश में प्रकाश फैल रहा है जिसकी छाया यमुना के नीर में पड रही है। किनारे पर सघन वृक्ष है। वृक्षो की एक झुरमुट में बैठ कृष्ण मुरली बजा रहे है। कृष्ण लगभग ग्यारह वर्ष के अत्यन्त सुन्दर बालक है। वर्ण साँवला है। कटि के नीचे पीत अधोवस्त्र और गले में उसी प्रकार का उत्तरीय है। लबे केशो का सामने जूडा बँधा है जिस पर मोर-पंख लगा है। ललाट पर केशर का तिलक है, कानो में गुंज के मकराकृत कुण्डल, गले में गुंज के हार, भुजाओ पर उसीके केयूर और हाथो में उसीके वलय है। गले में पुष्पो की वैजयन्ती माला भी है। राधा का प्रवेश। राधा भी लगभग ग्यारह वर्ष की गौर वर्ण की परम सुन्दर बालिका है। नील रग

की साड़ी और वक्षस्थल पर उसी रंग का वस्त्र बँधा है। गुंज के आभूषण पहिने हैं। मस्तक पर इंगुर की टिकली और पैर में महावर है। कृष्ण राधा को देख मुरली बन्द कर देते हैं।]

राधा—बजाओ, कृष्ण, बजाओ, कम से कम आज, अन्तिम बार यह वशी-ध्वनि और सुन लूँ, फिर न जाने जीवन मे कभी यह सुनने को मिलती है या नही। जब कोई भी नवीन बात होती है तभी यह बजती है, चाहे वह बात सुखमय हो या दु खमय। आज जब व्रज को छोडकर जा रहे हो तब भी भला यह क्यो न बजे ? प्राण जायँगे तो पीछे रहनेवालो के जायँगे।

कृष्ण—(मुस्कराकर) ओहो ! राधा, आज तो तुमने बडा गम्भीर भाषण दे डाला।

राधा—इससे अधिक गभीरता का और कौन-सा अवसर होगा ? कल सध्या को जबसे यह सुना कि तुम्हे राजा कस ने धनुष-यज्ञ के लिए बुलाया है और अक्रूर, अक्रूर क्यो क्रूर, तुम्हे लेने आया है, तबसे तुम्हारा सारा चरित्र एक-एक कर नेत्रो के सम्मुख घूम रहा है। न जाने क्यो यह भासता है कि अब फिर ये दिन न फिरेंगे। व्रज मे फिर यह वशी-ध्वनि न सुन पडेगी। फिर न ये दिवस आयँगे और न ये राते, न ये उष काल और न ये सध्या। यह सुख सदा को चला जायगा, पर तुम्हे इससे क्या, सखे ?—तुम्हारी आनन्द की वशी तो हर स्थान और हर काल मे बजती ही रहेगी।

कृष्ण—(मुस्कराकर) पर, सखि, यदि मै वशी न भी बजा, अन्य बालको के समान, जाते समय रोऊँ तो क्या होगा ? जाना तो होगा न ? मेरे रोने से जाना क्या रुक जायगा ? लोग कहते है कि मेरे पिता नन्द और यशोदा नही, किन्तु मथुरा के कारागृह मे पडे हुए वसुदेव और देवकी

हैं। मेरी जन्म-भूमि मथुरा है। पर, तुमने कभी मुझे उनका या मथुरा का स्मरण करते देखा ? फिर नन्द, यशोदा और व्रज छोडने मे ही मैं क्यो दु ख करूँ ?

राधा—पर, सखे, वसुदेव और देवकी को तुमने देखा नही, मथुरा तुम गये नही, नन्द-यशोदा की गोद मे खेले हो, व्रज मे लाले-पाले गये हो।

कृष्ण—इससे क्या, राधा ? जिन्होने कभी अपने माता-पिता को नही देखा होता, वे भी यदि सुनते है कि उनके माता-पिता कही है और कष्ट मे है, तो वे माता-पिता की कल्पना और उनके कष्ट के विचार से ही रो देते है। जन्म-भूमि के स्मरणमात्र से उनकी आँखो से आँसुओ की झडी लग जाती है। पर, न जाने क्यो, सखी, मुझे तो कभी रोना आता ही नही। जबसे मुझे सुधि है किसी वस्तु मे भी मुझे इतनी आसक्ति नही जान पडती कि उसे छोडने मे मुझे क्लेश हो।

राधा—तुम महा निर्मोही हो, महा निष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नहीं, पत्थर है।

कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मै तो अपने को ऐसा नही मानता, राधा। क्या मैं हरेक को सुख पहुँचाने का सदा उद्योग नही करता ? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है ? परन्तु हाँ, इन सब कृत्यो के करने ही मे मुझे सुख मिल जाता है, इनमे मेरी आसक्ति नहीं है; फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मैं देखता हूँ कि जीवन मे कुछ ऐसी घटनाएँ होती है, जो निसर्ग से प्रेरित जान पडती है, मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हे नही रोक सकता, कभी-कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दु ख पाता है, एव वह कार्य भी नही रुकता। मेरा मथुरा-गमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अत मै उसके आडे नही आना चाहता।

राधा—तुम्हारी सारी बाते कभी मेरी समझ मे नही आती, पर हॉ, कुछ-कुछ समझ लेती हूँ। इतना मै जानती हूँ कि तुम हम लोगो पर उतना प्रेम नही करते जितना हम तुम पर करते है।

कृष्ण—यह नही है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करती हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नही, वरन् किसी-किसी से शत्रुता भी रखती हो, मुझमे ऐसा नही है, यही अन्तर है। मै सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

राधा—(सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर) अब तो तुम पकड गये, जिन दुष्टो को तुमने मारा उनपर भी प्रेम करते थे?

कृष्ण—हॉ, उनपर भी।

राधा—(आश्चर्य से) जिनको मारा उनपर प्रेम! कैसी बात करते हो, कन्हैया!

कृष्ण—हॉ, राधा, उनपर भी प्रेम, उनपर भी। वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वय दु ख पाते थे। उनका इस जन्म मे सुधार असम्भव था, अत मैने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक-से है, क्यो? फिर न जाने हम ही लोग तुम पर क्यो प्राण दिये देते है।

कृष्ण—तुम्हारी इस कृति मे भी हानि नही है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति मे बिना एक बात के तुम्हे सच्चा सुख कभी न मिलेगा।

राधा—(उत्कंठा से) वह क्या, सखा?

कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यो नही मान लेती? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को

मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसीकी सेवा मे दत्तचित्त हो जाओ। सेवा मे तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी क्योंकि भेद-भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य मे समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई मे दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई मे भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा। और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।

राधा—(आश्चर्य से) क्या कहा? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे ससार को कृष्ण! तुम क्या अपने को राधा और सारे ससार को राधा मान सकते हो?

कृष्ण—मै तो अपने को कृष्ण और सारे ससार को कृष्ण मानता हूँ, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे ससार को राधा मानने में आनन्द मिले तो मै यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय मे मुझपर अत्यधिक अनुराग है। इसीसे मैंने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

राधा—(कुछ सोचकर) मुझसे तो ऐसा नही माना जाता।

कृष्ण—जब तक नही माना जाता तब तक दु ख ही रहेगा।

राधा—पर, कौन-कौन ऐसा मान सकता है?

कृष्ण—बहुत कम लोग, इसीलिए ससार में अधिक दुखी दिखते है।

राधा—पर, मै मानूँ कैसे, सखा? इसका भी तो उपाय बताओ, मै कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है?

कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नही होता, उसका अनुभव करना चाहिए, यह अभ्यास से होगा, एक जन्म के अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही।

राधा—यह तुम्हे अनुभव होता है ?

कृष्ण—हाँ, होता है।

राधा—कबसे ?

कृष्ण—जबसे मुझे सुधि है।

राधा—मुझे भी सुधि तो बहुत शीघ्र आयी, सखे, पर ऐसा अनुभव नही हुआ।

कृष्ण—औरो से तुम्हे शीघ्र होगा, इसीलिए तो तुमसे प्रयत्न करने को कहता हूँ।

राधा—(कुछ ठहरकर) अच्छा, यह तो जाने दो, यह कहो कब आओगे ?

कृष्ण—कुछ नही कहा जा सकता, कदाचित् कभी न आऊँ।

राधा—(घबराकर) तब तुम्हारे बिना मैं प्राण कैसे रखूँगी ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) तुमने तो कहा न कि मैं निर्मोही हूँ, फिर क्यो ऐसे निष्ठुर पर इतना प्रेम करती हो ?

राधा—यह मेरे हाथ की बात नही है। मै ही क्या, नद बाबा और यशोदा मैया का क्या होगा ? न जाने कितने व्रजवासी तुम्हारे बिना मर जायँगे, कितनो की रो-रोकर आँखे फूट जायँगी, कितने बिलख-बिलख-कर रोगी हो जायँगे। प्यारे, तुम्हारे बिना यह व्रज-भूमि मरु-भूमि बन जायगी। तुम तो सबको सुखी करने का उद्योग करते हो, सखा ?

कृष्ण—जहाँ तक मुझसे हो सकता है, वही तक तो।

राधा—फिर व्रज के लिए यह यत्न न होगा ?

कृष्ण—यह कहाँ कहता हूँ। मै तो यह कहता हूँ कि कदाचित् न लौट सका। समझ लो, वहाँ इससे भी आवश्यक और महत्त्व का कार्य सम्मुख आ गया ?

राधा—तो फिर व्रजवासी मरे ?

कृष्ण—नही, प्रयत्न करो कि ऐसा न हो।

राधा—और फिर भी हुआ तो ?

कृष्ण—पर, मुझे विश्वास है कि तुमने यदि प्रयत्न किया तो यह कभी नही होगा।

राधा—नही, नही, सखा, तुम्हे व्रज लौटना होगा।

कृष्ण—यत्न करूँगा।

राधा—(आँसू भर कर) ओहो ! सचमुच तुम बडे निष्ठुर हो, बडे निर्मोही हो। (कुछ ठहर कर) अच्छा, एक बार फिर मुरली तो सुना दो। फिर एक बार इस ध्वनि को सुन लूँ, सखा। इन कानो को फिर एक बार इस गूँज से भर लूँ, इस हृदय को फिर एक बार इस तान से पूर्ण कर लूँ, कदाचित् यह अन्तिम बार ही हो।

कृष्ण—यह लो, राधा, यह लो।

[कृष्ण मुरली बजाते है। राधा उनके कन्धे पर सिर लगाकर उनसे टिककर खड़ी होती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुल की एक गली

समय--प्रात:काल

[छोटे-छोटे झोपड़े दिखायी देते हैं। एक सकरी-सी गली है। दो गोपो का एक ओर से तथा दो का दूसरी ओर से प्रवेश। वे श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हैं। गुंज के भूषण पहिने हैं।]

एक--आज चला जायगा, व्रज का सर्वस्व-सुख चला जायगा। महर ने वृद्धावस्था मे ऐसा पुत्र पाया था जैसा व्रज मे कभी किसीने नही पाया। कृष्ण विना नन्द बाबा और यशोदा मैया कैसे जीवित रहेगी और कैसे जीवित रहेगा यह व्रज, भैया?

दूसरा--अरे भैया, ऐसा क्यो विचारते हो? दो ही दिनो मे कृष्ण लौट आयँगे।

पहला--कौन जानता है क्या होगा? राजा कस दुष्ट है यह तो जग-विख्यात है। पिता को कारागृह मे रखा है। बहन देवकी और बहनोई वसुदेव भी बदी हैं। सुना नही, कृष्ण को वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही माना जाता है। राजा का विश्वास है कि वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही उन्हे मारेगा। कृष्ण को मारने नित नये दुष्ट व्रज मे भेजता था, आज कृष्ण को ही मथुरा बुलाया है। भैया, या तो वह इन्हे मार डालेगा या इन्हे भी कारागृह मे रख देगा।

चौथा--क्यो? कदाचित् कस का विश्वास ही सत्य निकले, कृष्ण यथार्थ मे ही वसुदेव के पुत्र हो और ये ही कस को मार डाले।

पहला--अरे भैया, कहाँ ग्यारह वर्ष के कृष्ण और कहाँ वह महारथी, पराक्रमी राजा।

दूसरा--यह तो न कहो, यही उन्होने कितने पराक्रमी दुष्टो का सहार कर डाला? क्या पूतना स्त्री होकर भी कम पराक्रमी थी? शकट,

वत्स, बक, अघ, धेनुक, प्रलम्ब, शखचूड, वृषभ, केशी, व्योम आदि दुष्ट कम पराक्रमी थे? यह बालक बडा अद्भुत है, भैया, बडा विलक्षण है।

पहला—(कुछ ठहरकर सोचते हुए) यदि यह भी मान ले, तब तो यह प्रमाणित ही हो जायगा कि कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र है। फिर वे राजसी महलो मे रहेगे, या हमारे झोपडो मे लौटेगे? किसी भी अवस्था मे व्रज अनाथ हो जायगा।

दूसरा—(कुछ सोचते हुए) हाँ भैया, यह तुमने ठीक कहा, यह तो सच है, तब हम क्या करे?

पहला—करने को क्या है, भैया? जिस प्रकार सर्प अपनी मणि को खोकर आजन्म रोता है वैसे ही हम भी इस निधि को खोकर जन्म भर रोएँगे।

चौथा—हाय! हाय! सब कुछ चला जायगा। सचमुच व्रज का सर्वस्व चला जायगा। कृष्ण के एक-एक चरित्र नेत्रो के सम्मुख घूम रहे है। इस अवस्था मे भी उन्होने हमारे कैसे-कैसे उपकार किये? पराक्रमी दुष्टो को मार हमारी रक्षा की, इतना ही नही, भैया, देखो, अपने प्राणो तक को तुच्छ मान काली नाग के गृह मे अकेले घुस उसे व्रज से निकाल सदा के लिए यमुना-तट को भय रहित कर दिया। दावानल से बाहर निकाल हमे और हमारे गोधन को बचाया। घोर वृष्टि मे गोवर्धन की कन्दराओ मे लेजा हमारे प्राणो की रक्षा की। हमारी धर्मान्धता निवारण कर हमारे सच्चे धर्म गो-सेवा और गोवर्धन की ओर हमे प्रवृत्त किया। हमारी सामाजिक कुरीतियो का जब साधारण रीति से अन्त नही होता था, तब हमारी कुमारियो के वस्त्र तक हरण कर उन्हे ऐसा दण्ड दिया कि ये फिर कभी जल मे नग्न न घुसे।

तीसरा--और आनन्द क्या हमे कम दिये ? हर ऋतु मे ही नये-नये प्रमोद होते थे। होली मे कैसा उत्सव होता था ? शरद पूर्णिमा के सुख का तो शब्दो मे वर्णन नही हो सकता, वह नृत्य और सगीत तो स्वर्गीय था, स्वर्गीय । कैसा समा बँधा था ! सभी गोप जो उस रास-मण्डल मे नाचे थे, कृष्णवत् दिखते थे और सभी गोपिये राधा के समान। फिर घर मे अटूट गोरस रहने पर भी दूसरो के आनन्द-हेतु नित्य गोरस की चोरी होती थी और दान माँगा जाता था।

पहला--भैया, गोपराज वृषभान की इच्छा भी पूर्ण न हुई, राधा का विवाह भी वे कृष्ण से अब कदाचित् ही कर सके।

दूसरा--बुरी बात न विचारना ही अच्छा है, यदि कृष्ण लौट आये तो फिर जैसा का तैसा सुख हो जायगा।

पहला--हाँ, यदि किसीको निराशा मे भी आशा दिखे तो आशा मे आनन्दित रहना बुरा नही है।

दूसरा--और यदि दुःख ही पाओगे तो क्या कर लोगे ? राजा की आज्ञा के विरुद्ध न नन्द उन्हे व्रज मे रख सकते है और न वृषभान ही, फिर हम लोग कौनसी वस्तु हैं।

[कई गोपियो का शीघ्रता से प्रवेश।]

पहला--अरे, कहाँ भागी जा रही हो, गोपिकाओ ?

एक गोपी--कृष्ण का रथ रोकने।

दूसरा--जो काम नन्द के साहस के बाहर था, वृषभान की छाती जिसे करने न चली, हम लोग घरो मे चाहे फूट-फूटकर रोते रहे, पर राजा के भय से हम जो न कर सके, वह तुम स्त्रियाँ करोगी ! पगली हो पगली।

दूसरी गोपी—यदि तुम पुरुष चूडियाँ पहिन घर मे बैठ जाओ तो क्या हम स्त्रियाँ भी घर मे बैठी रहे ? दोनो तो नही बैठ सकते।

तीसरी—अरे, राजा की इस आज्ञा के विरुद्ध तुम व्रजवासियो ने ही मिलकर यदि विप्लव किया होता तो क्या आज व्रज की यह निधि इस प्रकार लुट जाती ?

चौथी—एक वार की कायरता से जन्म भर रोओगे, जन्म भर।

पाँचवी—देश मे जब पुरुष कायर हो जाते है तव अधिकारी किसी भी अत्याचार पर कटिवद्ध हो सकते है।

दूसरा—(अन्य गोपो से) अरे, ये गोपिकाएँ पगली हो गयी है, सर्वथा पगली। चलो, भैया, हम तो अपने घर ही भले।

[गोपियाँ नहीं सुनती और शीघ्रता से जाती है। गोपो का दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का मुख्य मार्ग

समय—प्रात काल

[एक-एक खण्ड के छोटे-छोटे गृह है। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। कृष्ण और बलराम रथ में बैठे हुए आते है। रथ में चार घोड़े जुते है। वह छतरीदार है। उसपर चमड़ा मढा है और चमडे पर सुवर्ण और चाँदी। छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वज है। रथ धीरे-धीरे चल रहा है। बलराम की अवस्था कृष्ण से कुछ अधिक है। स्वरूप कृष्ण से मिलता है,

पर वर्ण गौर है, वेश-भूषा कृष्ण के समान है। रथ के पीछे की ओर बड़ा भारी जन-समुदाय है।]

बलराम—(दुःखित स्वर से) कृष्ण, ब्रजवासियों का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुखी थीं। हाय! इस ब्रज की एक-एक बात आठों पहर और चौंसठों घड़ी स्मरण आवेगी।

कृष्ण—(मुस्कराते हुए) पर, आर्य, इससे क्या लाभ होगा? मेरा तो मत है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइए और पीछे की बातें भूलते। बहुत करके हम दो दिनों में लौट ही आवेंगे। (दाहनी ओर देख सारथी से) अरे सूत, यह देखो, कुछ गोपियाँ दौड़ी हुई आ रही हैं। उनकी मुद्रा और चाल से भास होता है कि ये कदाचित् रथ रोकने का प्रयत्न करेंगी। रथ जल्दी से बढ़ा दो, नहीं तो व्यर्थ का बखेड़ा होगा।

[सारथी रथ की गति तेज करता है।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—सन्ध्या

[डूबते हुए सूर्य की किरणो में यमुना की धारा चमक रही है। सघन वृक्ष है। अनेक गोपियें बैठी हुई गा रही है। सभी साड़ियाँ पहने और एक-एक वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। भूषण गुंज के है। मस्तक पर टिकली और माँग में सेंदूर तथा पैर मे महावर है।]

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सो, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सो, संपति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जु नाद सो, सन्मुख बान सह्यो॥

एक—ससार मे जब प्रीति करके किसीको सुख न हुआ तब हमें कैसे होता, सखि ? बारह वर्ष, पूरे बारह वर्ष बीत गये, दिन बाट देखी, रात

वाट देखी, प्रात काल वाट देखी, सन्ध्या बाट देखी, पर वे न आये, वारह वर्ष मे भी न आये।

दूसरी—हाँ सखि, कस मर गया, जरासिध बारह-बारह बार हार-हार कर लौट गया, पर, उन्हे गोकुल की सुधि लेने का भी अवकाश न मिला।

तीसरी—परन्तु, हम भी तीन कोस मथुरा न जा सकी।

चौथी—हम वहाँ जाकर क्या करती, सखि, और क्या करेगी? मथुरा-निवासी कृष्ण से हमारा क्या सम्वन्ध? हमारा प्रेम तो राजसी कृष्ण से, धनी कृष्ण से, वैभव-शाली कृष्ण से, प्रासादो के निवासी कृष्ण से, रण-विजयी कृष्ण से नही है। हमारा मथुरा से क्या काम, सखि? हम तो मोर-मुकुट, मकराकृत-कुण्डल और गुंजमालवाले उस भोले-भाले कृष्ण को चाहती है, जो गोकुल की इन कुञ्ज-गलियो मे घूम-घूमकर मुरली बजाता था, जो वृन्दावन की लता-कुञ्जो मे भटक-भटककर गउएँ चराता था, जो गोकुल की झोपडियो मे रहता और गोवर्द्धन की कन्दराओ मे विहार करता था। हमे तो अपना निर्धन कृष्ण, गवाँर कृष्ण चाहिए, सखि। वह कृष्ण मथुरा मे कहाँ?

[नेपथ्य में गड़गड़ाहट का शब्द होता है।]

एक—(जल्दी से) देखो, सखि, रथ का-सा शब्द हुआ। अरे, कृष्ण तो नही आ गये!

[कई गोपियाँ दौड़कर जाती हैं, शेष उत्सुकता से खड़ी हो उसी मार्ग की ओर देखती है। कुछ देर में गयी हुई गोपियाँ लौटकर आ जाती हैं।]

वापस आनेवाली में से एक—नही, सखि, भ्रम था, वह तो शकट था।

[सब फिर बैठ जाती है।]

दूसरी—अब व्रज मे गोरस की चोरी नही होती।

तीसरी—हाँ, सखि, और न हमसे कोई दान माँग हमारी दही की मटकी फोडता।

चौथी—न कही कोई दुष्ट ही आता है।

पाँचवी—हाँ, हाँ, शान्ति है, सखि, पूरी शान्ति।

छठवीं—पर, मृत्यु की-सी शान्ति है, जीवन की नही।

[नेपथ्य में वंशी-ध्वनि के सदृश शब्द होता है।]

एक—अरे, वशी कहाँ वज रही है? देखो तो कही कृष्ण आकर चुपचाप छिपकर वशी तो नही वजा रहे है?

[कुछ गोपियाँ दौडकर इधर-उधर जाती है, कुछ अचम्भित-सी चारो ओर देखती है। गयी हुई गोपियाँ कुछ देर में लौट आती है।]

लौट आनेवाली में से एक—नही, सखि, वायु बाँस मे घुस गयी थी, उससे शब्द हो रहा था।

[फिर सब बैठ जाती है।]

दूसरी—सखि, जिस नन्द-भवन मे नित नव त्यौहार होता रहता था, वह अब श्मशान-सा हो गया है।

तीसरी—अरे, वह तो वृषभान-नन्दिनी के कारण नन्द-यशोदा और वृषभान का शरीर वचा है, नही तो वे कब के पार लग गये होते।

चौथी—वे तीनो ही क्या, यदि राधा की सान्त्वना न होती तो न जाने कितने गोप-गोपी क्षीण हो-होकर मर गये होते और कितने रो-रोकर अन्धे हो गये होते।

पाँचवीं—पर, उन निर्मोही, निष्ठुर कृष्ण को इन सब बातो से क्या प्रयोजन ?

छठवी—इतने पर भी व्रजवासी उनके पीछे प्राण दिये देते है।

पहली—(उठते हुए बादल को देख) अरे, मेघ, तू तो श्याम है, उनसा ही तेरा वर्ण है, समवर्ण वालो मे तो बडी मित्रता रहती है, यहाँ से तू मथुरा भी जाता होगा, यहाँ की स्थिति क्यो नही उन निर्मोही को सुनाता।

दूसरी—(यमुना को देख) तुम भी तो श्याम हो, यमुने, उसी वर्ण की हो, तुम्हारे तट पर भी तो यहाँ उन निष्ठुर ने अनेक क्रीडाएँ की थी, तुम्ही यहाँ का थोडा वृत्तान्त उनसे कह दो, तुम तो वहाँ भी हो, सखि।

तीसरी—पर, इसे थोडे ही उनका वियोग है ? इसके तट पर मथुरा मे भी कोई न कोई क्रीडा नित्य होती होगी। दुखी से दुखी की हैं सहानुभूति रहती है, यह तो सुखी है, यह हमारी दशा क्यो उनसे कहने लगी ?

[वायु का एक झोका आता है।]

चौथी—अरी, वायु, तू भी तो स्त्री है, स्त्री के हृदय की व्यथा स्त्री ही जानती है। तेरी तो कही भी रोक-टोक नही है, यहाँ के झोपडो के भीतर भी तू प्रवेश करती है और मथुरा के प्रासादो मे भी जाती है, तू ही दुखी व्रज की अवस्था कृष्ण के पास ले जा।

[एक कोयल बोलती है।]

पहली—तू भी काली है, कोयल, कालो का बडा मधुर शब्द होता है, पर, रूप के समान हृदय भी उनका बडा काला रहता है। न बोल, यहाँ व्रज

में न वोल। एक ही काले के मधुर शब्दो को सुन-सुनकर व्रज की यह दशा हुई है। हम और कालो के शब्द नही सुनना चाहती। जा, वही मथुरा में वोल, मथुरा मे, जहाँ तेरा समवर्णी रहता है।

[एक भ्रमर आकर गुनगुन करता है।]

दूसरी—यह लो, यह दूसरा काला आ पहुँचा। अरे, इन कालो का कोई भरोसा नही।

[सब गोपियाँ गाती है।]

सखीरी, स्याम सबै इक सार।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अतर जारनहार ॥
कोकिल, भँवर, कुरंग, काग इन कपटिन की चटकार।
कमल-नयन मधुपुरी सिधारे, मिटिगो मंगलचार ॥
सुनहु सखीरी, दोष न काहू, जो विधि लिख्यो लिलार।
यह करतूति इन्है की नाईं, पूरब बिबिध विचार ॥

[गान पूर्ण होते-होते उनके अश्रुधारा वह निकलती है।]

एक गोपी—कहाँ तक रोये, सखी, कहाँ तक रोये।

दूसरी—अरे, पानी तो वर्षा-ऋतु मे ही वरसता है, पर ये नैन तो—

[फिर सब गाती है।]

सब—सखी, इन नैनन ते घन हारे।
बिनही ऋतु वरसत निसि-बासर,
सदा मिलत दोउ तारे ॥
एक—नेह न नैनन को कछू, उपजी वड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहे, तऊ न प्यास बुझाय ॥

दूसरी—लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हू, मिटै न भर हू भार॥

सब—ऊरध साँस समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
दिसन सदन करि बसे बचन खग दुख पावस के मारे॥
सखी इन०।

[राधा का प्रवेश। राधा की अवस्था अब लगभग तेईस वर्ष की है। इस अवस्था में भी यौवन के सौन्दर्य के स्थान पर क्षीणता ही दिख रही है। मुख पर शोक विराजमान है। राधा को देख गोपियाँ गान बन्द कर खड़ी हो जाती हैं।]

एक—आओ, दुखी व्रज की प्राणाधार राधा, आओ।

दूसरी—पधारो, आतप व्रज की शान्ति, पधारो।

तीसरी—स्वागत, इस मरु-भूमि की नीर, स्वागत।

चौथी—शुभागमन, इस अँधेरी रात्रि की चन्द्रकला, शुभागमन।

पाँचवी—विराजो, इस करुण-सिन्धु की नौका, विराजो।

राधा—सखियो, तुम फिर रुदन कर रही हो, क्यो? आह! कहाँ तक रोओगी, कहाँ तक रोओगी? बारह वर्ष रोते-रोते बीत गये, तुम्हें कहाँ तक समझाऊँ, सखियो, कहाँ तक समझाऊँ? मै भी बहुत रो चुकी हूँ। दिन और रात रोयी, उषा और सन्ध्या रोयी, ग्रीष्म और वर्षा रोयी शरद और हेमन्त रोयी, शिशिर और वसन्त रोयी, पर उससे क्षणिक शान्ति मिलने, दग्ध हृदय के वाष्प के नीर-रूप से नेत्रो द्वारा कुछ समय के लिए बह जाने के अतिरिक्त स्थायी शान्ति नही मिली। सहेलियो कृष्ण ने मुझसे अपने को ही कृष्ण मानने के लिए कहा था, और कहा था, इसके उपरान्त मै सबको ही कृष्ण-रूप मे देख उनकी सेवा मे दत्तचित हो जाऊँ,

पर, बारह वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी मैं इसमें सफल न हो सकी। आज अपनी और तुम्हारी शान्ति के लिए एक नया उपाय सोचकर आयी हूँ। देखो, आज से मैं अपना रूप कृष्ण-सा बनाने का विचार कर रही हूँ। आज से गोप और गोपिकाओ के सग मे नित्य कृष्ण की-सी लीलाएँ करूँगी। देखें, सखि, इससे हम सबो को कैसी शान्ति मिलती है? अच्छा, तुम मुझे कृष्ण मान लो और हम उनकी एक लीला आरम्भ करते है। हम लोगो ने उनकी समस्त लीलाओ पर पद्य रचना कर ही ली है, हम उनकी लीला पद्य मे ही करेंगी। इस समय यदि इससे कुछ सन्तोष हुआ तो फिर मै तत्काल कृष्ण का-सा रूप बना लूँगी। समझ लो, मै कृष्ण हूँ और तुमसे गोरस का दान माँगती हूँ। अच्छा मै गाती हूँ, तुम भी आरम्भ करना।

बहुत सी गोपियाँ—अच्छी बात है।

राधा—बहुत दिना तुम बच गयीं, हो, दान हमारौ मारि।
आजु लैहुगो आपनौ, दिन दिन कौ दान सँभारि।
नागरि, दान दै।

एक गोपी—या मारग हम नित गयीं, हो, कबहुँ सुन्यौ नहि कान।
आजु नयी यह होति है, लाला, माँगत गोरस दान।
मोहन, जान दै।

राधा—तुम नवीन अति नागरी हो, नूतन भूषन अंग।
नयौ दान हम माँगही, प्यारी, नयौ बन्यौ यह रंग।
नागरि, दान दै।

[गोपियो के निकट बढ़ती है।]

दूसरी गोपी—चंचल नैन निहारिए, हो, अति चंचल मृदु बैन।
कर नहि चंचल कीजिए, प्यारे, तजि अंचल चंचल नैन।
मोहन, जान दै।

राधा—उर आनँद अति ही बढ़्यो, हो, सुफल भये दोउ नैन।
ललित बचन समुझति भई, प्यारी, नेति नेति ए बैन।
नागरि, दान दै।

[और निकट बढ़ती है।]

तीसरी गोपी—नैकि दूरि ठाड़े रहौ, हो, तनक रहौ सकुचाइ।
कहा कियौ मनभाँवते, मेरे अचल पीक लगाइ।
मौहन, जान दै।

राधा—कहा भयौ अंचल लगी हो, पीक हमारी जाइ।
याके बदलै ग्वालिनी, मेरे नैनन पीक लगाइ।
नागरि, दान दै।

चौथी गोपी—(भौंहें चढ़ाकर)
सूधे बचनन माँगिए, हो, लालन, गोरस दान।
मौहन भेद जनाइकै, लाला, कहत आन की आन।
मौहन, जान दै।

राधा—(मुस्कराकर)
जैसी हम कछु कहति है, हो, ऐसी तुम कहि लेउ।
मन मानै सो कीजिए, पै दान हमारो देउ।
नागरि, दान दै।

पाँचवीं गोपी—(सिर हिलाते हुए)
गोरे श्रीनँदराइजू, हो, गोरी जसुमति माइ।
तुम याही तै साँवरे, लाला, ऐसे लच्छिन पाइ।
मौहन, जान दै।

राधा—(हाथ ऊपर उठाकर)

मन मेरो तारन बसै, हो, औ अंजन की रेख।
चोखो प्रीति निबाहिए, प्यारो, जासौ साँवल भेख।
नागरि, दान दै।

छठवीं गोपी—(मुंह बिचकाकर)

ठाले-टूले फिरत हौ, हो, और कछू नहिं काम।
घाट-बाट रोकत फिरौ, तुम आन न मानत स्याम।
मौहन, जान दै।

राधा—(एक लकडी उठाकर लकड़ी से पृथ्वी ठोकते हुए)

यहाँ हमारौ राज है, हो, ब्रज-मंडल सब ठौर।
तुमहि हमारी कुमुदिनी, हम कमल-बदन के भौर।
नागरि, दान दै।

[लकड़ी उठाकर मार्ग रोककर खडी होती है।]

सातवी गोपी—(गिड़गिडाकर)

काल बहुरि हम आइ हैं, हो, नव गोरस ले ग्वारि।
नीकी भाँति चुकाइ है, मेरे जीवन-प्रान-अधारि।
मौहन, जान दै।

राधा—सुनि गोपी, नवनागरी, हो, हम न करै विसवास।
कर कौ अमृत छाँड़िके, को करै काल की आस।
नागरि, दान दै।

[सब गोपी भाग जाती है, एक रहती है।]

रही हुई गोपी—सँग की सखीं सब फिर गईं, हो, सुनि हैं कीरति माय।
प्रीति हिये मे राखिए, प्यारे, प्रगट किये रस जाय।
मोहन, जान दै।

[यह गोपी भी लौटती हुई भागती है। राधा पीछे-पीछे जाने लगती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—मथुरा मे कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान के पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है। दोनो ओर दो स्त हैं जिनके नीचे कुंभी और ऊपर भरणी है। कृष्ण और बलराम का प्रवेश कृष्ण की अवस्था लगभग अट्ठाइस वर्ष की और बलराम की उनसे कु अधिक है। वेश राजसी है। कृष्ण के पीत रेशमी अधोवस्त्र और बलरा के नील रेशमी अधोवस्त्र और उसी रंग के उत्तरीय हैं। रत्नजटित कुण्ड हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। सिर पर किरीट है लम्बे केश हैं, पर मूँछे-दाढ़ी नही है। कृष्ण का स्वरूप ठीक राम के सदृ जान पडता है।]

कृष्ण—कस और उसके साथी दुष्टो के निधन से भी शूरसेन देश शान्ति न हो सकी। सत्रह वर्ष हो चुके पर प्रति वर्ष जरासिन्ध का आक्रम होता है। शरद ऋतु आयी कि मगध की सेना पहुँची। तात, मेरे प्रति उसक यह व्यक्तिगत द्वेष है।

बलराम—स्वाभाविक ही है, कृष्ण, तुमने उसके जामात्र कस को मारा है।

कृष्ण—परन्तु, आर्य, मै तो सिहासन पर भी नही बैठा, महाराज उग्रसेन राज्य के अधिकारी थे और वे ही सिहासनासीन है।

बलराम—इससे क्या ? मथुरेश तो तुम ही कहलाते हो। सब जानते है कि यथार्थ मे अधिकार तुम्हारे हाथ मे है।

कृष्ण—इसका कोई न कोई उपाय सोचना होगा। प्रति वर्ष उसे हराकर देख लिया, पर वह फिर भी चढ आता है।

बलराम—मेरा तो स्पष्ट मत है कि मगध पर चढाई कर उस देश को ही जीत लेना चाहिए।

कृष्ण—नही, नही, तात, यह कभी नही हो सकता। आपने इतने बार मुझसे यही कहा और मैंने आपसे निवेदन भी किया कि दूसरे के देश पर जीत के लिए आक्रमण करना नीचता है।

बलराम—फिर प्रति वर्ष की इस मार-काट को बन्द करने का और क्या उपाय है ?

कृष्ण—कोई न कोई अन्य उपाय निकालना होगा।

[उद्धव का प्रवेश। उद्धव गौर वर्ण के सुन्दर युवक हैं। अवस्था कृष्ण से कुछ कम दिखती है, वेश-भूषा कृष्ण के सदृश है।]

कृष्ण—(उद्धव को देखकर) अच्छा, तुम आ गये, उद्धव, तुम्हे इसलिए बुलाया है कि तुम कुछ दिनो के लिए व्रज जाओ। मैंने इतने दिनो तक, कम से कम एक बार, वहाँ जाने का विचार किया, पर सत्रह वर्ष हो चुके, यहाँ के राजनैतिक पचडो के कारण निकलना ही नही होता। नद

बाबा, यशोदा मैया, वृषभान नृप, राधा तथा सब गोप-गोपी मेरे वियोग से दुखी होगे। उन्हे सान्त्वना देना और शीघ्र लौट आना।

बलराम—हाँ, हाँ, बन्धु, अवश्य हो आओ।

उद्धव—बहुत अच्छा, मुझसे जहाँ तक होगा, जितना होगा, सान्त्वना देऊँगा, पर यथार्थ मे तो उन्हे आप दोनो के वहाँ जाने से ही सान्त्वना मिलेगी। यदि वे पूछे कि आप वहाँ कब आयँगे तो मैं क्या कहूँ?

कृष्ण—यहाँ का सारा वृत्तान्त कह देना। कहना कि मेरी उत्कट इच्छा है कि वहाँ अवश्य आऊँ, पर यहाँ से हट सकूँ तब तो। **(बलराम से)** अच्छा चलिए, आर्य, अभी तो सभा है, वहाँ आज बहुत से आवश्यक कार्य है।

[तीनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—रात्रि

[चाँदनी छिटकी हुई है जिसमें यमुना का जल चमक रहा है। राधा अपना स्वरूप कृष्ण के सदृश बनाये हुए है। अनेक गोप और गोपिकाएँ है। राधा वंशी बजा रही है। गोप-गोपी गाते हुए रास कर रहे हैं।]

नाचति वृषभानु-कुँवरि, हंस-सुता पुलिन मध्य,
हंस-हंसिनी मयूर मंडली बनी।

रूप-धार नंदलाल, मिलवत झप ताल चाल,
गुजत मधुमत्त मधुप, कामिनी-अनी ॥
पदक लाल कंठ-माल, तरणि तिलक झलक भाल,
अबनि फूल बर दुकूल, नासिका मनी ।
नील कंचुकी सुदेस, चंपकली ललित केस,
मुकुलित मणि बनज-दाम कटि सुकाछिनी ॥
मर्कत मणि बलय-राव, मुखरित नूपुर-सुभाव,
जाबक जुत चरननि नख-चद्रिका घनी ।
मद हास, भ्रुव-बिलास, रास-लास सुख-निबास,
अलग लाग लेति निपुन, राधिका गुनी ॥

[एक गोप के संग उद्धव का प्रवेश। उद्धव को देख नाच-गाना बद हो जाता है।]

आगन्तुक गोप—(राधिका की ओर सकेतकर, उद्धव से) यही हमारे व्रज के दुखी जीवन की अवलब राधा है। अब हमारे कृष्ण और राधा दोनो ये ही है।

[उद्धव राधा को दंडवत् प्रणाम करते हैं। राधा उन्हे उठाकर कहती है।]

राधा—हे ! हे ! महाराज, आप क्षत्रिय-कुल मे उत्पन्न है, मुझ आभीर बाला को इस प्रकार प्रणाम कैसे करते है ! देव, प्रणाम तो मुझे आपको करना चाहिए।

उद्धव—आपको ऐसा प्रणाम मुझे ही क्या स्वय कृष्ण को भी करना चाहिए, देवि। इस व्रज मे आये मुझे अब यथेष्ट समय हो गया है। क्या

नद बाबा, क्या यशोदा मैया और क्या अन्य व्रजवासियो से मैने आपके जिन चरित्रो को सुना है, उनके कारण मै मुक्तकठ से कह सकता हूँ कि आप इस पृथ्वी पर अद्वितीय है। भगवती, यदि आप व्रज मे न होती तो यह व्रज कृष्ण के शोक-समुद्र मे डूब गया होता, कृष्ण की विरह-वृष्टि ने इस व्रज को बहा दिया होता। क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी, सभी को तो आपसे सान्त्वना मिली है, देवि, सभी को। आपको एक दडवत प्रणाम, राधे। अरे, एक क्या अनेक भी यथेष्ट नही है।

राधा—कृष्ण-सखा, मै आपके आगमन का वृत्त सुन चुकी थी, पर मेरा साहस आपसे मिलने का नही होता था। आपको देख सत्रह वर्ष पूर्व का मेरा घाव, जो गत पाँच वर्ष पूर्व तक दिन और रात बहा करता था, कही पुन हरा न हो उठे, इसीका मुझे भय था। मेरी आप क्या प्रशसा करते है, उद्धव ? मै पढी नही, लिखी नही, ज्ञान नही जानती, व्रत नही जानती, योग नही जानती, कोई साधना नही जानती। मेरे पास तो एक वस्तु है—केवल एक, कृष्ण-बधु, और वह है प्रेम, कृष्ण-प्रेम। उन्हीका एकादश वर्ष का मनोहर स्वरूप, मेरे हृदय मे, विराजित है। उन्हीका मै ध्यान करती हूँ और उन्ही के नाम का जप। बारह वर्ष तक उनके लिए रोती रही, ऐसा रोयी, हरि-सखा, जैसा ससार मे कदाचित् कोई न रोया होगा। जब उससे सान्त्वना न मिली, तब गत पाँच वर्ष से उन्ही के नाना चरित्र करती हुई इस व्रज-मण्डल मे घूमती रहती हूँ। इससे कुछ शान्ति मिली है। अभी भी रोती हूँ, पर उस रुदन और इस रुदन मे अन्तर है। वह दु ख का रुदन था, यह प्रेम का रुदन है। उन्हीके कथनानुसार सर्वत्र उन्हे देखने का उद्योग करती हूँ और उन्हीकी बतायी हुई सबकी सेवा मेरा धर्म, वही मेरा कर्तव्य है। मै भोली-भाली, सीधी-साधी, आभीर-बाला और कुछ नही जानती—और कुछ नही। आज पूर्णिमा थी, अत कृष्ण ने जैसा रास किया था, वैसा करने की हम लोग प्रयत्न कर रही थी।

उद्धव—तो मै उसके दर्शन से क्यो वचित रखा गया हूँ, देवि ? क्या मेरे सामने वह रास नही हो सकता ?

राधा—क्यो नही हो सकता, अवश्य हो सकता है। हमारे पास, हमारे प्राणवल्लभ कृष्ण के प्रेम मे कोई लोक-लज्जा नहीं है, उद्धव। हमारा-उनका शुद्ध, नितान्त शुद्ध प्रेम था, बालको का प्रेम और हो ही कैसा सकता है ? (गोप-गोपिकाओ से) नृत्य-सगीत आरभ करो, मथुरा-पुरी से आये हुए हरि-सखा हम ग्रामीण आभीरो का नृत्य-गान देखना चाहते है।

[पुन. नृत्य-गान प्रारभ होता है।]

चलहु राधिके सुजान, तेरे हित गुन-निधान,
रास रच्यो कुँवर कान्ह, तट कलिंद-नंदिनी।
नर्तत जुवती समूह, रास-रंग अति कुतूह,
बाजत मुरली रसाल, अति अनदिनी॥
बसीवट निकट जहाँ, परम रमन रेत तहाँ,
सरस सुखद बहत मलय वायु मदिनी।
जाती ईषद् विकास, कानन अतिसय सुवास,
राकानिसि सरद मास, विमल चंदिनी॥
ब्रजबासी प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि,
नख-सिख-सौंदर्य सीम, दुख-निकंदिनी।
विलसो भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख-सिधु झेलि,
गोवर्द्धन-धरन-केलि, त्रिजग-वदिनी॥

उद्धव—(नृत्य-गान पूर्ण होने पर) अद्भुत है यह नृत्य और अद्वितीय

है यह गान। कृष्ण के प्रति आपका विलक्षण प्रेम है। धन्य है आप और धन्य हैं वे कृष्ण, उपासक और औपास्य दोनो ही धन्य है।

राधा—क्यो उद्धव, कभी कृष्ण भी इस व्रज और यहाँ के निवासियो का स्मरण करते हैं ?

उद्धव—उनके मन मे क्या है, यह कहना तो . ।

राधा—(जल्दी से) ठहरिए, ठहरिए, उद्धव, मै अपने व्रत से पुन भ्रष्ट हो रही हूँ। इसीलिए आपसे मैं मिलती नही थी, मुझे भय लगता था कि आपसे मिलकर कही सत्रह वर्ष का पुराना मेरा घाव फिर न हरा हो जाय। मुझे इससे कोई प्रयोजन नही है कि वे व्रज को स्मरण करते है या नही, उन्हे व्रजवासियो की स्मृति आती है या नही, मेरा प्रेम उनके प्रेम को परिवर्तन मे नही चाहता, मुझे उनको प्रेम करने मे सुख मिलता है, इसीलिए मै उनसे प्रेम करती हूँ, इस आशा पर नही कि वे भी मुझसे प्रेम करे। क्षमा कीजिए, हरि-सखा, मै अब यहाँ नही ठहरूँगी, मुझे बडा भय लग रहा है कि कही मेरा घाव फिर से सर्वथा ही हरा न हो जाय। हाय ! सत्रह वर्ष के पश्चात् भी यह दशा ! यह घाव अभी भी पूरा नही भरा, पूरा नही भरा !

[राधा का शीघ्रता से प्रस्थान। उद्धव आश्चर्य से देखते है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—मथुरा-पुरी का एक मार्ग

समय—सध्या

[अनेक खण्डो के भवन है। चौडा मार्ग है। चार पुरवासियो का प्रवेश। सब अधोवस्त्र और उत्तरीय एव सुवर्ण के कुंडल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये है।]

पहला—लो, बन्धु, इस वर्ष दो आक्रमण होगे, जरासिध का तो हर वर्ष होता ही था, इस वार कालयवन का भी होगा।

दूसरा—यह तो कस के अत्याचार से भी भयानक आपत्ति है, अठारह वर्ष से नित्य की यह मार-काट असह्य है, बन्धु !

तीसरा—कितने जन और कितने धन का सहार हो चुका !

चौथा—कृष्ण और जरासिध की व्यक्तिगत शत्रुता के कारण प्रजा यह क्लेश पा रही है।

पहला—जरासिध ने ही कालयवन को भडकाया है।

दूसरा—मगध पर आक्रमण कर हम उसके राज्य को ले ले सो भी नही हो सकता।

तीसरा—कैसे हो ? वह कृष्ण के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरा—अरे, वही हो जाता तो अब तक वह कब का नष्ट हो चुका होता। सत्रह वार हमने उसे हराया तो क्या आक्रमण कर हम मगध जीत लेते ?

चौथा—पर, करोगे क्या ? उग्रसेन तो नाममात्र के राजा है, सारी सत्ता यथार्थ मे कृष्ण के हाथ मे है।

पहला—सचमुच बडी भयानक परिस्थिति है। अच्छा, चलो तो और

थोड़ा पता लगावे कि कब तक आक्रमण होता है।

[चारो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रात काल

[वही दालान है जो दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में थी। विचार-मग्न कृष्ण खड़े हैं। उद्धव का प्रवेश।]

कृष्ण—(उद्धव के आगमन की आहट सुन उन्हे देखकर) अच्छा तुम व्रज से लौट आये ?

उद्धव—हाँ, अभी-अभी, आ रहा हूँ, यदुनाथ, वहाँ की दशा तो बडी अद्‌भुत और करुण ।

कृष्ण—(बात काटकर) चाहे वहाँ की दशा अद्‌भुत हो या करुण, इस समय वहाँ की दशा सुनने का समय नही है। तुमने सुना नही कि इस बार शूरसेन देश पर दो आक्रमण हो रहे है—जरासिंध और कालयवन का।

उद्धव—अभी-अभी सुना है ।

कृष्ण—फिर क्या करना होगा ?

उद्धव—लडना होगा और क्या करना होगा, यदुनाथ।

कृष्ण—(दृढ़ता-भरे स्वर में) नही, लडना नही होगा।

उद्धव—(आश्चर्य से) तब क्या करना होगा ?

कृष्ण—देखो, उद्धव, इस युद्ध का इस प्रकार कभी अन्त न होगा। यह अट्ठारहवी बार आक्रमण हुआ है। प्रजा इन नित्य के आक्रमणो से तलमला उठी है। अपार धन और जन का सहार हो चुका है। मैने कई बार तुमसे कहा ही है कि शूरसेन देश पर जरासिंध के आक्रमणो का कारण मेरी व्यक्तिगत शत्रुता है और कुछ नही। उग्रसेन उसके समधी है, उनसे उसकी कोई शत्रुता नही। एक व्यक्ति के कारण नित्य की यह मार-काट होना अनर्थ है। सत्रहवी बार के युद्ध मे उसके मुख्य सहायक हस और डिम्भक मार डाले गये तो वह अट्ठारहवी बार ~~कालयवन~~ को सहायक बनाकर ले आया।

उद्धव—तो मगध पर आक्रमण कीजिए।

कृष्ण—वह तो और भी बुरा है।

उद्धव—तब फिर क्या कीजिएगा ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैने इसका उपाय सोच लिया है।

उद्धव—क्या ?

कृष्ण—मै युद्ध नही करूँगा, भागूँगा।

उद्धव—(आश्चर्य से, चौककर) आप हँसी तो नही कर रहे है !

कृष्ण—नही, मै नितान्त गभीर होकर कह रहा हूँ।

उद्धव—आप युद्ध छोडकर भागेगे, इसका क्या अर्थ ?

कृष्ण—युद्ध छोडकर भागने का अर्थ युद्ध छोडकर भागना ही हो

सकता है, कोष मे एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ न निकलेगा।

उद्धव—पर, यदुनाथ, आप युद्ध से भागेगे कैसे ?

कृष्ण—दोनो पैरो से, यदि सिर के बल भागा जा सकता हो तो वह और भी अच्छा है। (**हँस देते है।**)

उद्धव—यदुनाथ, यह हँसी की बात नही है, यह बात सुनकर मेरी तो साँस घुट रही है और आपको इसमे भी हँसी सूझती है।

कृष्ण—मैं हँसी नही कर रहा हूँ, उद्धव ।

उद्धव—(**खीझकर**) पर, युद्ध मे भागना अधर्म है, यदुनाथ।

कृष्ण—क्योकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते है।

उद्धव—हाँ, किन्तु ।

कृष्ण—(**बात काटकर**) किन्तु-परन्तु कुछ नही, प्रचलित बातो के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगो को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासिंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सद्सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पडता, क्योकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद्सिद्धान्तो की रक्षा से ही हो सकती है, परन्तु जरासिध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तव तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है, तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है, अत इस समय युद्ध

करना धर्म नही, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध से भागना ही धर्म है।

उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेगे।

कृष्ण—(मुस्कराकर) मुझे लोगो के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेगे ? मै युद्ध मे से भागूँगा, अवश्य भागूँगा। युद्ध-क्षेत्र पर जाकर जरासिध और कालयवन दोनो के सामने से, दोनो की सेनाओ के बीच मे से, भागूँगा, जिससे उन्हे विश्वास हो जाय कि मै ही भागा हूँ, कोई दूसरा नही। फिर मै नि शस्त्र होकर भागूँगा तथा इतने वेग से भागूँगा कि कोई मुझे पकड भी न सकेगा। मैने द्वारका नामक एक द्वीप का पता लगाया है, वहाँ जाकर बसूँगा। शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्तपात और मार-काट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई उपाय नही है।

[कृष्ण का हँसते हुए प्रस्थान। उद्धव कुछ सोचते-सोचते नीचा मस्तक किये पीछे-पीछे जाते है। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—शूरसेन देश की सीमा पर रणक्षेत्र

समय—प्रात काल

[दूर-दूर तक मैदान दिखायी देता है। एक ओर यादव-सेना और दूसरी ओर आधे भाग में एक प्रकार के वस्त्र पहने और आधे भाग में दूसरे प्रकार के वस्त्र पहने दो सेनाएँ खड़ी है। इन दोनो सेनाओ के सेना-

पतियों की वस्त्र-भूषा सैनिकों से भिन्न प्रकार की है, जिससे वे सेनापति मालूम होते हैं। सैनिको के कवच और शस्त्र सूर्य की दीप्ति से देदीप्यमान हैं। युद्ध आरम्भ होने के शंख बजते ही हैं। निःशस्त्र कृष्ण का प्रवेश।]

एक सेनापति—(निःशस्त्र कृष्ण को देख आश्चर्य से दूसरे सेनापति से) कालयवन महाराज, यही तो कृष्ण है, यही ?

दूसरा सेनापति—पर, मगधराज, युद्ध के समय यह कैसा वेश है ? आप भूल कर रहे होगे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध मे आयेगा ?

पहला—नही, नही, मैंने एक बार नही सत्रह बार इसे देखा है; भूल कदापि नही हो सकती।

दूसरा—तब यह हमारी शरण आया है।

पहला—यही समझना चाहिए, और क्या।

[कृष्ण उनके सम्मुख से भागते हैं।]

पहला—(अत्यंत आश्चर्य से) अरे, यह तो भाग रहा है, भाग रहा है !

दूसरा—कहाँ भाग कर जायगा, मै अभी पीछा करता हूँ। (पीछे दौड़ता है।)

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—द्वारका-पुरी मे कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रात काल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा के प्रासाद की थी, पर, रंग भिन्न है। कृष्ण और उद्धव टहल-टहलकर बातें कर रहे हैं।]

कृष्ण—देखो, उद्धव, वही हुआ न, जो मैंने सोचा था। आज पूरे दो वर्ष हो चुके, शूरसेन देश पर मगध का कोई आक्रमण नही हुआ। काल-यवन का मुचकुद ने सहार भी कर दिया, यह अनायास ही हो गया। अधर्मियो का क्षय कभी-कभी इस प्रकार अनायास ही हो जाता है।

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, यही हुआ।

कृष्ण—मेरे अकेले की अकीर्ति से देश का कल्याण हो गया; उस अपार जन और धन का सहार बचा।

उद्धव—पर, अब तो कोई अकीर्ति भी नही रही, द्वारकेश। सभी

यह कहते है कि आपने देश-हित की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

कृष्ण—यह प्राय होता है, किस उद्देश से किसने कौनसा काम किया, कभी-कभी चाहे यह प्रकट न हो, पर अधिकतर अन्त मे स्पष्ट हो ही जाता है। पर, कोई कुछ कहे भी तो इसकी मुझे क्या चिन्ता है ? मेरी अन्तरात्मा को यह नही कहना चाहिए कि मैंने कोई बुरा काम किया। (कुछ ठहरकर) उद्धव, मेरी तो यह इच्छा भी न थी कि मेरे अकेले के कारण इतना जन-समुदाय देश को छोडकर इस द्वीप को बसने को आवे, पर लोग मानते ही नही।

उद्धव—ऊपर से बुरी दिखनेवाली, रण छोडकर भागने की उस कृति से शूरसेन देश मे जो शाति हो गयी उससे प्रजा की आप पर इतनी श्रद्धा बढी है कि शूरसेन देश मे उसे रोकना ही असम्भव हो गया है, यदुनाथ।

कृष्ण—सतोष का विषय इतना ही है कि यहाँ भी प्रजा को कोई कष्ट नही हो रहा है, सब सुविधा से बसते जा रहे है। ज्ञात होता है, कुछ ही समय मे यह देश भी धन-धान्य पूर्ण हो जायगा।

उद्धव—और आपके यहाँ आने पर भी शूरसेन देश की राज्य-व्यवस्था नही बिगडी। मुझे तो केवल व्रजवासियो की चिन्ता रहती है।

कृष्ण—चिन्ता-सोच तो किसी बात के लिए भी निरर्थक है, पर हाँ, व्रज जाने की अभी भी मेरी इच्छा है, समय ही नही मिलता, करूँ क्या ? और फिर जब मथुरा से तीन कोस की यात्रा का समय न मिला, तब अब तो बहुत दूर की बात हो गयी, यहाँ तो और अधिक कार्य है। फिर भी जाने का प्रयत्न करूँगा। (कुछ ठहरकर) व्रज छोडे लगभग बीस वर्ष होते है, क्यो उद्धव ?

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, वीस वर्ष। (कुछ ठहरकर) एक वात मुझे बहुत काल से आपको कहने की इच्छा है, कहूँ क्या ?

कृष्ण—तुम्हे मै अपना मित्र समझता हूँ, तुम्हे किसी वात के कहने मे सकोच क्यो ?

उद्धव—आपकी अवस्था तीस वर्ष के ऊपर हो गयी है, विवाह के सम्वन्ध मे आपने कुछ विचार किया ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) क्यो नही किया, पिताजी, महाराज उग्रसेन आदि सभी इस सम्वन्ध मे मुझे कई वार कह चुके है।

उद्धव—तव क्या निर्णय किया, द्वारकेश ?

कृष्ण—मै इस झझट से अलग ही रहना चाहता हूँ। तुम जानते हो, जव मनुष्य राज्य, विवाह आदि वधनो से जकड जाता है, तव उसे कर्तव्य-पालन मे उतनी स्वतत्रता नही रहती, इसीलिए मैने राज्य-सिहासन नही लिया और विवाह भी नही करना चाहता।

उद्धव—परन्तु, आपकी प्रकृति तो ऐसी है कि उसकी स्वतत्रता को ससार मे कोई भी बात अपहरण कर सके, यह मै नहीं मानता।

कृष्ण—कदाचित् यह ठीक हो, परन्तु फिर भी वधनो से जितनी दूर रहा जा सके उतना ही अच्छा है।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) श्रीमान्, विदर्भ देश से एक ब्राह्मण आये है और श्रीमान् के दर्शन करना चाहते है।

कृष्ण—उन्हे आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान, एक वृद्ध ब्राह्मण के संग पुनः प्रवेश और उस ब्राह्मण को छोड़ फिर प्रस्थान। कृष्ण और उद्धव ब्राह्मण को प्रणाम करते हैं और वह आशीर्वाद देता है।]

कृष्ण––कहिए, देव, इतनी दूर इस द्वीप मे पधारने का कैसे कष्ट उठाया ?

ब्राह्मण––मुझे आपकी सेवा मे विदर्भ-कुमारी श्रीमती र देवी ने कुण्डनपुर से एक पत्र देकर भेजा है, यदुनाथ।

कृष्ण––अच्छा, वे ही न, जिनका विवाह चेदि-देश के राजा शिशुपाल से होनेवाला है ?

ब्राह्मण––हाँ, वे ही, द्वारकेश। किन्तु, यह विवाह उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके कुटुबी कर रहे है। उन्होने तो आपके गुणानुवादो को सुन सकल्प कर लिया है कि वे आपको छोड किसी अन्य से विवाह न करेगी। आपसे प्रेम रहने के कारण चेदि-नरेश से विवाह करने की अपेक्षा राज्य कुमारी मृत्यु को उत्तम समझती है। उन्होने निश्चय किया है कि यदि आप किसी प्रकार भी उनका पाणिग्रहण न कर सके तो विवाह के पूर्व वे अपने प्राण दे देगी। विवाह के केवल दस दिन शेष है, वे विवाह के दिवस तक आपकी प्रतीक्षा करेगी, यदि आप न पधारे तो उनकी मृत्यु निश्चित है। यह उनका पत्र है, द्वारकाधीश। (एक पत्र कृष्ण को देता है।)

कृष्ण––(पत्र खोल और पढकर) आप आनदपूर्वक ठहरे। भोजन-विश्राम के पश्चात् विदर्भ देश लौटकर राजकुमारी को सूचित कर दें कि मै ठीक समय कुण्डनपुर पहुँच जाऊँगा। (जोर से) प्रतिहारी ! प्रतिहारी ! (प्रतिहारी का प्रवेश और अभिवादन।) ब्राह्मण-देवता को सुख-पूर्वक ठहराकर भोजन कराओ।

[प्रतिहारी और ब्राह्मण का प्रस्थान।]

उद्धव—आप उनके कुटुम्बियो की इच्छा के विरुद्ध रुक्मिणी देवी से विवाह कैसे करेंगे, देव ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैं रुक्मिणी का हरण करूँगा, उद्धव।

उद्धव—(आश्चर्य से) पर, यदुनाथ, माता, पिता, भ्राता एव कुटुम्बी जनो को अधिकार है कि वे जिससे चाहे कन्या का विवाह करे।

कृष्ण—यह अनुचित अधिकार है, उद्धव। वर-कन्या को जन्मभर परस्पर सग रहना पडता है, उनके भाग्य का इस प्रकार निर्णय करने का बाधवो को कोई अधिकार नहीं है।

उद्धव—परन्तु, फिर तो समाज की मर्यादा भग हो जायगी, यह तो अधर्म होगा।

कृष्ण—समाज की अनुचित मर्यादा को तोडना ही धर्म है।

उद्धव—और अभी तो आपने यह कहा था कि आपका विचार ही विवाह करने का नहीं है।

कृष्ण—उस समय मेरे सम्मुख ऐसा कोई प्रसग उपस्थित नही था। कर्तव्य का निर्णय तो समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बदलना ही पडता है। एक बालिका की प्राण-रक्षा का प्रश्न है। पढ लेना, कैसा करुणापूर्ण पत्र है। तो फिर चलो, कुण्डनपुर प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हुआ जाय।

[कृष्ण पत्र उद्धव को देते है। दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—विदर्भ-देश के कुण्डनपुर मे दुर्गा का मदिर

समय—सन्ध्या

[सुन्दर मंदिर है, जिसका शिखर सूर्य की सुनहरी किरणो से चमक रहा है। मन्दिर के बाहर रुक्मिणी विवाह के शृंगार में दुर्गा के सम्मुख खड़ी हुई स्तुति कर रही है। सहेलियाँ उसके पीछे खड़ी हुई संग ही गा रही हैं। इधर-उधर सेना भी खड़ी है। रुक्मिणी की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है। वे गौर वर्ण की परम सुन्दरी युवती है।]

जय जय जग-जननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
भक्ति-मुक्ति-दायिनि, भय-हरनि, कालिका।
मङ्गल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्व-सर्वरीस-बदनि,
ताप-तिमिर-तरुन-तरनि-किरन-मालिका॥
बर्म-चर्म कर-कृपान, सूल-सेल धनुष-बान,
धरनि, दलनि-दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना पिसाच प्रेत, डाकिनि साकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका॥

[गान पूर्ण होते-होते कृष्ण रथ पर आते है। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था।]

कृष्ण—(जोर से) विदर्भ-कुमारी रुक्मिणी! कृष्ण प्रस्तुत है!

[रुक्मिणी चौंककर रथ की ओर देखती है और रथ के निकट बढती है। कृष्ण उन्हे सहारा दे रथ पर चढ़ाते है। रथ शीघ्रता से आगे बढता है। यह सब इतने शीघ्र होता है कि सब आश्चर्यचकित-से रह जाते हैं। रथ चलते ही हलचल और कोलाहल मचता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी का एक मार्ग

समय—प्रात काल

[मार्ग के भवन मथुरा के समान ही है। मार्ग भी चौडा है। दो पुरवासियो का प्रवेश।]

एक—देखा, बन्धु, इस ससार मे कार्य का बदला किस प्रकार मिलता है। कृष्ण ने यदि किसी की भगिनी का हरण किया था, तो किसीने उनकी भगिनी सुभद्रा का हरण कर लिया।

दूसरा—पर, यह तो उनके मित्र अर्जुन ने किया है। सुना है, यह कृष्ण की अनुमति से हुआ है।

पहला—(आश्चर्य से) यह क्या कहते हो! कोई अपनी भगिनी का हरण करावेगा!

दूसरा—कृष्ण जो करे सो थोडा है।

पहला—अच्छा चलो, अभी तो चलकर सेना का रण-प्रस्थान देखे। इस वार इन्द्रप्रस्थ मे घोर सग्राम होगा। बरावरीवालो का विवाह और युद्ध दोनो ही दर्शनीय होते है।

दूसरा—पर, मुझे तो इस युद्ध मे बडा सन्देह है, कृष्ण यह युद्ध कदापि न होने देगे।

पहला—वलराम रुकनेवाले नही है, उनका क्रोध चरम सीमा को पहुँच गया है, चलो, चलकर देखे तो, चलने मे क्या हानि है?

दूसरा--हाँ, हाँ, चलने मे कोई हानि नही, चलो।

[दोनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान--द्वारकापुरी मे बलराम के प्रासाद की दालान

समय--सन्ध्या

[दालान तीसरे अंक के पहले दृश्य के समान ही है, पर रग भिन्न है। क्रोधित बलराम और संग में उद्धव का प्रवेश।]

बलराम--(क्रोध से) पाण्डवो को इतना मद! अर्जुन का इतना साहस! अभी जब कौरवो के हाथ मे सत्ता है तभी इतना मद हो गया, तो राज्य मिलने पर वे न जाने क्या करेगे। मेरी भगिनी सुभद्रा का हरण! कृष्ण-भगिनी सुभद्रा का हरण, वसुदेव-पुत्री सुभद्रा का हरण! इन्द्रप्रस्थ को यदि मिट्टी मे न मिला दिया और अर्जुन का यदि क्षणमात्र मे वध न कर दिया, तो मेरा नाम बलराम नही।

उद्धव--शात होइए, श्रीमान्, शान्त होइए, पाण्डव अपने किये का फल अवश्य पावेगे, रेवतीपति।

[कृष्ण का प्रवेश।]

कृष्ण--(मुस्कराते हुए) इतना क्रोध, तात, इतना क्रोध! जब मैंने रुक्मिणी का हरण किया था, उस समय आपने मुझपर इतना क्रोध क्यो नही किया? उस समय मुझे बचाने के लिए रुक्मिणी के भ्राता रुक्म से आप क्यो लडे, आर्य? रुक्मिणी भी किसीकी भगिनी थी, किसीकी पुत्री थी।

बलराम—(क्रोध से) ज्ञात होता है, कृष्ण, तुम्हारा भी इस षड्यन्त्र मे हाथ है। अर्जुन से मित्रता है तो क्या तुम्हारी मित्रता के कारण अर्जुन हमारे कुल का अपमान करेगा, हमारे कुल मे कलक लगाएगा ?

कृष्ण—(मुस्कराते हुए) मैंने भी क्या किसीके कुल का अपमान किया है ? क्या किसीके कुल मे कलक लगाया है ? अर्जुन ने ठीक वही किया है, जो मैंने किया था। यदि अर्जुन का कृत्य निन्दनीय है तो मेरा भी है, यदि अर्जुन दण्ड पाने के योग्य है, तो मै भी हूँ। आप मुझसे भी बडे है और अर्जुन से भी, पहले मेरा सिर काट दीजिए, तव इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण कीजिएगा।

बलराम—(दु खित होकर) कृष्ण, तुम दग्ध पर लवण छिडक रहे हो, तुम दुखी को दुखी कर रहे हो।

कृष्ण—तात, किसी बात के भीतर घुसकर न देखने से ही मनुष्य को दु ख होता है। सुभद्रा जैसी आपकी भगिनी है, वैसी ही मेरी भी तो है, उसके हरण से मै दुखी नही हूँ और आप क्यो है, आर्य ?

बलराम—(त्यौरी चढ़ाकर) इसका स्पष्ट उत्तर सुनना चाहते हो ?

कृष्ण—बिना इसके विषय का निपटारा कैसे होगा ?

बलराम—तो स्पष्ट उत्तर यह है कि तुमने भी वैसा ही पाप किया है, इसीसे तुम दुखी नही हो।

कृष्ण—मै तो उसे पाप न मान कर धर्म मानता हूँ, परन्तु आपकी दृष्टि से यदि उसे पाप भी मान लिया जाय तो पाप-कर्म करने पर भी आपने मेरी रक्षा क्यो की ?

[बलराम चुप रहते है।]

कृष्ण—मेरे सकोच के कारण आप पूरी बाते स्पष्ट न कहेगे, अच्छा मै ही कहता हूँ, अपना और आपका, दोनो का काम मै ही करता हूँ। सुनिए, आपकी दृष्टि से पाप होते हुए भी आपने मेरे पाप-कर्म मे भी इसलिए सहायता दी कि मै आपका भ्राता हूँ, क्यो ठीक हे ?

बलराम—(जोर से) हाँ, यह तो है ही।

कृष्ण—रुक्मिणी आपकी भगिनी न थी और उसका हरण आप के भ्राता ने किया था, आपकी दृष्टि से भ्राता का वह कर्म पापमय होने पर भी आपने उस कर्म मे इसलिए सहायता दी कि वह आपके भ्राता ने किया था। सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करनेवाला एक अन्य व्यक्ति है अत आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य, इस भेद-बुद्धि से ही तो दु ख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दु ख की जड है। आपकी दृष्टि से यदि किसीने पाप किया है तो आपको उसे दण्ड देने का अवश्य अधिकार है, पर यदि वही पाप दो मनुष्यो ने किया है और उस से एक आपका भ्राता है तो आपको अपने भ्राता को भी वही दण्ड देना होगा, जो आप अन्य व्यक्ति को देना चाहते है।

बलराम—यह नीति ससार मे व्यवहार्य्य नही है।

कृष्ण—मेरा तो विश्वास है कि जब तक ससार इस सम नीति का अनुसरण न करेगा, तब तक वह दुखी ही रहेगा। अब हम लोगो के कृत्यो के धर्म-अधर्म की ओर थोडी दृष्टि डालिए। रुक्मिणी के कुटुम्बी उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना चाहते थे, जिसपर उसका प्रेम तो दूर रहा, परन्तु जिसपर उसकी महान् घृणा थी, उसने उससे विवाह करने की अपेक्षा प्राण देने का निश्चय कर लिया था। आप सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते थे जिससे वह भी अत्यत घृणा करती थी और वह भी कदाचित् विवाह करने की अपेक्षा प्राण दे देती। मै तो

आजन्म विवाह करना ही नही चाहता था, पर रुक्मिणी का मुझपर प्रेम था और सुभद्रा का अर्जुन पर। मैंने रुक्मिणी के जीवन को सुखी करने का प्रयत्न किया तथा उसपर किये जानेवाले अत्याचारो को रोका और अर्जुन ने सुभद्रा के जीवन को। आपने मुझे सहायता दी और (मुस्करा-कर) आपके इस लघु और प्राणो से प्यारे भ्राता ने अर्जुन को। यह सब पुण्य हुआ या पाप ?

बलराम—(मुस्कराकर) तुम अद्भुत हो, सचमुच विचित्र हो, कृष्ण। पर, बन्धु, इन सब बातो से समाज की मर्यादा भग होती है।

कृष्ण—समाज की अन्यायपूर्ण मर्यादाओ से समाज को उल्टा क्लेश होता है अत इन्हे भग करना ही होगा। अच्छा, अब सुनिए, भगिनी के विधवा बनाने की बात तो छोडिए और यहाँ के कार्य को सँभालिए, मुझे फिर बाहर जाना है।

बलराम—अब कहाँ जाओगे ?

कृष्ण—भौमासुर पर तत्काल आक्रमण करना होगा।

उद्धव—(आश्चर्य से) आप तो किसीके देश पर आक्रमण करने विरुद्ध थे न !

बलराम—हाँ, इसी कारण देश छोड दिया और मगध पर आक्रमण किया।

कृष्ण—पर, यह आक्रमण ही धर्म है।

उद्धव—यह कैसे ?

बलराम—इसमे भी कोई गूढ रहस्य होगा।

कृष्ण—मै उसका देश जीतने के लिए आक्रमण नही कर रहा हूँ।

उद्धव—तब फिर ?

कृष्ण—जिन बहुत-सी राजकुमारियो को उसने रोक रखा है, उनका पत्र आया है। उन्होने लिखा है कि वे अपनी रक्षा अब केवल एक मास तक ही कर सकेगी, इसके पश्चात् या तो उन्हे उस राक्षस को, जिसे वे हृदय से घृणा करती है, अपना आत्म-समर्पण करना होगा, या विष खाकर मर जाना होगा। उन बेचारी अबलाओ के रक्षणार्थ यह आ-
अनिवार्य है।

बलराम—अबलाओ की रक्षा तो प्रथम कर्तव्य है।

उद्धव—अवश्य, अवश्य।

कृष्ण—तो चलिए, इसीका प्रबन्ध कीजिए।

[तीनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—भौमासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[कक्ष उसी प्रकार है जैसा अयोध्या के राज-प्रासाद का कक्ष था। कक्ष की भित्तियो आदि का रंग उस कक्ष के रंग से भिन्न है। द्वारो से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की प्रभा से आलोकित है। कक्ष में सोलह राज-कन्याएँ बैठी हुई बातें कर रही है।]

एक—देखा, करुणानिधान कृष्ण को देखा, शरणागत-वत्सल कृष्ण को देखा !

दूसरी—हाँ, सखि, हमारा पत्र पाते ही वे दौडे आये !

तीसरी—और पापी की जड तो मानो पत्थर पर रहती है।

चौथी—हाँ, ऐसे बलवान भौमासुर का सहार करने में कृष्ण को विलब न लगा।

पाँचवीं—पर, सखि, हमने उन्हे निरर्थक ही कष्ट दिया, हमारे भाग्य मे तो दोनो प्रकार से मरण लिखा था। पर-घर मे रही हुई हमको समाज मे कौन ग्रहण करेगा ?

छठवीं—हाँ, सखि, हम चाहे कैसी ही सती-साध्वी हो, पर, स्त्री का पर-घर मे रह जाना ही उसके जीवन को नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट है।

सातवी—पर, अब हम सुख से मरेगी।

आठवीं—हाँ, पापी का तो नाश हो गया।

नवी—अब चिन्ता नही, हम भी मर जायँ।

दसवी—वह न मरता तो हमे भी मरने मे दु ख रहता।

ग्यारहवीं—फिर इस समय मरने मे दूसरा आनद यह है कि जिनके गुणानुवाद इतने दिन तक सुन रही थी, उन द्वारकाधीश के दर्शन भी हो गये।

बारहवीं—अहा ! उनका कैसा स्वरूप है !

तेरहवीं—और कैसी वाणी !

चौदहवीं—और कैसा स्वभाव !

पन्द्रहवी—सभी कुछ अनुपम है।

सोलहवीं—क्यो, सखि, वे दया के सागर, पतितो के पावन द्वारकाधीश ही हमे न ग्रहण कर लेगे?

सब—आहा! यदि यही हो जाय तो क्या पूछना है!

पहली—पर, वे ही हमे समाज की मर्यादा तज क्यो ग्रहण करने लगे।

दूसरी—और फिर सबको?

तीसरी—फिर, सखि, विलब क्यो? हीरे की एक-एक मुद्रिका तो सबके पास है न?

चौथी—हॉ, सबके।

पॉचवी—तो चलो, उनको ही खाकर, इस असार ससार, इस पापी ससार, इस क्रूर ससार को छोड दे।

सब—चलो।

[सब खडी होती है। कृष्ण का प्रवेश। उन्हे देख सब सिर नीचा कर लेती है।]

कृष्ण—राजकुमारियो, मैने तुम लोगो के भाषण सुन लिए है। मै जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हे उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर और इतने प्राणियो के सहार से क्या लाभ हुआ? तुम्हारी इच्छा भी मैने सुन ली है सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मै देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड रहे है। जो कुछ हो, लोक-हितार्थ, लोक-सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति

के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मैं जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नही है, तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम सबो को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

सब—(आश्चर्य से) अहो! हमारे ऐसे भाग्य! हमारे ऐसे भाग्य!

एक—यदि चाहे तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर ले, करुणेश।

कृष्ण—नही, सुन्दरियो, नही, मेरा अन्त करण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो, मुझे परीक्षा की आवश्यकता नही है।

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—इन्द्रप्रस्थ मे द्रौपदी के प्रासाद की दालान

समय—प्रात काल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा और द्वारका के राज-प्रासादो के थी। रंग उनसे भिन्न है। द्रौपदी और रुक्मिणी खडी हुई बातें कर रही है। द्रौपदी की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। ऊँची, सुडौल, प्रौढा स्त्री है, वर्ण साँवला होने पर भी सौंदर्य की कमी नहीं है। रुक्मिणी की अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग दिखती है। द्रौपदी पीत वर्ण के रेशमी वस्त्र और रुक्मिणी नील वर्ण के रेशमी वस्त्र पहने है। दोनो रत्न-जटित आभूषण धारण किये है।]

रुक्मिणी—मेरे विवाह को लगभग पन्द्रह वर्ष हो गये। इस दीर्घ काल मे आपका राज्य और आपकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यदुनाथ को जितना चिन्तन करते देखा उतना किसी विषय पर नही।

द्रौपदी—उनकी जितनी कृपा हम लोगो पर है, उससे हम कभी उऋण नही हो सकते। सखि, मुझे वे भगिनी मानते एव कृष्णा कहते है और गाडीवधारी को सखा। फिर जितना कोई और सहोदर अपने सहोदर पर प्रेम नही करता, उतना वे हम पर करते है, मुझपर उनका सुभद्रा से भी अधिक स्नेह है। हमारा राजसूय-यज्ञ उनके कारण ही सफल हो सका। ज्येष्ठ पाण्डव का नियम है कि उन्हे द्यूत खेलने के लिए जो बुलाता है वे उससे अवश्य द्यूत खेलते है।

रुक्मिणी—ज्येष्ठ पाण्डव ही क्यो, द्यूत आधुनिक काल का सर्व-श्रेष्ठ खेल माना जाता है और कोई भी क्षत्रिय द्यूत का निमत्रण अस्वीकृत करना निंदनीय मानता है।

द्रौपदी—हाँ, परन्तु ज्येष्ठ पाण्डव मे तो एक और दोष है कि हारते समय उन्हे फिर कुछ दिखायी ही नही देता। शकुनी के कपटाचार के कारण जब वे सर्वस्व हार गये तब मुझे भी द्यूत मे लगा दिया और जब मुझे भी हार गये तब मेरी लज्जा कृष्ण के कारण ही बची, नही तो मैं भरी सभा मे नग्न कर ही डाली जाती। हमारे बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में उन्होने हमें प्रकट रूप से ही सहायताएँ नही दी, वरन् गुप्त रूप से भी अनेक दी। कुरुवश का यह युद्ध न होने पावे, इसके लिए उन्होने क्या कम उद्योग किया ? स्वय दूत का कार्य स्वीकार किया, दुर्योधन उन्हे बन्दी बना लेगा, यह समाचार फैला हुआ था, पर इतने पर भी वे कौरव-सभा मे गये। दुर्योधन ने उन्हे बन्दी करने का भी कम उद्योग नही किया, पर हमारा सौभाग्य कि वे बच गये।

रुक्मिणी—उनके बन्दी होने के प्रयत्न का समाचार फैलने से वे कौरव-सभा मे न जायँ यह तो असम्भव था। विघ्न-बाधाओ की उपेक्षा तो उनका स्वभाव ही है, सखि, फिर सब कुछ यदुनाथ निष्पक्ष होकर करते है।

द्रौपदी—निष्पक्ष होकर करते है, या निष्पक्ष बनते है, सो तो कहना कठिन है, सखि, पर निष्पक्षता दर्शाते अवश्य है। युद्ध मे हमारी ओर होना ही था, पर इसमे भी कैसी निष्पक्षता दिखायी।

रुक्मिणी—यह मुझे ज्ञात नही है।

द्रौपदी—यह तो अभी की बात है। तुम जानती ही हो कि आधुनिक काल मे युद्ध के निश्चित नियमो के अनुसार जो पक्ष पहले रण-निमत्रण देने के लिए पहुँचता है उसी पक्ष का युद्ध में साथ देना पडता है।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो जानती हूँ।

द्रौपदी—भैया को रण-निमत्रण देने दुर्भाग्य से दुर्योधन पहले पहुँचे, पर, कौन्तेय के पहुँचने के पूर्व आप उनसे मिलनेवाले कब थे ? सो गये। जब कौन्तेय पहुँच गये तब उठे और कहते है आ गये, धनजय ? दुर्योधन ने तत्काल कहा कि पहले मै आया तो आप बोले, पहले मैने कौन्तेय को देखा है।

रुक्मिणी—सच बात तो यह है कि उनकी सदा धर्म, न्याय और सत्य-पक्ष एव दुखियो से सहानुभूति रहती है। जिस विधि से भी बने, वे इनका कल्याण करना चाहते है।

द्रौपदी—हाँ, सखि, सौ बात की एक बात यह है। पाण्डव-पक्ष को वे धर्म, न्याय और सत्य का पक्ष होने के कारण ही सहायता देते है और दु ख की तो बात ही न करो। हमने जितने दु ख पाये है, उतने तो ससार मे कदाचित् ही किसीने पाये हो। लाक्षा-भवन मे हम जलाये गये, दूसरे पाण्डव को विष खिलाया गया, बल से हमारा राज्य हरण कर बारह वर्ष तक हमे वन-वन और अरण्य-अरण्य घुमाया गया, एक वर्ष तक अज्ञात रहने का हमसे वचन लिया गया और यदि इस अज्ञात रूप से रहने का

हम निभा न पाते तो फिर बारह वर्ष का वन और एक वर्ष का अज्ञात-वास; फिर चूके तो फिर वही। जन्मभर क्या वह वनवास और अज्ञातवास समाप्त होनेवाला था? धर्मराज को तुम जानती ही हो, मनसा, वाचा, कर्मणा भी वे असत्य का चिंतन तक नही कर सकते। कौरव जानते थे कि भारतवर्ष मे पाण्डवो का अज्ञात रहना असभव है।

रुक्मिणी—असम्भव नही तो कम से कम इसके नीचे की सीढी तो अवश्य थी।

द्रौपदी—हाँ, सखि, इसमे सन्देह नही। अज्ञातवास का एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव-क्षण जिस मानसिक और शारीरिक कष्ट से हमने विताया है, वह हम आजन्म न भूलेगे। हम-सा दुखिया कोई न होगा, कोई नही।

रुक्मिणी—और इतने दुःख पाने के पश्चात् भी यह युद्ध होगा।

द्रौपदी—क्या किया जाय, विवशता है। भैया ने पाँच गाँव तक माँगे, पर जब दुर्योधन ने सुई की नोक बराबर पृथ्वी भी देना अस्वीकार कर दिया, तव भैया ने ही कह दिया कि अब युद्ध न होना अधर्म होगा।

रुक्मिणी—हाँ, अधर्म, अन्याय, असत्य, अत्याचार की कोई सीमा है! आश्चर्य तो यह है कि कुरु-देश के महारथी, भीष्म, द्रोण, कृप आदि अब भी दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करेगे।

द्रौपदी—इसमे आश्चर्य क्या है, सखि? जब दुर्योधन ने दुःशासन से भरी सभा मे मुझे नग्न करने को कहा था, तब भी तो ये सब उसी सभा मे उपस्थित थे, पर किसीके मुख से एक शब्द भी न निकला।

रुक्मिणी—मुझे वड़ा खेद है, सखि, कि यदुनाथ आपके पक्ष मे होने पर भी युद्ध न करेगे।

द्रौपदी—इसके लिए क्या किया जा सकता है। वे युद्ध को अक्षम्य, हत्यामय काण्ड मानकर सदा को छोड चुके है। पर, इससे क्या ? वे हमारे पक्ष मे है, इसीसे हमारी विजय होगी। मेरा दृढ विश्वास है कि जिस पक्ष मे वे है, वह पक्ष हार ही नही सकता। फिर उन्होने हमारे लिए सूत का, निम्न-श्रेणी का कार्य करना तक स्वीकार किया है। उनके साथी रहने से धनजय को कोई भय नही है।

रुक्मिणी—एक सबसे बडा सुयोग यह हो गया कि मेरे जेठ बलरामजी के हाथ से नैमिषारण्य के सूत पुराणी की हत्या हो गयी और वे तीर्थ यात्रा को चले गये, नही तो इस समय बडी कठिनाई हो जाती। दुर्योधन उनका शिष्य है और उनकी सदा ही दुर्योधन से सहानुभूति रहती है।

द्रौपदी—यदि यह न भी होता तो इसके लिए भी कृष्ण कोई न कोई युक्ति निकाल ही लेते। (**नेपथ्य में वाद्य का शब्द होता है।**) प्रातःकाल का वाद्य बज रहा है, कुरुक्षेत्र मे इसी समय युद्ध आरभ हुआ होगा। आज ही युद्ध का प्रथम दिवस है।

रुक्मिणी—तो चलो, सखि, हम भगवान् से पाण्डवो के विजय की मगल-कामना करे।

[**दोनो का प्रस्थान। परदा उठता है।**]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का मैदान

समय—प्रातःकाल

[**दूरी पर दो सेनाएँ दिखती है, जिनके कवच और शस्त्र प्रातःकाल**

के प्रकाश में चमक रहे हैं। अर्जुन का रथ खड़ा हुआ है। रथ में चार घोड़े जुते हैं। इसकी बनावट पहले अंक के तीसरे दृश्य के रथ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें छतरी नहीं है। ध्वजा एक पतले स्तंभ पर, सामने की ओर लगी है और उसपर बन्दर का चित्र बना है। कृष्ण सारथी के स्थान पर बैठे हैं। अर्जुन रथी के स्थान पर आसीन है। सामने धनुष रखा है और अर्जुन का मुख उदासीन भाव से झुका हुआ है। अर्जुन की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है। वर्ण साँवला है, परन्तु मुख सुन्दर और शरीर गठा हुआ है। वे आभूषण और शस्त्रो से सुसज्जित हैं। शरीर पर लोह-कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। कवच और शिरस्त्राण पर सुवर्ण भी लगा है। अर्जुन हाथो में गोधागुलिस्त्राण भी पहने है। कृष्ण की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है, पर मुख और शरीर वैसा ही है। सारे वस्त्र श्वेत है, सिर खुला हुआ है, कोई आभूषण नही है और न पास में कोई शस्त्र ही है। सन्नाटा छाया हुआ है। कृष्ण अर्जुन की ओर देख रहे हैं। कुछ देर में अर्जुन धनुष को उठाने के लिए हाथ बढाते हैं और नीचे मुख को मुस्कराते हुए ऊपर उठा कृष्ण की ओर देखते हैं।]

कृष्ण—बहुत शीघ्र, मित्र, बहुत ही शीघ्र तुम्हारे अद्‌भुत ज्ञान का अन्त हो गया। तुम्हारे मुख के भाव तो फिर बदल रहे है, अग फिर दृढ हो रहे है, तुम तो फिर गाण्डीव उठा रहे हो। वह रोमाच, वह स्वेद, वह शरीर की शिथिलता कहाँ गयी, धनजय!

अर्जुन—(मुस्कराते हुए) तुम्हारा यह निःशस्त्र स्वरूप देखकर तो वह ज्ञान और बढ गया था, सन्यास लेने की प्रवृत्ति और अधिक हो गयी थी।

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैंने तो सन्यास नही लिया है, कौन्तेय। हाँ, प्रत्येक के मन की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ होती है और उन्हीके अनुसार उनके कार्य होते हैं।

अर्जुन---मानता हूँ, मित्र, कि तुम्हारी अवस्था तक पहुँचने मे अभी मुझे न जाने कितना समय लगेगा। केवल सुन लेने, कह देने अथवा समझ लेने और समझा देने से वह स्थिति नही हो सकती, उसके लिए सम-भाव के अनुभव की आवश्यकता होती है।

कृष्ण---तो मानते हो न कि वह मोह था, ज्ञान नही ?

अर्जुन---अवश्य, वह ज्ञान नही, मोह था।

कृष्ण---और मेरी कही हुई समस्त बाते तुम्हारी समझ मे बैठ भी गयी ?

अर्जुन---कितनी सुन्दरता से, सो सक्षेप मे कहे देता हूँ, सुन लो---मोह सदा क्षणिक रहता है ज्ञान के सदृश स्थायी नही। यो तो ससार मे एक चिउँटी की हत्या भी निन्दनीय है, परन्तु सद्सिद्धान्तो की हत्या के सम्मुख अक्षौहणियो की हत्या भी तुच्छ वस्तु है। ससार मे पृथकत्व केवल स्थूल दृष्टि से देखने मे ही है, यथार्थ मे सभी मे एकता है और सबमे एक शक्ति का ही सचार हो रहा है। आत्मा अजर एव अमर है, अत शरीर के नाश से उसका कोई सबन्ध नही, और यदि आत्मा नही है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, तो भी शरीर के नाश को कोई महत्त्व नही। नित्य असख्यो शरीर उत्पन्न और असख्यो नष्ट होते है। जब तक शरीर है तब तक कर्म करना ही होगा, क्योकि साँस लेना भी कर्म है और यदि कर्म से छुट्टी पाने के लिए आत्म-हत्या भी की जाय तो वह भी एक निन्दनीय कर्म होगा। मै कर्म निष्काम होकर, फलेच्छा-रहित होकर करने को प्रस्तुत हूँ। सद्सिद्धान्तो की रक्षा और जगत् का स्थायी हित इसीसे हो सकता है, यह मै मानता हूँ, कृष्ण। अब तुम्ही कहो, तुम्हारी सब बाते मेरी समझ मे बैठ गयी या नही।

कृष्ण---(मुस्कराकर) तो अब रथ आगे बढाया जाय ?

अर्जुन—(गाण्डीव धारणकर तथा देवदत्त शख को उठा) अवश्य।

[कृष्ण रथ चलाते है। अर्जुन शख बजाता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का एक मार्ग

समय—प्रात काल

[नेत्र-रहित राधा का कृष्ण-वेश में करतालें बजाते और गाते हुए प्रवेश। राधा अब क्षीणकाय नहीं है। नेत्र चले गये है, पर पलको के चारों ओर आँसू दिखते हैं।]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यो गूँगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै॥

तुही पंच तत्व, तुही सत्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भावो भव मैं।
तेरे ये बिलास लौटि तोही मे समान्यो कछु,
जान्यो न परत पहिचान्यो जब जब मैं॥
देख्यो नहीं जात तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो कृष्ण तुही देख्यो अब मैं।
सबकी अमर मूरि, मारि सब धूरि कहै,
दूर सब ही ते भरपूरि रह्यो सबमैं॥

परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन वानी को अगम अगोचर, जो जाने सो पावै ॥अविगत०॥

अग, नग, नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर,
प्रेत, पसु, पच्छी, कोटि कोटिन कढ्यो फिरै।
माया, गुन, तत्व, उपजत, बिनसत सत्व,
काल की कला को ख्याल खाल मे मढ्यो फिरै।
आप ही भखत, भख, आप ही अलख लख,
कहूँ मूढ़ कहूँ महा पंडित पढ्यो फिरै।
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप,
आप ही कहार, आप पालकी चढ्यो फिरै॥

रूप-रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम तदपि जाने वह, प्रेम रूप ह्वै कर जो ध्यावै॥
अविगत०।

[वलराम का प्रवेश।]

वलराम—राधे, आपसे यह वलराम जाने के लिए आज्ञा लेन आया है।

राधा—इतने शीघ्र क्यो, देव?

वलराम—तीर्थ-यात्रा के निमित्त ही मै यहा आया था, देवि। आप लोगो के दर्शन की भी अभिलाषा थी, और कुछ दिन रहता, परन्तु सुना है, कुरुक्षेत्र मे कौरवो-पाण्डवो का युद्ध आरभ हो गया है। भीष्म पितामह आहत हो धराशायी है और द्रोणाचार्य एव महारथी कर्ण देवगति को प्राप्त हो चुके है। यह भी सुना है, भगवती, कि युद्ध मे लडते हुए इनका महार

नही हुआ, परन्तु कृष्ण ने कौशल से एक-एक को नि शस्त्र कराकर नष्ट कराया है। यदि युद्ध इसी प्रकार चला तो सारे कुरुवश का नाश हो जायगा। उसे अधर्म से नष्ट कराने के कलक का टीका, युद्ध छोड देने पर भी, कृष्ण के सिर पर लगेगा। मुझे उस ओर तीर्थयात्रा भी करनी है, यात्रा भी हो जायगी और इस नाशकारी युद्ध के निवारण का भी उद्योग करूँगा।

राधा—(मुस्कराकर) कृष्ण के मस्तक पर किसी वस्तु के कलक का टीका लग सकता है, यह तो मै नही मानती, क्योकि उनके कार्य की विधि चाहे कोई क्यो न हो, उनके हर कार्य का उद्देश्य लोक-हित ही होता है। पर, फिर भी यदि युद्ध का हत्या-काण्ड आपके उद्योग से रुक सके, तो अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। (कुछ ठहरकर) आगामी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर तो व्रजवासी भी कुरुक्षेत्र जावेगे, तब तक तो आप लोग भी कुरुक्षेत्र ही मे रहेगे ?

बलराम—अब सूर्य-ग्रहण के दिवस ही कितने है। सारा देश जब सूर्य-ग्रहण पर कुरुक्षेत्र पहुँचेगा, तब तक हम लोग, जो वहाँ पहले से ही रहेगे, ग्रहण के पूर्व कुरुक्षेत्र क्यो छोडने लगे, देवि।

राधा—पर, सुना है, इस युद्ध के कारण इस बार वहाँ बहुत कम लोग जायँगे।

बलराम—उसके पूर्व या तो युद्ध समाप्त हो जायगा, या सन्धि हो जायगी। ऐसा भयकर युद्ध बहुत समय तक नही चल सकता। (कुछ ठहरकर) तो चलता हूँ, देवि, इन थोडे दिनो मे ही व्रज की जैसी परिस्थिति देखी, वह आजन्म विस्मृत न होगी। आपने व्रज मे कृष्ण-प्रेम का जो अद्वितीय स्रोत बहाया है, कृष्ण-विरह से कृष्ण के प्रति जिस अद्भुत प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह केवल कृष्ण की ही नही, सारे विश्व की सम्पत्ति हो गयी है।

यह धन कदाचित् व्रज का अटूट धन होगा और सदा ही व्रज के कोष में स्थिर रहेगा। धन्य है आप, राधे, धन्य है! किसने आज-पर्यन्त आप-सा आनन्द पाया है! कौन इस प्रेम मे ऑसू बहा-बहा, चर्म-चक्षुओ को खो कर हृदय-चक्षु खोल सका है! कौन अपने को अपने प्रेमी के, एव सारे विश्व को अपने प्रेमी के रूप मे देख सका है! धन्य, सचमुच धन्य है आपको और धन्य है आपके इस प्रेम-मार्ग को!

राधा—(अंधे नेत्रो से अश्रु बहाते हुए) मै क्या धन्य हूँ, मै क्या धन्य हूँ! और यदि मै धन्य हूँ, तो जिसने अपने को, अपने हृदय को, इस प्रेम मे सराबोर कर दिया है, वे सभी धन्य है, देव!

बलराम—(राधा के चरण स्पर्शकर) तो आज्ञा माँगता हूँ, प्रेम-रूपिणी।

राधा—कल्याण हो आपका और कल्याण हो इस कृष्ण-रूप समस्त विश्व का।

[बलराम का प्रस्थान। राधा फिर गाती है।]

प्रेम प्रेम ते होय, प्रेम तें पर ह्वै जइए।
प्रेम बँध्यो ससार, प्रेम परमारथ लहिए।
प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जाने प्रेम तो, मरै जगत क्यो रोय।
प्रेम प्रेम ते होय०।

प्रेम-रूप दर्शन अहो, रचै अजूबो खेल।
या मे अपनो रूप कछु, लखि परिहै अनमेल।
प्रेम प्रेम तें होय०।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस।
प्रेम प्रेम ते होय०।

प्रेम-फाँस मे फँसि मरै, सोई जिये सदाहि।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहि।
प्रेम प्रेम ते होय०।

जग मे सब तें अधिक अति, ममता तनहिं लखाय।
पै या तनहू ते अधिक, प्यारो प्रेम कहाय।
प्रेम प्रेम ते होय०।

एकै निस्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निस्चय प्रेम को, जिहि ते मिलै गुपाल।
प्रेम प्रेम ते होय०।

[गाते और आँसू बहाते हुए राधा का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र की रणभूमि

समय—सध्या

[चारो ओर मनुष्यो, हाथी, घोडो की लाशें, कटे सिर, हाथ, पैर आदि, टूटे रथ और आयुध पडे है। सन्ध्या का मन्द प्रकाश फैला हुआ है। कृष्ण और अर्जुन खडे दाहनी ओर देख रहे है।]

कृष्ण---दुर्योधन के सहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवो की विजय हो जायगी।

अर्जुन---इन सवके कारण तुम हो, कृष्ण।

कृष्ण---(अर्जुन की ओर सिर घुमाकर) फिर वही, तुम कारण और मै कारण, अरे, कोई कारण नही है, सव निमित्तमात्र है। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव ही जीत जाते तो भी मेरे हृदय की तो वही अवस्था रहती जो अव है। (फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर) पर, देखो, अर्जुन, तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन वडा मूर्ख है, अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्ल-युद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण-कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरुदण्ड वडा निर्वल है, एक ही गदा मे काम होता था। (कुछ ठहरकर) दुर्योधन वलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लडा तो हारकर ही रहेगा। (कुछ ठहरकर) अव हारने ही लगा तो देखो, उधर चकपकाकर देख रहा है। मै फिर सकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हाथ जाँघ पर मारते है। वलराम का प्रवेश।]

वलराम---कृष्ण! कृष्ण!

[कृष्ण वलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढते है और उनके चरण-स्पर्श करते है। अर्जुन भी यही करते है।]

कृष्ण---आप कब पधारे, आर्य!

वलराम---अभी आ रहा हूँ। यह सकेत काहे का हो रहा दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या?

कृष्ण---(मुस्कराकर) आप तो तीर्थ-यात्रा मे है न, तात? इन सव प्रपचो से आपको क्या प्रयोजन है?

बलराम—(क्रोध से) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण मै तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को नि शस्त्र कराकर उनका सहार कराओ। दुर्योधन की भी एक प्रकार से हत्या करने के लिए भीम को सकेत करो।

कृष्ण—(मुस्कराकर) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश मे आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पडा। मैने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश मे आकर कुछ नही किया। जो कुछ मैने किया —धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया है और वह भी फलेच्छा-रहित हो, अत मेरे हृदय पर किसी बात का कोई प्रभाव नही पडा, तात। जिनकी आप हत्या हुई कहते है, उनपर मेरा इतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवो पर है। पितामह, गुरुदेव आदि का मुझपर भी अत्यधिक प्रेम था।

बलराम—(और भी क्रोध से) धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम! वाह रे तुम्हारा धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम!

कृष्ण—(दाहनी ओर देखते हुए बलराम का क्रोध शान्त न होते देख) पर, आर्य, अब तो आपका क्रोध भी निरर्थक है! दुर्योधन को भी भीम ने पछाड डाला।

बलराम—(अत्यत क्रोध से) दुर्योधन मेरा शिष्य है, इसलिए मै उसका पक्ष लेकर तुमसे विवाद नही कर रहा था। मेरे पहुँचने के पूर्व ही कौरव तो नष्ट हो गये थे। एक दुर्योधन बचा था। उससे भी भीम का युद्ध हो रहा था। मै चाहता, तो भी उसे कैसे बचाता? यदि वह बच भी जाता तो अकेला बचता, जैसा न बचता। पर, मुझे तुम्हारे ऊपर खेद होता है, कृष्ण, तुम्हारे ऊपर। युद्ध छोडने के पश्चात् भी तुमने इस युद्ध मे जो अधर्म किये है, नि:शस्त्र वीरो, गुरुजनो और ब्राह्मणो की जिस प्रकार हत्या करायी

है, उसपर मुझे खेद होता है। तुम्हारे जीवन मे इस युद्ध का जो इतिहास लिखा जायगा, उसमे तुम्हारा ऐसा नीच चित्र खिचेगा, ऐसा अन्याय-पूर्ण चित्र अकित होगा, ऐसा अधर्ममय चित्र दिखेगा कि सारे यदुवश पर उसका लाछन रहेगा। युद्ध तो समाप्त हो ही गया है। शान्ति के समय जब तुम अपनी इन कृतियो पर विचार करोगे, तब तुम्हे स्वय खेद होगा, दु ख होगा, शोक होगा, क्लेश होगा, पश्चात्ताप होगा। जीवित रहते हुए तुम सदा इससे यत्रणा पाओगे और मरने के पश्चात् भी तुम्हे सुख न मिलेगा। हा ! नि शस्त्र गुरुजनो की हत्या ! ब्राह्मणो की हत्या !

कृष्ण---(हँसकर) आर्य, इस समय आप मुझपर बहुत अधिक अप्रसन्न है और मुझे आपके इस भाषण पर इतनी हँसी आ रही है कि आप और अप्रसन्न हो जायँगे, पर, क्या करूँ, वह रुकती ही नही।

[कृष्ण जोर से हँस पडते है।]

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र मे पाण्डवो के प्रासाद की दालान

समय—सध्या

[वही दालान है जो चौथे अक के पहले दृश्य में थी। द्रौपदी और रुक्मिणी खडी हुई बातें कर रही है।]

द्रौपदी—(आँसू भरकर) क्या कहूँ, वार-वार हृदय भर-भर आता है। भैया के और तुम्हारे जाने के पश्चात् हमारे दिन कैसे निकलेगे, सखि? और, अब जाने को दिन ही कितने रह गये है?

रुक्मिणी—क्या मुझे आपका स्मरण न आयेगा? पर, क्या करूँ, जाना तो पडेगा ही। फिर जब आप स्मरण करेंगी, तभी हम लोग आप की सेवा मे उपस्थित हो जायेंगे।

द्रौपदी—अब तक तो विपत्ति के दिन थे, इसलिए नित्य ही भैया का स्मरण करती थी, परन्तु सुख के दिनो मे सुहृदो को कौन कष्ट देता है?

इस महासग्राम मे भी वे न होते तो न जाने, युद्ध मे हमारी क्या दशा होती ? उनके बिना धनजय का मोह कौन नाश कर सकता था ? कौन उनके बिना भीष्म, द्रोण, कर्ण, दु शासन, दुर्योधन आदि महारथियो को निधन कराने की शक्ति रखता था ? किसमे जयद्रथ को मरवा कौन्तेय की प्रतिज्ञा सत्य कराने की सामर्थ्य थी ? कौन अभिमन्यु और मेरे पाँचो पुत्रो की हत्या के हमारे दु ख को शान्त कराने का साहस करता और किसको, धर्मराज की ग्लानि को, जो उन्हे भीष्म, द्रोण आदि की ऊपर से दिखनेवाली नि शस्त्र हत्याओ से हुई थी, निवारण करने मे सफलता मिल सकती थी ? फिर कौरव-पक्ष मे भी कौन पूज्यपाद धृतराष्ट्र और गाधारी को सान्त्वना देने की सामर्थ्य रखता था ? पर, सखि, अब तो सूर्य-ग्रहण होते ही परसो तुम और भैया चले जाओगे। अच्छा होता, यदि हम सदा ही विपत्ति मे रहते।

[द्रौपदी के आँसू टपकते है। कृष्ण का प्रवेश। कृष्ण व्रज का शृगार किये हुए है।]

कृष्ण—क्यो, कृष्णा, काहे का दुख हो रहा है, मेरे जाने का ? ससार मे दु ख तो किसी बात का करना ही नही चाहिए। अरे, एक दिन तो यह ससार ही छोडना है, फिर मुझे तो जब बुलाओगी आ जाऊँगा।

द्रौपदी—(आँसू पोछते हुए) तुम्हारा-सा हृदय सबका नही होता भैया। (कृष्ण का शृगार देख) पर, यह आज कैसा अद्भुत वेश है ?

कृष्ण—यह व्रज का वेश है, कृष्णा। व्रजवासी सूर्य-ग्रहण का स्नान करने कुरुक्षेत्र आये है। नद बाबा, यशोदा मैया तथा अनेक गोप-गोपियो से तो मै मिल आया हूँ, पर अब राधा से मिलना है। इस वेश बिना यदि मै राधा से मिलूँगा तो उसे कष्ट होगा।

रुक्मिणी—एक बार जब मैने इन्हे व्रज का वेश दिखाने को कहा

था, तब इन्होने नही माना, पर उस आभीर-रमणी को तो अवश्य प्रसन्न करेंगे।

कृष्ण—तुम उसका वृत्त नही जानती, रुक्मिणी। मै उसके निकट आज चालीस वर्ष से नही हूँ, परन्तु फिर भी, इस विश्व मे मुझसे उतना प्रेम कोई नही करता, जितना वह करती है।

रुक्मिणी—मै भी नही, नाथ ?

कृष्ण—हाँ, तुम भी नही।

द्रौपदी—और मै भी नही, भैया ?

कृष्ण—तुम भी नही, कृष्णा।

द्रौपदी—तब तो मै उनके दर्शन अवश्य करूँगी।

रुक्मिणी—और मै भी।

कृष्ण—अच्छी बात है, तो चलो, मै वही जा रहा हूँ। आज उन्होने होली न होते हुए भी होलिकोत्सव मनाया है।

[तीनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का गगा-तट

समय—सध्या

[गंगा के किनारे सघन वृक्ष हैं। गंगा का नीर और वृक्षो के

ऊपरी भाग सूर्य की सुनहरी किरणों में जगमगा रहे हैं। कृष्ण-रूप में राधा वशी बजा रही है। गोप-गोपी गा रहे हैं। गुलाल उड़ रही है।]

ऋतु फागुन नियरानी, कोई पिय से मिलाओ, ऋतु फागुन नियरानी।
सोइ सुँदर जाके पिया ध्यान है, सोइ पिय के मनमानी।
खेलत फाग अग नही मोड़ै, पियतम सो लिपटानी॥
इक-इक सखियाँ खेल घर पहुँचीं, इक-इक कुल अरुझानी।
इक-इक नाम बिना बहकानी, हो रहि ऐचातानी॥
पिय को रूप कहा लगि बरनौ, रूपहि माँहिं समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन-मन सभी भुलानी॥
यो मत जान यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी।
होली राधा-माधव की तो, बिरले ही ने जानी॥

[कृष्ण, द्रौपदी और रुक्मिणी का प्रवेश।]

कृष्ण—राधा, कृष्ण-रूपिणी राधा!

राधा—(इधर-उधर दौड़, टटोलते-टटोलते कृष्ण को पाकर कृष्ण के गले में हाथ डाल) कृष्ण, प्यारे कृष्ण, कृष्ण!

कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा!

राधा—हाँ, चर्म-चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय-चक्षु खुल गये हैं। लगभग पैंतीस वर्षो मे यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोडने के समय कहा था—मैं ही कृष्ण हूँ, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का ऐसा पूर हृदय पर चढा दिया कि मैं सारे संसार को सुख बाँट सकती हूँ।

कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नही होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकी।

राधा—क्यो, सखा, अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो ?

कृष्ण—नही, सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

राधा—पर, मेरे हृदय-चक्षुओ से तो तुम उतने ही बडे दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा, वैसा ही, स्पर्श मे भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही, वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही, प्यारे सखा, बजाओ, मुरली बजाओ, एक बार फिर सुनूंगी। मेरे प्यारे कृष्ण! मेरे प्राणवल्लभ कृष्ण! मेरे सर्वस्व कृष्ण!

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका लेती है। गोपियाँ गाती हैं और गुलाल छिड़कती है।]

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति हुइ सो गयी ॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रयी।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गयी ॥

[कुछ ही देर में राधा का मृत शरीर कृष्ण के चरणो में गिर पड़ता है।]

कृष्ण—देखा, कृष्णा, देखा, रुक्मिणी, यह अद्वितीय प्रेम है, यह प्रेम लक्षणा-भक्ति है।

द्रौपदी—(आश्चर्य से) हैं! मृत्यु हो गयी! मृत्यु हो गयी! अद्भुत है!

रुक्मिणी—अपूर्व है!

[गोप-गोपियो में हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारका का मार्ग

समय—प्रात काल

[मार्ग, मथुरा के मार्ग के सामान ही है। अनेक नगरवासियो का प्रवेश।]

एक—भारी उत्सव हुआ, वन्धु, भारी उत्सव। हिमालय से कन्या-कुमारी तक और पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक, क्या हमारे राज्य में और क्या हमारे राज्य के बाहर, भगवान् श्रीकृष्ण के अस्सी वर्ष की इस जन्म-गाँठ का आज एक मास पूर्व से भारी उत्सव हुआ। हर वर्ष यह उत्सव बढता ही जाता है।

दूसरा—आज ही तो जन्म-गाँठ है, आज उत्सव समाप्त हो जायगा।

तीसरा—आज सारा देश उन्हे परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है और इसमे सन्देह ही क्या है?

चौथा—किसीने परब्रह्म परमात्मा को देखा है कि कोई उनका अवतार मान लिया जाय?

दूसरा—जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि वे आज ससार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और इसके कारण है।

चौथा—क्या?

दूसरा—वल और ज्ञान दोनो मे अद्वितीय है, स्वार्थ से वे रहित हैं और उनका नैतिक चरित्र नितान्त शुद्ध है।

चौथा—मै तो यह भी नही मानता। एक बक, एक वत्स, एक गर्धभ, एक सर्प मार डालने से, उस बक को चाहे बकासुर, वत्स को चाहे वत्सासुर, गर्धभ को चाहे केशी और सर्प को चाहे अघासुर बडे बडे नाम दिये जायँ, कोई बलशाली सिद्ध नही हो सकता। रहा ज्ञान, सो यदि धूर्त्तता का नाम ही ज्ञान हो, तब तो दूसरी बात है, नही तो ज्ञान तो कृष्ण मे छू नही गया है और निस्वार्थता की तो बात ही छोड दो, कृष्ण से बडा स्वार्थी न आज तक जन्मा है और न भविष्य मे जन्मेगा।

पहला—क्या बकता है ?

चौथा—सत्य कहता हूँ, सत्य। जो कुछ उसने किया सब अपने उत्कर्ष के लिए। नीच कुल मे उत्पन्न हुआ, पर उच्च कुल का बने बिना उत्कर्ष कैसे होता, अत वज के माता-पिता को छोड अपने को वसुदेव-देवकी का पुत्र घोषित किया। उन बेचारे नद-यशोदा को छोडा भी ऐसा कि वे रो-रोकर मरणासन्न हो गये, पर, एक बार भी उनकी सुधि न ली, इसलिए कि कही पुन व्रज जाने के कारण जन-समुदाय यह न कह दे कि यथार्थ में नद-यशोदा ही उसके पिता-माता है। स्वय सिंहासनासीन तो हो नही सकता था, क्योकि विप्लव हो जाता, अत उग्रसेन के सदृश वृद्ध को सिंहासन पर बैठाया, जिसमे उग्रसेन उसके हाथ कठपुतली रहे और सारी राज-सत्ता उसकी मुट्ठी में। फिर कौरवो-पाण्डवो मे युद्ध करा उनकी शक्ति का सहार करवा डाला, जिससे स्वय ही सबसे अधिक शक्तिशाली रह सके। कहाँ तक उसके स्वार्थों को गिनाऊँ ?

पहला—(क्रोध से) क्या मौत तेरे सिर पर नाचती है ?

चौथा—(मुस्कराकर) पहले कृष्ण के नैतिक चरित्र का इतिहास और सुन लो तब मुझे मारना। **(उँगली पर अँगूठे को रख-रखकर गिनते हुए)**

जिसने पूतना की स्त्री-हत्या की, चोरी की, व्रज की गोपियो से व्यभिचार किया, जो रण मे से भागा, जिसने दूसरे की पुत्री का हरण किया, अपनी भगिनी को भगवाया, अनेक विवाह किये, देश भर मे सर्व-श्रेष्ठ पद पाने के लिए युद्ध-भूमि मे नही किन्तु पाण्डवो के राजसूय-यज्ञ की यज्ञशाला मे शिशुपाल को मारा और कौरव-पाण्डवो के युद्ध में अधर्म से कौरव-पक्ष के नि शस्त्र महारथियो को मरवाया, वह नैतिक दृष्टि से सच्चरित्र ! (जोर से हँसकर) ऐसा मनुष्य आज भगवान् का अवतार हो गया है ! ससार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ! सारे देश में हर वर्ष उसकी जन्म-गाँठ मनायी जाती है ! सचमुच, ससार बड़ा निर्लज्ज है !

पहला—(क्रोध से) वस, वहुत हो गया, वहुत हो गया। यदि एक शब्द भी और कहा तो जीभ खीच लूंगा, जीभ।

दूसरा—(क्रोध से) मार-मारकर लेह्य बना डालूंगा।

तीसरा—(क्रोध से) भरता-सा भूंज डालूंगा, भरता-सा।

पाँचवाँ—(क्रोध से) चटनी-सी पीस डालूंगा, चटनी-सी।

चौथा—चाहे मारो, पीटो, लेह्य बनाओ, भरता भूंजो या चटनी पीसो, जो सच्ची बात होगी वह मै तो अवश्य कहूँगा।

[कुछ मनुष्य उसे मारने पर उद्यत होते है। एक बढ़कर कहता है।]

छठवॉ—अरे, क्यो नीच के सग नीच होते हो।

सातवॉ—जाने दो जी, उसके मुँह मे कीडे पडेगे।

आठवाँ—भगवान् की निन्दा से कौन अच्छा फल पा सकता है।

नवॉ—हॉ, सूर्य की ओर धूल डालने से अपने सिर पर ही गिरती है ?

चौथा—मैं भी ठकुर-सुहाती कहने लगूँ तो अच्छा लगूँ।

पहला—(छठवें से) देखो जी, इसे समझा दो, नही तो इस वार मारे बिना न छोड़ूंगा।

चौथा—(क्रोध से) किसीको किसीके सबन्ध मे क्या अपना मत प्रकट करने का भी अधिकार नही है?

पहला—ऐसा मत! ऐसा मत! (मारने को भुजाओ पर हाथ फेरता है।)

चौथा—जैसा भी जिसका मत हो, अपना-अपना मत अपने पास रहेगा, उसे वह प्रकट भी करेगा, तुम कृष्ण को भगवान् समझते हो, सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हो, बल और ज्ञान मे अद्वितीय कहते हो, स्वार्थ-रहित घोषित करते हो, सच्चरित्र बताते हो, मै उसमे इनमे से एक भी सद्‌गुण नही मानता। मै उसे धूर्त्त, स्वार्थी, महत्त्वाकाक्षी तथा इतना ही नही, स्त्री-हत्यारा, चोर, लम्पट, व्यभिचारी, कायर और विषयी मानता हूँ। अपना-अपना मत है।

पहला—बस, सहन-शक्ति की अब सीमा हो चुकी।

[चौथे मनुष्य से लडने को भिड जाता है। शेष कुछ लोग भी चौथे को मारते है। कई लोग उसे बचाते है और पहले और चौथे को अलग अलग करते है।]

छठवॉ—(पहले तथा अन्य व्यक्तियो से) क्या विक्षिप्त के सग विक्षिप्त होना पडता है? कहाँ हम लोग प्रभास-क्षेत्र चल रहे थे और कहाँ यह दूसरी लीला करने लगे। द्वारका मे सचमुच आजकल इस प्रकार के बहुत झगडे होने लगे है। चलो-चलो, शीघ्र प्रभास पर पहुँचना है, नही तो उत्सव का स्नान ही समाप्त हो जायगा। सारा देश उलट पडा है, क्या हम ऐसे मदभागी है कि इतने निकट रहने पर भी न पहुँचेगे?

[छठवें के संग सब जाते है, पर चौथा नहीं जाता। वह उन्हे घूरता है और दूसरी ओर चला जाता है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारका मे कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रात काल

[वही दालान है जो तीसरे अक के पहले दृश्य में थी। कृष्ण खडे है। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की होने पर भी मुख और शरीर वैसा ही है। वस्त्र श्वेत और शरीर भूषणो से रहित है। सिर खुला है। वृद्ध उद्धव का प्रवेश। उद्धव के बाल श्वेत हो गये है। मुख पर झुर्रियाँ पड गयी है।]

उद्धव—बधाई है, द्वारकाधीश, बधाई है, आपके अस्सी वर्ष के जन्म-दिवस की बधाई है। जन्म-गाँठ का उत्सव इस राज्य में ही नही, किन्तु हिमालय से समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी पर हुआ है। एक स्वर से आपका जयघोष हो रहा है। भगवन्, आपके स्वार्थ और फलेच्छा-रहित कार्यों के कारण, आप यद्यपि पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा नही है, पर, सारे मानव-समाज के हृदय-सम्राट् हो गये है।

कृष्ण—(मुस्कराकर) उद्धव, आज तो तुमने भी एक साँस मे मुझे सचमुच ही भगवान् समझ मेरी स्तुति कर डाली।

उद्धव—और भगवान् कैसे होते है, नाथ ? मै ही क्या, सारा ससार आपको परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है।

कृष्ण—(मुस्कराकर) ऐसा नही है, उद्धव, मेरे कई निन्दक भी है,

आज है, इतना ही नही, सदा रहेगे, क्योकि कौनसा कार्य किस उद्देश से किया जाता है यह लोग बडी कठिनता से समझ पाते है। कई गूढ कार्य तो ऐसे होते है कि ऊपर से वे निन्दनीय दिखते है और उनका भीतरी रहस्य साधारण जन-समुदाय की समझ मे नही आता। पर, उद्धव, इन सब बातो की मुझे चिन्ता नही, मेरी आत्मा पूर्णत सुखी है।

उद्धव—ऐसे निन्दको के मुख आप ही काले होगे, भगवन्, इतना ही नही, वे स्वय ही अपने अन्त करण मे कष्ट पाते रहेगे।

कृष्ण—पर, उद्धव, सबके मुख सदा स्वच्छ और सबके हृदय सदा सुखी रहने की ही अभिलाषा करनी चाहिए।

उद्धव—(कुछ लज्जित हो) चाहिए तो ऐसा ही, पर, मनुष्य अपनी कृतियो के कारण दुखी हो ही जाता है। जो कुछ भी हो, हम लोग तो सदा इसीके इच्छुक रहते है कि अभी आप अनेक वर्ष इस भूतल पर विराजे और जगत् का कल्याण करे।

कृष्ण—(मुस्कराकर) हर मनुष्य अपने निश्चित कार्य के लिए ही जगत् मे आता है और वह कार्य हो चुकने के पश्चात् एक क्षण भी नही रह सकता। अब तो मुझे ससार मे अपने रहने का कोई प्रयोजन नही दिखता। इस समय दुष्टो एव अधर्म और अन्याय का नाश हो चुका है, धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम की विजय हो चुकी है। उत्तर दिशा मे इतने दीर्घ काल से जो सुर और असुरो का कलह चल रहा था, वह भी सम्राट् बाण की उदारता के कारण अनिरुद्ध और उषा के विवाह से समाप्त हो गया, सुरो को उनका राज्य मिल गया एव सुरेश और असुरेश मे भी स्थायी सधि तथा गाढ मित्रता हो चुकी है। मेरा अब कोई कार्य तो शेष नही दिखता, हाँ, इस देश के रहनेवाले यादव अवश्य दिनो दिन मदमत्त होते जा रहे है।

उद्धव—(घबड़ाकर) तब क्या इनका भी अनिष्ट होगा, भगवन् ?

कृष्ण—जो मदोन्मत्त हो ससार के दु खो का कारण होते है, उनका नाश अवश्यभावी है।

उद्धव—परन्तु, प्रभो, आप सदृश उनका रक्षक होने पर भी ?

कृष्ण—मै धर्म, न्याय और सत्य की रक्षा कर सकता हूँ, अधर्म, अन्याय और असत्य की रक्षा करने जाऊँ तो स्वय भी उसीके सग नष्ट हो जाऊँ।

उद्धव—परन्तु, नाथ, यादवो के सुधार का प्रयत्न कीजिए।

कृष्ण—सो तो कर ही रहा हूँ, पर, वे सुधर नही रहे है। जब बिगडी हुई वस्तु सुधार के परे चली जाती है, तब उसका नाश ही होता है। मुझे तो यदुकुल का कल्याण नही दिखता।

[वृद्ध बलराम का प्रवेश। उनके केश भी श्वेत हो गये है और उनके मुख पर भी झुर्रियाँ दिखती है।]

बलराम—प्रभास-क्षेत्र की यात्रा का समय हो गया, कृष्ण, इस वर्ष तो तुम्हारे जन्मोत्सव के कारण सारा देश प्रभास की ओर उलट पडा है। सभी स्नान करने और तुम्हारे दीर्घजीवी होने की मगल-प्रार्थना करने जा रहे है। तुम तो, बन्धु, लोगो की दृष्टि मे सचमुच भगवान् के पूर्णावतार हो गये हो।

कृष्ण—सो तो मै नही जानता, आर्य, मेरी दृष्टि मे तो सारा विश्व ही भगवान् है, और यदि इसका पूर्ण अनुभव ही भगवान् का पूर्णावतार होना है, तो मुझे आप या कोई भी भगवान् का पूर्णावतार मान सकते है। पर, चलिए, प्रभास पर अवश्य चलूँगा।

[तीनो का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र का एक वन-मार्ग

समय—सध्या

[दो व्याधो का धनुष-बाण लिए हुए प्रवेश।]

एक—ऐसा युद्ध कही देखा, बन्धु, कभी सुना भी ? पशु भी इस प्रकार तो नही लडते।

दूसरा—मदिरा से मदमत्त थे। मत्तता मे कुछ सूझता है ?

पहला—ऐसा मद कि पिता-पुत्र, भ्राता-भ्राता, ससुर-जामात्र, मित्र-मित्र, आपस मे लडकर मर गये और जब आयुध नही बचे तो ऐरक घास से लडे।

दूसरा—भयानक युद्ध हुआ, भयानक! कदाचित् ही कोई यादव बचा हो! सभी समाप्त हो गये! भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम! (लबी साँस लेता है। कुछ ठहरकर दाहनी ओर देख) देखना, वह दूर पर क्या दिखता है ?

पहला—(देखकर) मृग है मृग। दिन भर मे आज कुछ न मिला। ऐसा बाण छोडो कि जिससे वह एक ही बाण का हो।

दूसरा—लो, अभी लो।

[बाण छोडता है। दोनो जिस ओर बाण छोडा जाता है, उसी ओर दौडते हैं। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र की एक पहाडी

समय—सध्या

[बलराम और उद्धव का शीघ्रता से प्रवेश ।]

बलराम—(रोते हुए) हाय! हाय! सब समाप्त हो गया, सब समाप्त हो गया! कृष्ण अब कितनी देर के, उद्धव! यादव लडकर मर गये, कृष्ण उस व्याध के बाण के आखेट हुए! अरे! यदि वे ही रहते तो सब कुछ था, पर गया, सब कुछ गया! हा! कृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम होना था!

उद्धव—(रोते हुए) महाराज, भगवान् कृष्ण ने कहा था कि यादव बडे मदमत्त हो गये हैं, इनका अब कल्याण नही दिखता।

बलराम—मद यादवो को अवश्य हो गया था, पर यदि वारुणी न पी होती, तो यह दशा न होती। पर, बन्धु, कृष्ण की जन्म-गाँठ का उत्सव था। मुझे ही वारुणी बडी प्रिय है, मैंने ही आग्रह से सबो को पिलायी। हा! व्रज के जीवन से लेकर आज तक की सारी घटनाएँ आज मेरे नेत्रो के सम्मुख घूम रही है। हम सबके जाने का समय ही था, पर, पुत्र-पौत्रादि भी नष्ट हो गये।

[नेपथ्य में मुरली की ध्वनि सुनायी पडती है।]

बलराम—यह लो, उद्धव, यह लो। बन्धु-बाधव, पुत्र-पौत्रो के नष्ट होने पर भी, स्वय मरण के समीप होने पर भी, कृष्ण की मुरली ही बज रही है! महा अद्भुत हृदय है!

उद्धव—चलिए, महाराज, इस समय उनके निकट चलना चाहिए।

बलराम—नही, नही, उद्धव, मेरा साहस उनके निकट जाने का नही है। मुझे अब समुद्र मे ही शाति मिलेगी, और कही नही, और कही नही। (शीघ्रता से प्रस्थान।)

उद्धव—महाराज! महाराज!

[पीछे-पीछे दौडते है। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र पर समुद्र का किनारा

समय—सन्ध्या

[समुद्र और क्षितिज मिला हुआ-सा दिखता है। समुद्र में लहरें उठ रही हैं और क्षितिज पर बादल। सूर्य अस्त हो रहा है। आसपास के पर्वत, झरने और वृक्ष उसकी किरणो से चमक रहे है। कभी-कभी बादलो में बिजली चमक जाती है। इधर-उधर अनेक लाशें और मनुष्य-शरीर के कटे हुए अवयव पडे है। एक वृक्ष के नीचे कृष्ण पत्थर से टिके, आधे लेटे हुए मुरली बजा रहे है, उनके पैर से रक्त बह रहा है। अधीर उद्धव का प्रवेश।]

उद्धव—(निकट जाकर जोर से रो पड़ते है) भगवन्! भगवन्!

कृष्ण—(मुरली हटाते हुए मुस्कराकर) कौन, उद्धव? क्यो, रोते क्यो हो? यादवो के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का? रोने का तो कोई कारण नही है।

उद्धव—महाराज, क्या रहा ? कुछ नही रह गया, सब गया, भगवन्, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र मे समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत है, नाथ। यह मद भाग उद्धव ही रह गया।

कृष्ण—(मुस्कराते हुए) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पडता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुमसे कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवो का मै कल्याण नही देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नही दिखता, आर्य का भी कदाचित् कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पडती है। तुम्हे बचे हुए यादवो को मथुरा ले जाना है, क्योकि प्राकृतिक अवस्थाओ के कारण द्वारका की भी कुशलता नही दिखती, फिर मेरे जाने के दु ख मे, ससार को, ज्ञान-द्वारा तुम्ही सान्त्वना दे सकते हो। अभी तुम्हारा कार्य है, उद्धव।

उद्धव—(रोते हुए) परन्तु, भगवन्, मै सदा आपके सग रहा, आपका अनुचर रहा, आपके बिना कैसे रहूँगा ?

कृष्ण—यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे सग रहने पर भी आज तुम्हे यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे सग रहने से तुम्हे लाभ ही क्या हुआ ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप मे न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, उद्धव, अब जाता हूँ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र, इसी आकाश मे मै भी व्याप्त हो जाऊँगा, इसी सागर की तरगो में मै भी विचरण करूँगा। देखते हो, उठते हुए बादल; इन्ही बादलो के सग मै भी क्षितिज पर उठूँगा। देखते हो, बिजली, इसीके सग मै भी चमकूँगा।

देखते हो, सूर्य की किरणे, इनके सग मै भी आलोकित होऊँगा। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मे झलका करूँगा और तारो की दमक मे दमका करूँगा। पर्वतो, नदियो, झरनो, वृक्षो, लताओ मे व्याप्त हो जाऊँगा, और इन सब के परे भी जो कुछ इस सारे विश्व मे दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय, तथा अवर्णनीय है, मै समस्त मे प्रविष्ट हो जाऊँगा। सृष्टि के परे भी यदि कुछ होगा तो वहाँ भी मै होऊँगा। मुझे जाने मे कोई क्लेश नही हो रहा है, कोई नही। इस बाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नही, कोई नही। बडे सुख, बडे उल्लास, बडे आनंद से मै जा रहा हूँ। जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वद्व नही है, जहाँ सभी निर्द्वंद्व है, एक है। इस मुरली के स्वरो के साथ ही जाता हूँ।

[कृष्ण नेत्र बदकर मुरली बजाते हैं। कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है।]

यवनिका-पतन

समाप्त

हर्ष

समय मडप मे अग्नि लगाया जाना ये सब ऐतिहासिक घटनाएँ है। हाँ, शिव, सूर्य एव बुद्ध का सयुक्त-पूजन कान्यकुब्ज मे तथा सर्वस्व-दान प्रयाग मे होता था। सुविधा और सौदर्य-वृद्धि के विचार से मैने इन दोनो घटनाओ का एकीकरण कर दिया है।

हर्ष और शशाक नरेन्द्रगुप्त का सघर्ष तथा हर्ष के मित्र माधवगुप्त का गुप्तवशज होना ये भी ऐतिहासिक बाते है। माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन भी ऐतिहासिक व्यक्ति है। हर्ष का आर्य और बौद्ध-धर्म पर समान रूप से प्रेम तथा शशाक नरेन्द्रगुप्त की आर्य-धर्म मे कट्टरता, बौद्ध-धर्म से द्वेष और बुद्ध-गया के बोधि-वृक्ष को कटवाना ये बाते भी इतिहास-सिद्ध है। हाँ, वर्द्धन और गुप्त-वश के सघर्ष का जो स्वरूप नाटक मे दिया गया है उसके लिए मै ज़िम्मेदार हूँ।

राज्यश्री की सखी अलका को छोडकर शेष सब पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति है। हर्ष की पालित पुत्री और माधवगुप्त की स्त्री के नाम ज्ञात न हो सकने के कारण मैने उनके नाम जयमाला और शैलबाला रख दिये हैं।

इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओ के क्रम मे परिवर्तन न करते हुए भी, सुविधा और सौदर्य के लिए, मैने उन्हे आगे-पीछे करने की स्वतत्रता ली है, परन्तु यथाशक्य इससे भी बचने का प्रयत्न किया है।

मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी लेखक को यह अधिकार नही है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड-मरोडकर उसे एक नयी कथा ही बना दे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है। मैने इस नाटक के लिखने मे यही नीति अपने समक्ष रखी है तथा सर्वत्र इसका इसी प्रकार पालन किया है।

प्राचीनता की झलक लाने के लिए मैने सम्बोधन प्राचीन काल के ही रखे है, साथ ही, प्राचीनता की यही झलक लाने के लिए भाषा मे

अरबी और फारसी शब्दो से बचने का यत्न किया है। भाव, दृश्य और वेश-भूषा भी प्राचीन काल के अनुरूप रहे इसका भी ध्यान रखा है।

इस नाटक के पद्यो मे दो पद्यो को छोडकर शेष मेरे लिखे हुए है। लकडी उठानेवाली स्त्रियो-द्वारा गाया हुआ पद्य कविता-कौमुदी के पाँचवें भाग ग्राम-गीत से लिया गया है और दूसरे अक के पहले दृश्य मे, नेपथ्य मे गाया हुआ गीत मेरी पुत्री रत्नकुमारी का लिखा हुआ है।

इस नाटक के लिखने मे, निम्नलिखित ग्रन्थो से सहायता ली गयी है—(१) विन्सेन्ट स्मिथ-द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ एन्शेण्ट इण्डिया', (२) सी० वी० वैद्य-द्वारा लिखित 'हिस्ट्री ऑफ मेडिवल हिन्दू-इण्डिया', (३) महाकवि बाण-द्वारा लिखित 'हर्ष-चरित' और (४) चीनी-यात्री यानचाग का, थॉमस वाल्टर्स-द्वारा सपादित, यात्रा-वर्णन।

गोविन्ददास

नाटक के मुख्य पात्र, स्थान

पुरुष—

(१) शिलादित्य—स्थाण्वीश्वर का राजकुमार, पीछे से हर्षवर्द्धन नाम धारण कर स्थाण्वीश्वर का राजा

(२) माधवगुप्त—शिलादित्य का मित्र

(३) अवन्ति—स्थाण्वीश्वर का महामंत्री

(४) सिंहनाद—स्थाण्वीश्वर का महासेनापति

(५) भण्डि—स्थाण्वीश्वर का सेनापति, पीछे से कान्यकुब्ज का महासेनापति

(६) आदित्यसेन—माधवगुप्त का पुत्र

(७) शशांक नरेन्द्रगुप्त—गौड का राजा

(८) यशोधवलदेव—गौड का सेनापति

(९) यानच्वांग—चीनी-यात्री

स्त्री—

(१) राज्यश्री—शिलादित्य की बहन, पीछे से उत्तर भारत की सम्राज्ञी

(२) अलका—राज्यश्री की सखी

(३) जयमाला—शिलादित्य की पालित पुत्री

(४) शैलबाला—माधवगुप्त की स्त्री, आदित्यसेन की माता

अन्य पात्र—

स्थाण्वीश्वर की राजसभा के सदस्य और सैनिक, विन्ध्याटवी के राजा और सैनिक, कान्यकुब्ज के ब्राह्मण, पुरवासी और बौद्ध-भिक्षु, नालन्द के अध्यापक और विद्यार्थी, महाधर्माध्यक्ष, प्रतिहारी इत्यादि

स्थान—

स्थाण्वीश्वर, विन्ध्याटवी, कान्यकुब्ज, कर्णसुवर्ण

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद में राज-सभा-कक्ष

समय—सन्ध्या

[विशाल कक्ष है। कक्ष की छत स्थूल पाषाण-स्तभो पर स्थित है। प्रत्येक स्तभ के नीचे गोल कमलाकार कुभी (चौकी) और ऊपर भरणी (टोडी) है। प्रत्येक भरणी में दोनो ओर पाषाण की एक-एक गज-शुण्ड बनी है, जो ऊपर की ओर उठकर छत को स्पर्श किये हुए है। कुभियो, भरणियो और स्तभो पर खुदाव का काम है। तीन ओर भित्ति (दीवाल) है। छत और भित्ति सुन्दर रगो से रँगी हुई है, जिनपर चित्रावली है। दाहनी और बॉयी ओर की भित्ति के सामने के सिरो पर एक-एक द्वार है। द्वार खुले हुए है और उनमें से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणो से रँग रहा है। द्वारो की चौखटो और कपाटो की लकडियो में भी खुदाव का काम है। कक्ष की पृथ्वी पर हरित रग की बिछावन बिछी हुई है और उसपर तीन पक्तियों में दस आसदियाँ (चौकियाँ) रखी है; सामने की पंक्ति में चार और

उसके दोनो ओर की दो पंक्तियो में तीन-तीन। आसंदियाँ काष्ठ की है और उनपर गद्दियाँ बिछी है, जिनपर तकिये लगे है। गद्दियाँ और तकिये श्वेत वस्त्र से ढँके हुए है। सामने की पंक्ति के बीच की दो आसंदियो पर अवन्ति और सिंहनाद बैठे हुए है। अवन्ति की अवस्था लगभग ५५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण का ऊँचा, किन्तु इकहरे शरीर का मनुष्य है। सिर, मूछो और दाढ़ी के लम्बे बाल आधे श्वेत हो गये है। श्वेत रंग का उत्तरीय (दुपट्टा) और अधोवस्त्र (धोती), इस प्रकार दो वस्त्र, धारण किये है। इनकी किनार सुनहरी है। सिर खुला है और मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है। कानो में कुंडल, गले में हार, भुजाओ पर केयूर, हाथो में वलय और अँगुलियो में मुद्रिकाएँ धारण किये हुए है। सब भूषण रत्न-जटित है। पैरो की काष्ठ-पादुका आसदी के नीचे उतरी हुई रखी है। सिंहनाद की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वह गेहुँएँ रंग का ऊँचा और गठे हुए शरीर का कुछ मोटा व्यक्ति है। सिर, मूँछो और गलमुच्छो—सबके बाल काले है। उसके वस्त्राभूषण भी अवन्ति के सदृश ही है। सिर खुला है और मस्तक पर वह भी त्रिपुण्ड लगाए है। वह आयुध भी धारण किये है। बॉयें कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। शेष आठ आसदियो पर राज-सभा के अन्य सदस्य बैठे है। सबकी अवस्था ४० और ४५ वर्ष के बीच में है और सबकी वेश-भूषा अवन्ति और सिंहनाद के समान है, परन्तु सभी आयुधो से रहित है। किसीका वर्ण गौर है और किसीका गेहुँआँ। किसीके केवल मूँछें है, किसीके गलमुच्छे और किसीके दाढ़ी भी। सबकी काष्ठ-पादुकाएँ आसंदियो के नीचे उतरी हुई रखी है। सबके मुख कुछ नीचे झुके हुए है और उनपर गहरी चिन्ता झलक रही है। सभा-कक्ष में निस्तब्धता छायी हुई है।]

अवन्ति—(कुछ समय पश्चात् सिर उठाते हुए धीरे-धीरे) तो इस समय गौडाधिपति शशाक नरेन्द्रगुप्त से बदला लेने के विचार को

छोडकर केवल राज्य-रक्षा की ओर लक्ष रखा जाय, यही राज-सभा का निर्णय है?

एक सदस्य—(सिर उठाकर) हाँ, महामात्य, और तो कोई उपाय नही दिखता।

अवन्ति—परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन के कैलाश-वास होते ही स्थाण्वीश्वर के राज्यवश और राज्य की यह दशा होगी कि हम परमभट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे शशाक से बदला तक न ले सकेगे, यह मै स्वप्न मे भी न सोच सकता था। स्थाण्वीश्वर के भूत-काल की शक्ति और वैभव की यह दुर्दशा!

सिहनाद—(सिर ऊँचाकर) यदि हम लोग राजपुत्र शिलादित्य को किसी प्रकार सिहासन ग्रहण करा सके तो भविष्य के पुन उज्ज्वल होने मे, कम से कम मुझे सन्देह नही है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन ने सिहासनासीन होकर मालवेश देवगुप्त से कान्यकुब्जाधिपति के वध करने एव राजपुत्री राज्यश्री के वैधव्य का तथा उन्हे वन्दी बनाने का तत्काल बदला लिया ही था, महामात्य। यह तो शशाक ने छल से परमभट्टारक की हत्या की, अन्यथा उन्होने समस्त भारत के दिग्विजय करने के लिए प्रस्थान ही किया था।

अवन्ति—आप ठीक कहते है, महाबलाधिकृत। यदि हम राजपुत्र शिलादित्य को सिहासन पर बिठा सके तो अभी भी सब कुछ सम्भव है, परन्तु उनका सिहासन ग्रहण करना ही तो सबसे बडी कठिनाई है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध का समाचार पाते ही उन्हे सिहासनासीन होना था। राज्यसिहासन तो क्षणमात्र भी रिक्त नही रह सकता, परन्तु वे स्वीकार कहाँ कर रहे है? जब महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के सदृश सहोदर भ्राता के नीचतापूर्वक वध होने और राजपुत्री राज्यश्री-सदृश

सहोदरा भगिनी के बन्धन-मुक्त न होने पर भी राजपुत्र सिंहासन ग्रहण न करने की अपनी टेक पर स्थिर है तब यह आशा कैसे की जा सकती है कि भविष्य मे वे सिंहासन ग्रहण करने के लिए तैयार हो जायँगे।

सिंहनाद—यद्यपि मै निश्चयपूर्वक नही कह सकता, किन्तु राजपुत्र का सिंहासन ग्रहण करना कदाचित् अब सम्भव हो सकेगा।

अवन्ति—(उत्सुकता से) यह कैसे, महाबलाधिकृत?

एक सदस्य—यही यदि हो जाय तो क्या पूछना है?

दूसरा सदस्य—अवश्य।

अन्य कुछ सदस्य—(एक साथ) निस्सन्देह, निस्सन्देह।

सिंहनाद—बात यह है कि महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध और राजपुत्री राज्यश्री के बन्धन का राजपुत्र के हृदय पर कोई प्रभाव न पडा हो, यह बात नही है।

अवन्ति—प्रभाव पडना तो स्वाभाविक बात है, महाबलाधिकृत। सहोदर भ्राता के इस प्रकार वध और सहोदरा भगिनी के इस प्रकार वैधव्य और बन्दी होने का प्रभाव भला क्योकर न पडता? परन्तु इन प्रभावो की अपेक्षा बौद्ध-धर्म तथा कुछ विचित्र विचारो का प्रभाव उनके हृदय पर कही अधिक है।

एक सदस्य—हॉ, अब तो राजवशजो के सदृश वेश-भूषा तक उन्होने परित्याग कर दी है। बौद्ध-भिक्षुओ के सदृश पीत चीवर धारण किये हुए, बिना किसी आभूपण और आयुध के, बिना परिचारको और वाहन के, वे यत्र-तत्र घूमा करते है।

सिंहनाद—परन्तु, मुझे विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि इधर

एक-दो दिवसो से उनकी मानसिक अवस्था मे परिवर्तन हो रहा है।

अवन्ति—यह पता आपको किससे लगा?

सिंहनाद—उनके परम मित्र कुमारामात्य माधवगुप्त से।

[माधवगुप्त का नाम सुनकर सब लोग चोक पडते है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है और सब लोग विचारमग्न हो जाते है।]

अवन्ति—(कुछ देर पश्चात् धीरे-धीरे) देखिए महाबलाधिकृत, राजसभा के सम्मुख तो सब बाते स्पष्ट कही जा सकती है, अत मै माधवगुप्त के सम्बन्ध मे स्पष्ट ही कहूँगा, क्योकि किसीके कथन पर विचार करने के पूर्व कहनेवाला कौन है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

सिंहनाद—हाँ, हाँ, अवश्य।

अवन्ति—माधवगुप्त की ज्ञान-शक्ति उनकी अवस्था से कही आगे चलती है इसमे सन्देह नही, परन्तु उनपर मेरा थोडा भी विश्वास नही है, यह बात, कम से कम, राज-सभा के अधिकाश सभ्य जानते है। जिस समय से परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश पर विजय कर उन्हे और उनके भ्राता कुमारगुप्त को मालव देश से लाकर राजपुत्रो के सग रखा उसी समय से मै इस सहवास को उचित नही समझता। मगध के प्राचीन गुप्त-वशज, चाहे वे मालव देश मे राज्य करते हो और चाहे गौड मे, पराजित होकर कहाँ तक वर्द्धन-वश के शुभचिन्तक रहेगे यह विचारणीय है, क्योकि मौखरि वश और गुप्त-वश की परम्परागत शत्रुता है और मौखरि तथा वर्द्धन-वश का निकट का सम्बन्ध।

सिंहनाद—परन्तु, कुमारगुप्त और माधवगुप्त अपने ज्येष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त के वध होने पर भी वर्द्धनो के शुभचिन्तक रहे और

माधवगुप्त तो महाराजाधिराज राजवर्द्धन के कारण कुमारगुप्त के वध होने पर भी राजपुत्र शिलादित्य के स्नेह के कारण उनके सग है।

अवन्ति—महाबलाधिकृत, क्षमा कीजिएगा, यदि मै यह कह दूँ कि सैनिक राजनैतिक दाव-पेचो से प्राय अनभिज्ञ रहते हैं। मुझे माधवगुप्त पर अत्यधिक सन्देह है और जब उन्होने यह सवाद दिया है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था मे परिवर्तन हो रहा है तब मै इस सवाद को केवल सन्देह ही नही, भय की दृष्टि से देखता हूँ। आप जानते है कि माधवगुप्त का राजपुत्र पर कितना अधिक प्रभाव है?

सिहनाद—परन्तु, महामात्य, मुझे तो यही सवाद मिला है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था मे सिहासन ग्रहण करने के पक्ष मे परिवर्तन हो रहा है, इसमे माधवगुप्त का क्या षड्यत्र हो सकता है?

अवन्ति—(कुछ सोचते हुए) सो तो कहना इस समय कठिन है, परन्तु माधवगुप्त से प्रभावित होकर ही राजपुत्र ने सिहासन न ग्रहण करने का निश्चय किया था और अब माधवगुप्त ही सवाद लाते है कि सिहासन ग्रहण करने के पक्ष मे राजपुत्र की प्रवृत्ति हो रही है। इन सब बातो मे मुझे कुछ न कुछ रहस्य दिखायी देता है।

[फिर कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

अवन्ति—(कुछ देर पश्चात्) अच्छा, इस समय माधवगुप्त का विषय छोड दीजिए, क्योकि आप तथा मै सभी जानते है कि राजपुत्र उनपर अत्यधिक प्रेम रखते है और यह सहवास छूटना सरल नही है। इस समय तो मै यह जानना चाहता हूँ कि जब तक राजपुत्र अपने सिहासन ग्रहण न करने के निश्चय पर स्थित है, तब तक राज-सभा राज-रक्षा के अतिरिक्त और कुछ करने के लिए तैयार नही, यह तो अन्तिम निर्णय है न?

सिंहनाद—(सब सदस्यो की ओर देखते हुए) यही तो सबका मत जान पडता है।

एक सदस्य—हॉ, क्योकि अन्य कोई उपाय ही नही है। हूण-युद्ध मे हमारी बहुत-सी शक्ति का व्यय हो गया, रही-सही शक्ति मालवेश देवगुप्त से युद्ध करने मे लग गयी, महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के सग मे गयी हुई सेना और बलाधिकृत भण्डि अब तक लौटे नही हैं। इसके अतिरिक्त हमारे पास इस समय न यथेष्ट सेना है, न धन।

दूसरा सदस्य—और जन एव धन देकर शशाक से बदला लेने के लिए प्रजा को हम उत्तेजित कर सकेगे इसकी हमे आशा नही।

तीसरा सदस्य—हमे प्रतिकार के प्रयत्न मे इस समय सफलता मिल ही नही सकती, शत्रु-पक्ष अत्यन्त प्रबल है।

चौथा सदस्य—और यदि हम असफल हुए तो स्थाण्वीश्वर पर भयानक आपत्ति आने मे कोई सन्देह ही न रहेगा।

तीन सदस्य—(एक साथ) ठीक।

अवन्ति—(कुछ ठहरकर विचार करते हुए) तब मैं राज-सभा के सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित करना चाहता हूँ कि हम लोग राजपुत्र से स्पष्ट कह दे कि या तो वे सिंहासनासीन होना स्वीकार करे अथवा हम सब राजसभा से अपने-अपने पदो का त्याग करते हैं।

[अवन्ति का प्रस्ताव सुनते ही कुछ सदस्य चौंक पड़ते हैं, कुछ विचार-मग्न हो जाते हैं। कुछ देर को फिर निस्तब्धता छा जाती है।]

सिंहनाद—(धीरे-धीरे) महामात्य का यह प्रस्ताव कितना गम्भीर है, इस पर हम सबोको अत्यन्त ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। (कुछ

ठहरकर) यदि राजपुत्र ने सिहासन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया तब तो कोई बात ही नही, परन्तु यदि उन्होने यह न किया तो फिर हम सबोको अपने पद छोडने ही होगे और ऐसी अवस्था मे स्थाण्वीश्वर के राज्य की क्या दशा होगी ?

अवन्ति—देखिए, महाबलाधिकृत, शताब्दियो से इस देश मे प्रजा-तन्त्र सत्ता नही है। हमारी यह राज-सभा तथा इस सभा के सदृश जितनी भी राज-सभाएँ इस देश मे है, वे सब एक प्रकार से राजाओ को मत्रणामात्र देने का अधिकार रखती है। राजा ही उन्हे नियुक्त और वे ही उनमे परिवर्तन करते है। सम्राटो और राजाओ के हाथो मे सारी सत्ता के केन्द्री-भूत होने के कारण प्रजा का राज-कार्यो मे बहुत थोडा अनुराग रह गया है। वह केवल वीर-पूजक हो गयी है और सच्चे वीर ही उसका उपयोग करने की क्षमता रखते है। यही कारण है कि किसी भी वश मे वीर के न रहते ही सत्ता उस वश के हाथ से दूसरे वश के हाथ मे तत्काल चली जाती है और जो भी राजा होता है प्रजा ऑख मूँद कर उसका अनुगमन करती है। हमारा स्थाण्वीश्वर का राज्य भी आज इसी परिस्थिति का आखेट हो रहा है। हमारे राजा का वध हो गया है, परन्तु जिसने यह किया है उससे प्रतिकार लेने मे हम अपने को असमर्थ पाते है। इसीलिए न कि हमारे राज्य पर इस समय किसी वीर राजा का छत्र नही, जो प्रजा के जन और धन का उपयोग कर शत्रुओ को नीचा दिखा सके ? राज-सभा के सदस्यो की बात प्रजा मानेगी ऐसा हम सदस्यो तक को विश्वास नही। क्या आप लोग समझते है कि बिना राजा के हम राज्य-रक्षा कर सकेगे ? मुझे तो इसकी बहुत कम आशा है। यदि राज-सभा, बिना राजा के, शत्रु से बदला लेकर राज्य-रक्षा कर सके तो इससे अच्छी कदाचित् कोई बात न होगी, क्योकि यह, एक प्रकार से , शताब्दियो पूर्व इस देश मे जो प्रजातत्र थे, उनकी ओर बढना और किसी भी राजा का अनुगमन करनेवाली प्रजा की प्रवृत्ति के

मूलोच्छेदन का आरम्भ होगा। परन्तु, राज-सभा की आज की चर्चा सुनकर मुझे इसकी थोडी भी आशा नही है। जब कि कुछ दिनो मे अन्य किसी न किसी वीर का स्थाण्वीश्वर पर अधिकार होना ही है, और हमारे पद जाने ही है, तब आज ही यदि वह समय आ जावे तो कौनसी बडी भारी हानि हो जायगी ? आज तो हमे यह भी आशा है कि कदाचित् राजपुत्र शिलादित्य ही सिंहासन ग्रहण कर ले। परन्तु, यदि अन्य किसीने आकर हमारे पद छीन लिए तब तो यह आशा भी न रह जायगी।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

एक सदस्य—मै महामात्य से सहमत हूँ।

दूसरा सदस्य—(सिर हिलाते हुए) मुझे भी महामात्य का कथन उचित जान पडता है, विशेषकर इसलिए कि महाबलाधिकृत को विश्वसनीय सूत्र से पता चला है कि राजपुत्र की मानसिक अवस्था मे परिवर्तन हो रहा है।

तीसरा सदस्य—और यदि सचमुच ही उनकी मानसिक अवस्था मे परिवर्तन हो रहा है तो राज-सभा के समस्त सदस्यो के पद-त्याग का यह निर्णय सुन उस परिवर्तन मे सहायता पहुँचाना निश्चित है।

चौथा सदस्य—(सिर हिलाकर) महामात्य का कथन ही ठीक जान पडता है।

अन्य कई सदस्य—(एक साथ) यही किया जाय, यही किया जाय।

अवन्ति—अच्छी बात है। राज-सभा के इस निर्णय को मै राजपुत्र की सेवा मे उपस्थित कर दूँगा। मेरे साथ यदि महाबलाधिकृत भी जायँगे तो अधिक उपयुक्त होगा।

सिंहनाद—मै तैयार हूँ।

अवन्ति—(कुछ ठहरकर) तब आज का कार्य समाप्त हुआ ?

[अवन्ति उठता है। शेष सब सदस्य भी उठते है। सबका पादुका पहन कर दाहनी ओर के द्वार से प्रस्थान। पट-परिवर्तन होता है। दीवालें उद्यान के हरित कोट; छत, आकाश और स्तम्भ, अशोक वृक्षो में परिवर्तित हो, सभा-भवन का दृश्य उद्यान में परिणत हो जाता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राजोद्यान का अशोक-कुज

समय—सन्ध्या

[साधारणतया सुन्दर उद्यान है। दूरी पर उद्यान का हरित कोट दृष्टिगोचर होता है। बीच में अशोक-वृक्षो का कुंज है। नीचे, हरे घास की भूमि पर दस आलदियाँ रखी हुई है। सारा दृश्य डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणो से आलोकित है। शिलादित्य और माधवगुप्त का प्रवेश। दोनो गौर वर्ण और गठीले शरीर के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। दोनो की मूँछो की रेख निकल रही है। शिलादित्य की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है और माधवगुप्त की अठारह, परन्तु दोनो अपनी अवस्था की अपेक्षा अधिक वय के जान पड़ते है। दोनो के मुखो पर गाम्भीर्य का पूर्ण साम्राज्य है। शिलादित्य पीत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए हैं। सिर खुला है और सिर के केश भी बहुत बडे नही है। समस्त शरीर भूषणो से रहित है। माधवगुप्त श्वेत रंग का उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने है, जिनकी सुनहरी किनार है। उसका भी सिर खुला हुआ है और उसपर लम्बे बाल लहरा रहे है। वह कुण्डल, हार, केयूर, वलय और

मुद्रिकाएँ भी धारण किये है। सारे भूषण स्वर्ण के तथा रत्नजटित है। दोनो काष्ठ की पादुका पहने है।]

शिलादित्य—(लम्बी साँस लेकर) माधव, इस शोकमय काल मे, इस अशोक-कुज के नीचे, सन्ध्या समय कुछ शान्ति मिल जाती थी, किन्तु तुमने इधर दो दिवसो से हृदय मे कुछ ऐसे विचारो की उत्पत्ति कर दी है, कुछ ऐसा आन्तरिक सघर्ष मचवा दिया है कि वह शान्ति भी योजनो दूर चली गयी। (आगे बढकर एक आसंदी पर बैठता है।)

माधवगुप्त—(दूसरी आसदी पर बैठते हुए) राजपुत्र, मुझे बाल्यकाल से ही आपके पूज्य पिता कैलाशवासी परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन ने मालव देश से लाकर आपकी सेवा मे इसीलिए रखा और शिक्षित कराया है कि मै समय-समय पर आपको मत्रणा दे सकूँ। मै जानता हूँ कि वर्द्धन-वश के प्राचीन राजकर्मचारी मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते है, आपका जो मुझ पर यह स्नेह है उसे आपके लिए हितकर न समझ अहितकर समझते है, परन्तु ।

शिलादित्य—(बीच ही में) जब-जब तुम्हे सम्मति देने का अवसर आता है तब-तब तुम्हारे मन मे यह अविश्वास की बात उठे विना नही, रहती, माधव!

माधवगुप्त—(लम्बी साँस लेकर) मेरी मानसिक स्थिति की कल्पना, प्रयत्न करने पर भी, आप नही कर सकते, राजपुत्र। कुटुम्बी जनो से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रख, सदा आपकी मगल-कामना मे दत्तचित्त रहते हुए भी जब मै अपने प्रति सन्देह देखता हूँ तब ।

शिलादित्य—(फिर बीच ही में) परन्तु, मेरे हृदय मे तो तुम्हारे प्रति कोई सन्देह नही है न? मेरा हृदय तो तुम्हारे शुद्ध प्रेम से ओत-प्रोत भरा हुआ है न?

माधवगुप्त—यदि आपके हृदय मे भी मेरे प्रति सन्देह रहता, यदि आपका भी मेरे प्रति सच्चा प्रेम न होता तो स्थाण्वीश्वर के इस वायुमण्डल मे क्या मै एक क्षण भी निवास कर सकता था ? राजपुत्र, क्या कहूँ ? आपके प्रेम ने मुझे इस प्रकार बॉध रखा है कि मेरे ज्येष्ठ भ्राता मालवेश देवगुप्त का महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वध करने और उन्हीके कारण बन्धु कुमारगुप्त का वध होने पर भी, मै आपका सहवास न छोड सका। शशाक का वन्धुत्व भी इस स्नेहरूपी हिमालय के सम्मुख रजकण के तुल्य भी नहीं है, राजपुत्र।

[शिलादित्य उठकर माधवगुप्त को हृदय से लगा लेता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर दोनो अपनी-अपनी आसदी पर बैठ जाते है।]

शिलादित्य—अच्छा, अब काम की थोडी बात हो जाय। तुम जानते हो कि तुमने जो सम्मति इस समय मुझे दी है, उससे मेरी दशा कैसी हो गयी है ?

माधवगुप्त—कैसी राजपुत्र ?

शिलादित्य—उस पथिक के सदृश जो अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए एक पथ से विदा हो चुका हो और बीच मे कोई विश्वासपात्र जन आकर उससे यह कह दे कि वह एक अन्य पथ से अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से पहुँच सकता है।

माधवगुप्त—यदि उस पथिक को यह बात सचमुच ही उसका कोई विश्वासपात्र जन कहता है, तथा कहनेवाले के कथन से उस पथिक को भी यदि अपने पथ मे सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तो जितने शीघ्र वह पथिक अपना पथ परिवर्तित कर दे उतना ही उत्तम है।

शिलादित्य—(कुछ ठहरकर मुस्कराते हुए) क्यो, माधव, तुम्हे

यह विश्वास है कि मै जिस पथ पर चल रहा हूँ उसकी अपेक्षा अव अन्य पथ मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान पर अधिक शीघ्रता और सुविधा से ले जायगा ?

माधवगुप्त—यदि मुझे यह निश्चय न होता, आर्य, तो मै आपको अपनी सम्मति इतने स्पष्ट शब्दो मे न देता, आज तक क्या कभी मैने इस प्रकार का दुस्साहस किया है ?

शिलादित्य—मानता हूँ, कभी नही, माधव, तुम्हारी अवस्था की अपेक्षा तुम्हारा ज्ञान कही आगे वढा हुआ है, इसे प्रौढ जन भी स्वीकार करते है।

माधवगुप्त—यह आपकी और प्रौढ जनो की कृपा है।

शिलादित्य—(कुछ ठहरकर विचार करते हुए) तो तुम्हारा स्पष्ट और निश्चित मत है कि इस समय मेरा राज्य ग्रहण न करना कर्तव्य से च्युत होना है ?

माधवगुप्त—सर्वथा स्पष्ट और निश्चित। देखिए, राजपुत्र, धर्म और कर्तव्य-पथ से चलकर ही जीवन व्यतीत करना, आपने अपना लक्ष बनाया है। अव तक आपके राज्य ग्रहण न करने के निश्चय को मै सदा और भी दृढ करने का उद्योग इसलिए करता रहा कि आपके अग्रज थे। मै नही चाहता था कि इन दिनो जिस प्रकार अन्य अनेक राजाओ मे राज्य के लिए सहोदर भ्राताओ के वीच कलह हो जाता है वैसा स्थाण्वीश्वर मे भी हो। आपके अग्रज सिहासनासीन रह, सारे भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न करते और आप उनके इस महान् कार्य मे सहायता कर उनकी छत्रच्छाया मे प्रजा की सेवा मे दत्तचित्त रहते, परन्तु, आज तो राज्य की नीव ही हिल रही है। महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के हत्यारे, चाहे वे मेरे आत्मीय ही क्यो न हो, मै तो उन्हे महाराजाधिराज

का षड्यन्त्र से वध करने के कारण हत्यारा ही मानता हूँ, चक्रवर्ती सम्राट् होने की आकाक्षा कर रहे है और राजपुत्री राज्यश्री भी बन्धन मे पडी हुई है। यदि ऐसे आततायियो को दड न मिला तो फिर ससार का कार्य नियमित रूप से किस प्रकार चल सकेगा? वर्तमान परिस्थिति मे, आपका वर्तमान जीवन कर्तव्य-पथ पर न चलकर इसके विपरीत पथ पर ही चल रहा है। मै आपके विरागपूर्ण जीवन को सदा श्रेष्ठ मानता रहा, क्योकि मेरा निश्चय है कि मनुष्य को विषय-वासना के उपभोगो से सच्चा और स्थायी सुख मिलना असम्भव है। मै आपकी स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति को सदैव उत्तेजित करता रहा, कारण कि मेरा विश्वास है कि इस ससार मे परोपकार के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे सच्चा और स्थायी सुख मिल ही नही सकता। आज भी मै आपको अपने दो अन्तिम विचारो मे कोई परिवर्तन के लिए नही कह रहा हूँ, केवल अपने प्रथम निर्णय को परिवर्तित करने का निवेदन करता हूँ।

शिलादित्य—परन्तु, माधव, प्रथम निर्णय के परिवर्तित होते ही अन्तिम निर्णय तो आपसे आप बदल जायँगे।

माधवगुप्त—यह आवश्यक नही है। अनेक सम्राट् तथा राजा राज्य करते हुए भी विरागी एव परोपकार मे दत्तचित्त रहे है। उन्होने राज्य को सदा अपने पास प्रजा की धरोहर और अपने को प्रजा का सेवक माना है।

शिलादित्य—ऐसे दृष्टान्त बहुत कम है। अधिकाश नरेश या तो विषयो मे अनुरक्त रहे है या अपनी शक्ति और साम्राज्य बढाने के लिए रक्तपात मे दत्तचित्त।

माधवगुप्त—नही, आर्य, भारतीय सम्राटो तथा राजाओ का यह आदर्श कभी भी नही रहा। विषय-लोलुप सम्राट् एव राजाओ का चाहे अन्य देशो मे उत्कर्ष हुआ हो, मिश्र के फरोह और रोमक के सीज़र आदि विषय-

लोलुप रहते हुए भी चाहे उन्नत हो सके हो, परन्तु भारत के इतिहास मे आपको एक भी ऐसे सम्राट् या राजा का उदाहरण न मिलेगा, जिसका विषय-लोलुप रहते हुए उत्थान हुआ हो। अत्यन्त प्राचीन काल के भारतीय सम्राट् रघु, राम, युधिष्ठिर आदि अथवा आधुनिक काल के चन्द्रगुप्त अशोक, कनिष्क, समुद्रगुप्त इत्यादि किसीके जीवन की ओर आप देखे, इनमे से एक भी विषय-लोलुप न था। हाँ, रक्तपात इस देश के भी अनेक सम्राटो द्वारा हुआ है, पर वह अधिकतर या तो आततायियो को दण्ड देने के लिए अथवा समस्त देश मे सभ्यता और सस्कृति के एकीकरण रखने के उद्देश से, किसीके राज्य का अपहरण करने के निमित्त नही। आततायियो को दण्ड देकर उनका राज्य उन्हीके निकटवर्ती सम्बन्धियों को दे दिया जाता था। किष्किन्धा और लका मे राम ने यही किया था। इसी प्रकार जो चक्रवर्ती होकर समस्त देश मे एक सभ्यता और सस्कृति स्थित रखने के लिए अश्वमेध या राजसूय-यज्ञ करना चाहते थे वे भी उनसे युद्ध करनेवालो के पुत्रादिको को ही उनके राज्य सौप देते थे। पाण्डवो ने मगध के जरासिन्ध से युद्ध कर उसके पुत्र सहदेव को ही तो मगध का सिहासन दिया था। यज्ञो के बन्द होने के पश्चात् भी चक्रवर्ती सम्राटो की यही पद्धति रही। उन्होने किसीके राज्य का अपहरण न कर सबको माण्डलीक ही बनाया।

शिलादित्य—फिर भी तुम यह नही कह सकते कि सभी सम्राट् और राजा विषयोपभोगो और अपनी सत्ता-वृद्धि के लिए रक्तपात के दोषो से मुक्त रहे है। अत क्या यह सबसे अच्छी बात न होगी कि इस समय पुन प्राचीन भारत के लिच्छिवि, वज्जिक और मद्रक आदि राज्यो के समान प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय?

माधवगुप्त—प्रजा को अब इस प्रणाली का अभ्यास नही रह गया है और इस समय, जब कि चारो ओर शत्रु प्रबल हो रहे है तब, इस प्रकार के

कार्य का समय नही है। ऐसे अवसरो पर तो एक ही व्यक्ति के अधिकार मे सत्ता का रहना आवश्यक है, फिर प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है, इसका भी कोई प्रमाण नही।

शिलादित्य—यह कैसे ?

माधवगुप्त—यदि यही प्रणाली सर्वश्रेष्ठ होती तो इसके विकास के अनन्तर फिर सत्ता एक मनुष्य के अधिकार मे क्यो जाती ? भारत मे लिच्छिवि, वज्जिक, मद्रक आदि राज्यो मे प्रजातन्त्र के पश्चात् भी राजाओ के हाथ मे सत्ता गयी। यही बात हमे यवनक और रोमक आदि देशो के इतिहास से ज्ञात होती है। बात यह है, राजपुत्र, कि ससार मे हरएक वस्तु पूर्ण न होने बरन् परिवर्तनशील होने के कारण इन शासन-प्रणालियो मे भी परिवर्तन होता रहता है। एक बात सदा निर्दोष रह ही नही सकती। बहुत काल तक एक मनुष्य के अथवा अनेक मनुष्यो के हाथ मे सत्ता रहते-रहते दोनो ही प्रकार की पद्धतियो मे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते है। जन-समुदाय जब एक मनुष्य के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब प्रजातन्त्र की स्थापना और जब अनेक मनुष्यो के हाथ की सत्ता से कष्ट पाने लगता है तब एक मनुष्य के हाथ मे सत्ता देने का प्रयत्न करता है। **(कुछ ठहरकर)** मुझे विश्वास है, राजपुत्र, कि यदि आपने राजसिहासन ग्रहण किया तो भी आप कभी विषय-वासनाओ के आखेट न होगे, न कभी आपके हाथो व्यर्थ का रक्तपात ही होगा वरन् सदा सच्चे धर्म और कर्तव्य-पथ पर चलकर ही आप अपना जीवन व्यतीत कर सकेगे। आप तो इस काल के विदेह हो सकते है, राजपुत्र।

शिलादित्य—**(कुछ विचारते हुए)** यह तुम निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हो ?

माधवगुप्त—आपकी अब तक की मानसिक अवस्था के ज्ञान के कारण।

शिलादित्य—परन्तु, तुम्हीने अभी कहा कि ससार में हर वस्तु परिवर्तनशील है, परिवर्तन पर परिवर्तन होते है। आज मनुष्य एक बात विचार कर उसे उत्तम समझ उसके अनुसार व्यवहार करने का निश्चय करता है, कल उसीकी उत्तमता मे उसे सन्देह उत्पन्न हो जाता है और वह अपने निश्चय को परिवर्तित कर देता है। आज मुझे ही अपने सिंहासन ग्रहण न करने के निश्चय की उत्तमता मे सन्देह उत्पन्न हो गया है। कल अन्य निश्चय भी न बदल जायँगे, यह कैसे कहा जा सकता है?

माधवगुप्त—परिस्थिति के अनुसार निश्चयो को वदलना ही बुद्धिमत्ता है, आर्य, किन्तु, हाँ, यदि मनुष्य जीवन-शकट के दो चक्रो को न बदले तो अन्य निश्चयो के परिवर्तन से भी उसका जीवन-शकट कभी सच्चे पथ से भ्रष्ट नही हो सकता।

शिलादित्य—कौनसे चक्र, माधव?

माधवगुप्त—जिनपर आप अपने जीवन को चला रहे है। व्यक्तिगत आधिभौतिक विलासो के उपभोग की लालसा से निवृत्ति और परोपकार की प्रवृत्ति।

शिलादित्य—किन्तु, राज्य ग्रहण करने के पश्चात् यह निवृत्ति और यह प्रवृत्ति कहाँ तक स्थिर रह सकेगी?

माधवगुप्त—मैने कहा न, आर्य, कि यह अनेक सम्राटो तथा राजाओ में रही है।

शिलादित्य—और मै भी उन्ही मे एक होऊँगा इसका तुम्हारे पास क्या प्रमाण है?

माधवगुप्त—(मुस्कराकर) मेरे पास तो आपकी अब तक की मानसिक अवस्था का प्रमाण है, किन्तु आप वैसे न होगे इसका आपके पास क्या

प्रमाण है ? फिर, राजपुत्र, आप तो अकेले नही है। चाहे किसीका मुझ पर अविश्वास भी हो, पर आपका मुझ पर पूर्ण विश्वास है। हम दोनो एक दूसरे को पथ-भ्रष्ट न होने देने मे क्या सहायक न होगे ?

[प्रतिहारी का प्रवेश। वह ऊँचा-पूरा साँवले रंग का वृद्ध मनुष्य है। सिर पर लम्बे बाल और मुख पर बड़ी-बड़ी मूँछे तथा दाढ़ी है। सब केश श्वेत हो गये है। गले से पैर तक, नीचा, श्वेत रंग का कंचुक (एक प्रकार का अँगरखा) पहने हुए है, और सिर पर श्वेत पाग बाँधे है। कमर में सुनहरी रंग का कमर-पट्टा है, जिससे खड्ग लटक रहा है। कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये है। सब भूषण सुवर्ण के है। दाहने हाथ में एक मोटी सुवर्ण की छड़ी लिए है।]

प्रतिहारी—(सिर को बहुत नीचे तक झुका, अभिवादन कर) राजपुत्र की जय हो। श्रीमान, महासन्धिविग्रहक महामात्य और महाबलाधिकृत श्रीमान के दर्शन किया चाहते है।

शिलादित्य—(अभिवादन का, कुछ सिर झुकाकर, उत्तर देते तथा सोचते हुए) उन्हे ले आओ, प्रतिहारी।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। पुनः अवन्ति और सिंहनाद के साथ प्रवेश तथा उन्हे पहुँचा कर पुनः अभिवादन कर प्रस्थान। दोनो शिलादित्य को मस्तक झुकाकर अभिवादन करते है। शिलादित्य भी सिर झुका अभिवादन का उत्तर देते हैं। माधवगुप्त खडे होकर अवन्ति और सिहनाद का इसी प्रकार अभिवादन करता है। दोनो, माधवगुप्त के अभिवादन का भी सिर झुकाकर उत्तर देते है।]

शिलादित्य—आइए, बैठिए, महामात्य और महाबलाधिकृत।

[दोनो दो आसंदियों पर बैठ जाते है।]

अवन्ति—राज-सभा की आज की बैठक का निर्णय सुनाने के लिए हम लोग सेवा मे उपस्थित हुए है।

माधवगुप्त—(खड़े-खडे ही) यदि कोई गुप्त बात हो तो मै आज्ञा लेता हूँ, राजपुत्र।

शिलादित्य—नही, नही, तुमसे कोई गुप्त बात रह ही नही सकती, माधव, तुम भी बैठो।

[माधवगुप्त भी एक आसंदी पर बैठ जाता है।]

शिलादित्य—कहिए, महामात्य, क्या निर्णय हुआ है ?

अवन्ति—(कुछ ठहरकर खखारते हुए) श्रीमन्, हम दोनो तथा राज-सभा के अन्य सदस्य आपके पिता परमभट्टारक महाराजाधिराज के समय से अपने-अपने वर्तमान पदो पर नियुक्त है। अब तक इस वंश और राज्य की हम लोगो ने अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार सेवा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु हम लोग देखते है कि अब हम लोगो से यह सेवा न हो सकेगी।

[अवन्ति चुप होकर सिर झुका लेता है।]

शिलादित्य—यह क्यो ?

सिहनाद—यह इसलिए, राजपुत्र, कि देश की वर्तमान परिस्थिति मे बिना राजा के कार्य चलना असम्भव है। राज्य पर चारो ओर से आपत्ति के मेघ मँडरा रहे है और श्रीमान सिहासनासीन होना अस्वीकार करते है। इसीलिए राज-सभा के समस्त सदस्यो ने निश्चय किया है कि वे भी अपने-अपने पदो को त्याग देवे।

[सिंहनाद भी चुप हो जाता है। शिलादित्य विचारमग्न हो जाता है। कुछ समय के लिए निस्तब्धता छा जाती है।]

शिलादित्य—(धीरे-धीरे कुछ अटक-अटककर) महामात्य और महा-बलाधिकृत, पूज्यपाद राजवर्द्धन के निधन के पश्चात् और चिरजीवी राज्यश्री के बन्धन से मुक्ति की सूचना न पाने के कारण उसी समय से यह प्रश्न मेरे सम्मुख है। (कुछ ठहरकर) अभी आप लोगो के आने के पूर्व (माधवगुप्त की ओर संकेत कर) इनसे मेरा इसी विषय पर वाद-विवाद चल रहा था। यद्यपि आपके आने के पूर्व मै इस विषय मे कोई निश्चयात्मक निर्णय न कर सका था, परन्तु (लम्बी साँस लेकर) अब मैंने निर्णय कर लिया है।

अवन्ति—(उत्सुकता से) वह क्या है, राजपुत्र ?

सिंहनाद—मै आशा करता हूँ, श्रीमान ने शुभ निर्णय ही किया होगा।

शिलादित्य—(रूखी मुस्कराहट के साथ) शुभ निर्णय है या अशुभ यह तो मै ठीक नही कह सकता, परन्तु वह आप लोगो की रुचि के अनुकूल है, इतना मै जानता हूँ। मै अब राज्य ग्रहण करने के लिए तैयार हूँ।

माधवगुप्त—(मुस्कराते हुए) और प्रणाली के अनुसार राजपुत्र हर्षवर्द्धन नाम धारण कर सिंहासनासीन होवेगे।

अवन्ति—(प्रसन्न होकर) धन्य हमारा भाग्य!

सिंहनाद—(उत्साह से) धन्य राज्य का सौभाग्य!

[कुछ देर को निस्तब्धता छा जाती है। शिलादित्य विचारमग्न हो जाता है।]

शिलादित्य—(कुछ सोचते हुए) महामात्य और महाबलाधिकृत,

राज्य ग्रहण करना तो मैंने स्वीकृत कर लिया, पर, फिर भी मै दो बाते न करूँगा।

अवन्ति—वे क्या, राजपुत्र?

सिहनाद—उन्हे और बता दीजिए।

शिलादित्य—पहली बात विवाह और दूसरी व्यर्थ का युद्ध।

अवन्ति—(कुछ विचार करते हुए) दूसरी बात तो ठीक है। व्यर्थ का रक्तपात हो यह कोई नही चाहता, परन्तु विवाह आप क्यो न करेगे?

सिहनाद—(आश्चर्य से) हाँ, विवाह करने मे क्या हानि है?

शिलादित्य—मै अपने को राज्य का सरक्षकमात्र मानना चाहता हूँ और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। मै अपने और अपने वश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नही मानना चाहता।

सिहनाद—विवाह करने के पश्चात् भी आप यही मान सकते है।

शिलादित्य—नही, राज्य-सिहासन पर बैठने के पश्चात् एक तो यो ही इस भावना की रक्षा कठिनाई से हो सकती है, फिर पुत्र-पौत्रादि हो तब तो इस भावना का चित्त मे ठहरना और भी कठिन हो जाता है। पुत्र-पौत्रादि यदि अयोग्य हो तो भी राज-सत्ता उन्हीके अधिकार मे रहे, इस लोभ की उत्पत्ति होती है।

अवन्ति—परन्तु, श्रीमान, यदि आपने विवाह न किया तो आपके पश्चात् राज्य का अधिकारी कौन होगा?

शिलादित्य—इसका निर्णय उस समय हो जायगा।

सिहनाद—किन्तु, श्रीमान, योग्य सन्तान के होने पर तो एक प्रकार

से आप अपने पश्चात् के लिए भी सुशासन की व्यवस्था कर जायँगे।

शिलादित्य—और यदि अयोग्य सन्तान हुई तो, महावलाधिकृत, अयोग्य सन्तान होने पर भी राजसत्ता उसीके अधिकार मे रहे, इस आसक्ति की उत्पत्ति हो जायगी। देखिए, महामात्य और महावलाधिकृत, राजसत्ता सदैव एक ही वश के अधिकार मे, उस वश मे सन्तान के रहते हुए भी, नही रही है। किसी वश मे, अयोग्य के उत्पन्न होते ही, वह उस वश के अधिकार के बाहर चली गयी है। फिर मै ही अपने हृदय मे आसक्ति की उत्पत्ति कर, जो थोडी-बहुत प्रजा की सेवा करना चाहता हूँ, उस भावना के नाश का आयोजन क्यो कर लूँ? मै तो प्राचीन भारत की प्रजातन्त्र-राज्य-प्रणाली का पक्षपाती हूँ, परन्तु यदि यह वर्तमान परिस्थिति मे सम्भव नही है तो मै सिंहासनासीन होकर राज्य-सरक्षक के रूप मे प्रजा-सेवा के लिए तैयार हूँ, पर, विवाह कर, मै अपने हृदय मे राज्य के लिए आसक्ति की उत्पत्ति नही करना चाहता। (खडे होते हुए) मै सिंहासन ग्रहण करूँगा, परन्तु विवाह नही, कदापि नही।

[परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—एक जगली मार्ग

समय—सन्ध्या

[राज्यश्री का प्रवेश। उसकी अवस्था लगभग १५ वर्ष की है, किन्तु अवस्था से उसका वय अधिक जान पडता है। वह गौर वर्ण की सुन्दर युवती है, परन्तु इस समय उसका शरीर क्षीण है और मुख अत्यधिक

उतरा हुआ है। उसपर शोक-सहित उन्माद का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है। शरीर पर श्वेत सूती साड़ी है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्ष-स्थल पर बँधा हुआ है; साडी अस्त-व्यस्त-सी है। सिर के बाल अव्यवस्थित-रूप से फैले हुए है और सारा शरीर भूषणो से रहित है। वह गा रही है।]

रेशम-डोरी मे मुक्ता-हार।

(बार-बार उपर्युक्त चरण गाते हुए और टहलते हुए बिना हार के ही अँगूठे को अँगुलियो पर फेरती तथा हाथो को देखती है, मानो हाथों में हार हो। फिर एकाएक खड़ी होकर बैठ जाती और गाती है।)

चुन-चुन मोती, अहो! पिरोये, मैंने पानीदार॥

(बिना मोतियो के ही मोती चुनने और पिरोने का अभिनय करती हुआ बार-बार उपर्युक्त चरण गाती है। फिर एकाएक सारा अभिनय और गाना बन्दकर, खडी होकर सामने की ओर देखने और सिर हिलाने तथा पुनः गाने लगती है।)

लेकर गयी उसे पहनाने जब प्रियतम के पास—

(टहलते तथा सिर हिलाते हुए)

मिले न वे, हा! मेरे मन का, मिटा सभी उल्लास॥

(एकाएक खड़े होकर दोनो हाथो की मुट्ठियाँ बाँध सामने देखते हुए)

आकर उसी समय सजनी ने एक सुनायी बात।

(मुट्ठियाँ खोलकर हाथों को शीघ्रतापूर्वक नीचे से ऊपर की ओर हिलाते तथा पुनः शीघ्रतापूर्वक टहलते हुए)

लगीं हृदय मे अनल जिसे सुन, दग्ध हुआ सब गात ॥

(फिर एकाएक रुककर आँखें फाड़-फाड़ हाथो को देखते हुए)

इन हाथो मे हार लिए थी, तप्त हुए इस भाँति ।
रेशम-डोरी दग्ध हुई झट, चटकी मुक्ता-पाँति ॥

(एकाएक बैठकर गाना बन्द करते हुए सिर घुमा, चारो ओर देखती और लम्बी साँस लेकर पुनः गाने लगती है।)

हृदयानल से मोती चटके, कौन सकेगा मान ।
पर, मेरे मुक्ता ही ऐसे, नहीं सकेगा जान ॥

(डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणो का प्रकाश फैल जाता है। गाना बन्द कर आँखें फाड़-फाड़कर सामने की ओर देखते हुए एकाएक खडे होकर)

है! है! अनल! अनल! वही अनल किस प्रकार फैल गयी है। इतनी भीषण अनल! (सामने की ओर देखकर) सामने अनल! (पीछे देखकर) पीछे भी अनल! (दाहनी ओर देखकर) इस ओर भी अनल! (बॉयी ओर देखकर) इस ओर भी अनल! (नीचे देखकर) यहाँ भी अनल! (ऊपर देखकर) वहाँ भी अनल! चारो ओर अनल! नीचे अनल! ऊपर अनल! कहाँ जाऊँ? कहाँ जाऊँ? आह! जली जाती हूँ, झुलसी जाती हूँ! (एकाएक बैठते हुए) भस्म की ढेरी होने पर ही शान्ति मिलेगी। (फिर रुककर सामने की ओर देखकर एकाएक खड़े होकर तथा चारो ओर तथा ऊपर-नीचे देखकर) दसो दिशाएँ जल रही है! आह! कैसी भीषण ज्वालाएँ है, और धूम तक नही! ज्वालाएँ ही ज्वालाएँ! (कुछ ठहरकर पीछे के वन-वृक्षो को देख उँगली से दिखाते हुए जल्दी-जल्दी) यह देख, यह देख, सखि अलका, वन

किस प्रकार जल रहा है ! अरे-रे ! हरे-हरे वृक्ष शुष्क काष्ठ के समान जल रहे है ! कैसे लाल-लाल अगारे है, कैसे लाल-लाल ! (कुछ ठहरकर) इन वृक्षो से भी धूम नही निकलता ! अगारे ही होते है, पर, भस्म नही ! (कुछ ठहरकर) जली, जली, दग्ध हुई, मरी ! (**एकाएक पृथ्वी पर गिरकर मूच्छित हो जाती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है। फिर पडे-पडे आँखें मूँदे हुए ही**) आ गये, आ गये, नाथ, देखो तो, तुम्हारे आते ही सारी अनल किस प्रकार बुझ गयी, मानो उसपर मूसलाधार वृष्टि हुई है ! (कुछ रुककर) आह ! मेरे दग्ध शरीर पर हाथ फेर रहे हो ! कितना शीतल हाथ है, प्रियतम ! हिम इसके सम्मुख कौन-सी वस्तु है ! (कुछ ठहरकर) वही तो हाथ है न, जिसका सर्वप्रथम पाणिग्रहण के समय स्पर्श हुआ था ! वही तो हाथ है न, जिसने सर्वप्रथम सुहागरात्रि के दिन आलिंगन किया था ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने गजरे गूँथ-गूँथकर गले मे पहनाए थे ! वही तो हाथ है न, जिसने न जाने कितने ताम्बूल मुख मे खिलाए थे ! वही तो हाथ है न, जो ग्रीष्म मे जल-विहार के समय जल को उछाल-उछालकर नेत्र मीलित कर देता था ! वही तो हाथ है न, जो वर्षा मे झूले पर हाथ पकड कर चढाता था ! वही तो हाथ है न, जो वसन्त के होलिकोत्सव मे मुख पर गुलाल और अबीर मल देता था ! (कुछ ठहरकर) पकडे रहूँगी, पकडे रहूँगी, प्राणेश, आठो पहर और चौसठो घडी पकडे रहूँगी ! अब कभी क्षणमात्र को भी हाथ न छोडूँगी ! देखूँ, फिर तुम कैसे और कहाँ भागते हो ? (**एकाएक चौंककर उठ बैठती और अचम्भित-सी इधर-उधर देखने लगती है।**) है, चले गये ! कहाँ चले गये, हृदयनिधि, कहाँ चले गये ? (**फूट-फूटकर रोने लगती है।**) हाय ! हाय ! इतनी निष्ठुरता ! (**कुछ ठहर कर हिचकियाँ लेते हुए**) इतनी वज्र-हृदयता ! (**चुप होकर फिर एकाएक खडी हो जाती है।**) देख तो, सखि अलका, तू उनसे जाकर कह।

(फिर गाने लगती है और इस प्रकार गाती है मानो वह गायन किसी को सुनाकर गा रही है।)

भीनी-भीनी मधुर गन्धयुत, चटकीं-चटकीं कुछ कलियाँ।
झटक-झटक तोड़ीं निज तरु से, सुन्दर गूँथीं गलबहियाँ॥

(हाथ को बराबर, हृदय के निकट ले-जाकर तोड़ने का अभिनय करते हुए गाना बन्द कर) उन्हे शीघ्र ही ला, अलका। (फिर गाती है बिना माला के ही हाथों को आगे कर, दिखाती हुई मानो हाथ में माला लिए हुए हो।)

ला तू प्राणाधिक को द्रुत ला, पहनाऊँ ये गलबहियाँ।
यदि विलम्ब कर देंगे वे तो सूख जायँगी ये कलियाँ॥

(फिर गाना बन्द कर उसी प्रकार हाथों को आगे किये हुए) नही, नही, ठहर जा, अलका, मै ही वहाँ चलती हूँ। कदाचित् उनके आने मे विलम्ब हो जाय।

[शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—गंगा-तट पर हर्ष का शिविर

समय—तीसरा पहर

[गंगा बह रही है, उसका श्वेत नीर सूर्य की किरणो में चमक रहा है। किनारे पर सघन वृक्ष है और वृक्षो के नीचे दूर-दूर तक सैनिकों के ठहरने

की तृण-निर्मित झोंपड़ियाँ दिखायी देती हैं। गगा के किनारे वृक्षो की छाया में कुछ काष्ठ की आसदियाँ रखी हुई हैं। दो पर हर्षवर्द्धन और माधवगुप्त बैठे हुए हैं। दोनों ही शरीर पर लोह-कवच धारण किये हुए हैं, जिनमें सुवर्ण भी लगा है। दोनो आयुधो से सुसज्जित हैं। बाँयें कन्धे पर धनुष, पीठ पर तरकश और कमर में खड्ग है। हाथो में गोधांगुलिस्त्राण (गोह के चमड़े के वने हुए एक प्रकार के दस्ताने) और पैरो में चर्म के जूते हैं। सिर खुला हुआ है।]

हर्ष—राज्य ग्रहण करते विलम्ब न हुआ, माधव, और सारा समय उद्विग्नता मे व्यतीत होने लगा।

माधवगुप्त—इसका कारण है, परमभट्टारक।

हर्ष—क्या ?

माधवगुप्त—इस समय की असाधारणता। जव तक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन के वधिक को उचित दण्ड न मिल जायगा और राजपुत्री राज्यश्री की वन्धन-मुक्ति न हो जायगी तव तक उद्विग्नता का अन्त न होगा।

हर्ष—(कुछ ठहरकर) क्यो, माधव, कामरूप के कुमारराज भास्कर वर्मन का इस समय आकर मित्रता करने के सम्वन्ध मे तुम्हारा क्या मत है ?

माधवगुप्त—(कुछ सोचते हुए) कुमारराज वडे सज्जन व्यक्ति ज्ञात होते हैं, परमभट्टारक। यदि इस देश के अन्य नरपतिगण भी आपसे इसी प्रकार मित्रता कर ले तो जिस रक्तपात से आप घृणा करते हैं, उससे दूर रहकर भी आप चक्रवर्ती सम्राट् हो जायँगे।

हर्ष—और उस साम्राज्य का कोई भी माण्डलीक राजा अपने को

राज्य का स्वामी न मान कर सरक्षकमात्र मानेगा, तथा प्रजा की सेवा मे ही आठो पहर और चौसठो घडी दत्तचित्त रहेगा।

माधवगुप्त—इस सम्बन्ध मे मैं अभी कुछ नही कह सकता।

हर्ष—यह क्यो ?

माधवगुप्त—इसलिए, परमभट्टारक, कि सब आपके समान निस्वार्थी नही है।

हर्ष—और कुमारराज ने मेरे प्रति जो प्रेम दर्शाया है उस सम्बन्ध मे तुम्हारी क्या सम्मति है ?

माधवगुप्त—(विचार करते हुए) वे आपसे किसी प्रकार का छल न करेगे इतना तो अवश्य जान पडता है, परन्तु इस मित्रता मे कितनी निस्वार्थता है यह मैं अभी नही कह सकता।

हर्ष—यह किस प्रकार ?

माधवगुप्त—आपने कदाचित् नही सुना कि कामरूप देश का सिंहासन किसे मिले यह विवाद उस देश मे छिडा हुआ है।

हर्ष—अच्छा, मुझे यह ज्ञात नही था।

माधवगुप्त—मैने भी, आज ही कुमारराज के आगमन के पश्चात् इसका पता पाया है।

हर्ष—(मुस्कराकर) तो कुमारराज को आते देर न हुई और तुमने उनके आगमन के उद्देश का पता लगा लिया ?

माधवगुप्त—आपके साथ आँखे मूँदकर तो नही रहा जा सकता, महाराज।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) जय हो, महाराजाधिराज, बलाधिकृत भण्डि आये हैं और परमभट्टारक के दर्शन किया चाहते हैं।

हर्ष—(प्रसन्न होकर) अच्छा, बलाधिकृत आ गये, उन्हें शीघ्र से शीघ्र उपस्थित करो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर पुनः प्रस्थान।]

हर्ष—यह बडा ही शुभ सवाद है, माधव।

माधवगुप्त—इसमे सन्देह नही, महाराज।

हर्ष—कान्यकुब्ज मे क्या हुआ अब इसका विश्वसनीय पता मिल जायगा, राज्यश्री के भी समाचार मिलेगे।

[हर्ष उठकर इधर-उधर टहलने लगते है। माधवगुप्त भी साथ में टहलता है। प्रतिहारी के संग भण्डि का प्रवेश। प्रतिहारी भण्डि को छोड़ अभिवादन कर चला जाता है। भण्डि युवावस्था का ऊँचा-पूरा गेहुँएँ रंग का सुन्दर व्यक्ति है। छोटी-छोटी मूँछें हैं। हर्ष और माधवगुप्त के सदृश सैनिक वेश में है, परन्तु उसका सिर खुला हुआ नही है। सिर पर वह लोहे का सुवर्ण लगा हुआ शिरस्त्राण धारण किये हुए है, जिसपर सुनहरी कलगी लगी है।]

भण्डि—(आगे बढ़कर खड्ग निकाल मस्तक पर लगाते हुए) स्थाण्वीश्वर का यह बलाधिकृत, परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन का अभिवादन करता है।

हर्ष—(अभिवादन का, सिर झुकाकर उत्तर दे, आगे बढ़कर भण्डि को हृदय से लगाते हुए) बन्धु, भण्डि, न जाने तुम्हे कितने काल के पश्चात् देखा। कहो, कुशलपूर्वक तो हो? आह! इतने समय मे तो न जाने क्या-क्या हो गया? कहो, बन्धु, राज्यश्री का क्या सवाद है?

भण्डि—विराजिए, परमभट्टारक, सब कुछ बताता हूँ।

[भण्डि और माधवगुप्त भी एक-दूसरे को हृदय से लगाते हैं। तीनो आसंदियो पर बैठ जाते है।]

भण्डि—महाराज, सर्वप्रथम तो सिहासनासीन होने के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए।

हर्ष—मैं तो सिहासन ग्रहण करना ही न चाहता था, भण्डि, परन्तु परिस्थिति ने विवश कर दिया।

भण्डि—वर्तमान परिस्थिति मे इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता था, महाराज। (कुछ रुककर) अच्छा, अब राजपुत्री का सवाद सुनिए।

हर्ष—हाँ, उसीके लिए मैं अत्यन्त आतुर हूँ।

भण्डि—आतुरता सर्वथा स्वाभाविक है, परमभट्टारक, वे अब बन्धन में नही हैं।

हर्ष—(कुछ सन्तोष से) कान्यकुब्ज मे ही है ?

भण्डि—नही।

हर्ष—(आश्चर्य से) फिर ?

भण्डि—उनका अब तक ठीक पता नही लगा है, महाराज। उन्हें कारागृह के दण्डपाशिक ने मुक्त कर दिया था और इतना ही सुना जाता है कि वे विन्ध्या की ओर चली गयी हैं।

हर्ष—(कुछ सोचते हुए) तब तो सवाद और भी भयानक है, बन्धु, कदाचित् शोकवश उसने आत्म-हत्या न कर ली हो।

भण्डि—अशुभ बात न विचारना ही अच्छा है, महाराज। उनकी विन्ध्या मे खोज करनी होगी।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—(कुछ सोचते हुए) और कान्यकुब्ज की क्या अवस्था है ?

भण्डि—कान्यकुब्ज से अब शशाक हट गया है।

हर्ष—तो वह कर्णसुवर्ण चला गया ?

भण्डि—हाँ, उसी ओर गया है।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—(कुछ विचार करते हुए) अच्छा, भण्डि, देखो, मै थोडी-सी सेना लेकर राजपुत्री की खोज के लिए तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करना चाहता हूँ, और तुम मेरी शेष सेना लेकर गौड पर आक्रमण करो। शशाक को महाराजाधिराज की हत्या का दण्ड तो देना ही होगा।

भण्डि—निस्सन्देह, परमभट्टारक, अन्यथा ससार मे आततायी ही आततायी न हो जायँगे ?

हर्ष—(विचारते हुए) तुम इस योजना को कैसी समझते हो ?

भण्डि—(कुछ सोचकर) ठीक तो जान पडती है, महाराज।

हर्ष—(माधवगुप्त से) और तुम, माधव ?

माधवगुप्त—(विचारपूर्वक) मुझे भी ठीक जान पडती है, परम-भट्टारक।

हर्ष—और देखो, भण्डि, राजपुत्री का पता लगते ही मै कर्णसुवर्ण की ओर प्रस्थान करूँगा।

भण्डि—उसके पूर्व ही आप शशांक का या तो बन्धन-वृत्त सुन लेंगे अथवा उसे अपने सम्मुख बन्दी पावेंगे, महाराज।

हर्ष—(प्रसन्न होकर) बलाधिकृत भण्डि के मुख से ही इतने शीघ्र इस प्रकार के आशावादी वचन निकल सकते हैं।

भण्डि—यह आपकी कृपा है, महाराज, कि आपके हृदय में मेरे लिए ऐसा स्थान है।

हर्ष—अच्छा, बन्धु, इसमें अब विलम्ब न होना चाहिए। मैं तत्काल विन्ध्या की ओर प्रस्थान करता हूँ। राजपुत्री के सम्बन्ध में मेरे हृदय में भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही हैं।

[हर्ष खड़े होते हैं। भण्डि और माधवगुप्त भी खड़े होते हैं।]

हर्ष—हाँ, जाने से पूर्व कुमारराज से बिदा लेनी होगी।

[परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—एक वन-मार्ग

समय—सन्ध्या

[हर्ष, माधवगुप्त और हर्ष के कुछ सैनिकों का विन्ध्याटवी के राजा निर्गुहट तथा उसके सैनिको के संग शीघ्रता से प्रवेश। हर्ष और माधवगुप्त की वही वेश-भूषा है जो चौथे दृश्य में थी, केवल वे मस्तको पर शिरस्त्राण और लगाए हुए हैं। उनके सैनिकों की वेश-भूषा उन्हीसे मिलती हुई है,

मुख्य अन्तर इतना ही है कि उनके शिरस्त्राणो पर कलगी नहीं है। निर्गुहट और उसके सैनिक कवच और शिरस्त्राण नही पहने है, परन्तु आयुध लिए है। उनके वस्त्र और आयुध साधारण कोटि के है। निर्गुहट के मस्तक पर मोरपंख की कलगी लगी हुई है। निर्गुहट और उसके सैनिक अत्यधिक श्याम वर्ण के है।]

हर्ष—(निर्गुहट से) विन्ध्याधिराज, बिना आप और आपके राज्य की सहायता के इस विन्ध्य-पर्वत-प्रदेश मे राजपुत्री की खोज करना मेरे लिए असम्भव-सा था। मै आपकी कृपा का सदा अनुगृहीत रहूँगा।

निर्गुहट—मेरा राज्य और मेरे राज्य की सारी शक्ति हर कार्य के लिए आपके अधीन है, महाराज।

हर्ष—(चारो ओर देखकर) राजपुत्री इसी मार्ग से गयी है न ?

निर्गुहट—यही पता लगा था, महाराज, उस समय यह किसीको ज्ञात ही न था कि वे कौन है, अन्यथा आपको इतना कष्ट ही न करना पडता।

हर्ष—वे विक्षिप्त थी, निर्गुहटराज ?

निर्गुहट—विक्षिप्त तो नही, पर उन्हे एक प्रकार का उन्माद अवश्य था, यही सवाद मिला था, महाराज।

हर्ष—ओह ! मेरे हृदय मे शकाओ पर शकाएँ उठ रही है। (सामने की ओर देखकर) इसी मार्ग से वढा जाय न ?

निर्गुहट—हाँ, इसी मार्ग से, महाराज।

[सबका शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—रेवा-तट

समय—प्रदोष

[सामने नर्मदा बह रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। यत्र-तत्र पर्वत के छोटे-छोटे शिखर दिखायी पडते हैं। अँधेरा होता जाता है। आकाश में षष्ठी का धनुषाकार चन्द्र तथा कोई-कोई तारे दिखायी देने लगे हैं। चन्द्र की किरणें नर्मदा में पड़ रही हैं, जिनसे उसका नीर चमक रहा है। कटी हुई लकड़ी के कुछ ठूँठ नर्मदा के तट पर पड़े हुए हैं। दो लकड़हारिनें कटी हुई लकड़ी का एक-एक गट्ठा बाँध रही हैं। दोनो केवल साड़ी पहने हुए हैं। दोनों गा रही हैं।]

धीरे बहु नदिया तैं धीरे बहु,
मोरा पिया उतरइ दे पार। धीरे बहु०।
काहे की तोरी नइया रे,
काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नइया खेवइया,
के धन उतरइँ पार। धीरे बहु०।
धरमै कइ मोरी नइया रे,
सत कइ लगी करुवारि।
सइयाँ मोरा नइया खेवइया रे,
हम धन उतरब पार। धीरे बहु०।

[गाते-गाते दोनों का कुछ लकड़ियो को छोड़, तथा दो गट्ठे लकडी सिर पर रखकर, दाहनी ओर प्रस्थान। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती

है। कुछ देर पश्चात् बाँयी ओर से गाते हुए राज्यश्री का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा और मुद्रा अभी भी पहले के समान ही है।]

सोने की सुन्दर इक माला, निज निकेत से मै लायी।

(हाथो में कुछ न रहते हुए भी, हाथो को देखते हुए)

जड़ी हुईं इसकी लख मणियाँ, मन ही मन मृदु मुसकायी॥

(कुछ मुस्कराती है और फिर चौंककर हाथ को ध्यानपूर्वक देखते हुए)

प्रियतम निकट चली, पर यह तो गली, गली ही मे माला—

(हाथ को नाक और मुख के निकट ले-जाकर जोर-जोर से साँस ले, सांस की वायु का स्पर्श करते हुए)

मेरी साँसों से—क्या मै हूँ चर्म-धोकनी, ये ज्वाला?

(गायन बन्द कर पृथ्वी की ओर आश्चर्य से देखते हुए)

जड़ी हुईं मणियाँ सब बिखरी, मिलीं धूलि मे गिर सारीं।

(फिर गायन बन्द कर पृथ्वी पर बैठ, बीनने का अभिनय करते हुए)

अहो! बीनती, पर नहिं बिनती, दृष्टि, शक्ति दोनो हारी॥

(फूट-फूटकर रोने लगती है। कुछ देर मे एकाएक चुपचाप खड़े होकर चन्द्रमा की ओर देखते हुए)

श्वेत धनुप है, श्वेत! (जोर से) अरी अलका! ओ अलका! देख तो, इससे श्वेत ही शर छूट रहे हैं! (शीघ्रतापूर्वक इधर-उधर घूमते हुए पर्वत-शिखरो के निकट जाकर) देख, यह देख, गिरि

शृंगो मे लग रहे है! (वृक्षो के निकट जाकर) देख, यह देख, वृक्षो में लग रहे है! (नर्मदा के निकट जाकर) देख, यह देख, रेवा मे लग रहे है! (दोनो हाथों से अपना हृदय सँभालते, दीर्घ निश्वास लेते और बैठते हुए) और मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहे है! (फिर कुछ देर चुप होने के पश्चात्) अलका, उनके पास तो तीन धनुष थे न? दो तो सदा नेत्रो के ऊपर ही रहते थे, वे तो श्वेत नही, श्याम थे, अलका। (कुछ ठहरकर) इतने पर भी उनका कार्य काला न होता था। उनके शर मुझे भी लगे थे, परन्तु उनसे तो पीडा न पहुँचती थी; हृदय मे एक प्रकार की विचित्र गुदगुदी उठने लगती थी। (कुछ ठहरकर) पर, (फिर चन्द्रमा को देखते हुए) इसका वर्ण है श्वेत और इसके कार्य है काले! (कुछ ठहरकर सामने देखते हुए) हाँ, उनका तीसरा धनुष, जो वे कभी-कभी अपने हाथो मे उठाते थे, अवश्य भीषण था, परन्तु उसके शर बिना किसी भेद-भाव के (फिर चन्द्रमा की ओर देखते हुए) इस निगोडे धनुष के समान सभी पर थोडे ही चलते थे। (कुछ ठहरकर) वे तो शत्रुओ पर ही चलते थे, अलका। (फिर चुप होकर ध्यानपूर्वक नर्मदा-तट पर पडे हुए लकड़ी के ठूँठो को देखती है और दौड़कर उनके निकट जाकर गाना आरम्भ करती है।)

था मेरा अद्भुत उच्छ्वास।
बढ़ता जाता था वह, तन का होता जाता था नित ह्रास॥
सारे अग-अंग घुल-घुल कर, जाते थे उसके ही संग,
पर, आया है काल आज वह जब मै होकर निपट अनंग,
बिना किसीके देखे, जाकर हृदयेश्वर की सुखमय गोद—
कर लूँ ग्रहण, त्याग कर यह तन, पाकर चिता-अनल संयोग॥

(गाते-गाते लकड़ी इकट्ठी कर उसकी चिता बनाती और उसमें बैठती है। गाना बन्द कर)

जल, जल, अपने आप जल उठ। (न जलते देख) नही जलेगी,

नही जलेगी ? अरे, सतियो की तो आज्ञामात्र से तू जल उठती थी। मै तो सती हूँ, देवि, पूर्ण सती। मनसा, वाचा, कर्मणा हर प्रकार से शुद्ध हूँ। फिर क्यो नही जलती ? (कुछ ठहरकर ऊपर देख) तारिकाओ, तुम्ही मे से एक टूट कर इसे जला दो। (कुछ ठहरकर, एकटक तारो को देखते और सिर हिलाकर गिडगिडाते हुए) तुम्हारी वडी कृपा होगी, परम दया होगी, अवर्णनीय अनुकम्पा होगी। अरे, मेरे वर्तमान ताप से अग्नि-ज्वालाओ का ताप कही कम होगा, कही कम ? भस्म ही मेरा ताप शीतल करेगी! (कुछ देर तक फिर चुप रहती है। उसी समय नर्मदा में कुछ जलते हुए दीपक वहकर आते है, जिन्हे देख, प्रसन्न होकर, चिता से उठ, दीपक की ओर जाते हुए) तू भी न जली, तारिकाएँ भी न टूटी, पर, नर्मदा माता ने मेरी सुन ली। (पानी को अँगुलियो से पीछे की ओर ठेलती है। धीरे-धीरे एक दीपक किनारे पर लगता है। उसे उठा चिता के निकट आकर उससे चिता जलाती और पुनः गाती है।)

जल-जल अनल! दुखी-जन-त्राण।
दुखियों के हित तप्त-रूप तव, सागर-सम शीतलता-खान॥
अरुण-अरुण आभामय तेरी ज्वालाओं का यह उत्थान,
लहरों-सा लगता मम मन को, नाच रहा जो नाव-समान॥

(धक-धक करके जलनेवाली चिता को हाथ जोड़कर)

पहुँचा दो, पहुँचा दो, देवि, वही पहुँचा दो, जहाँ वे है। उनके विना यह लोक कुम्भीपाक और रौरव से भी वुरा है। (चिता की ओर आगे वढती है।)

[नेपथ्य में—'राज्यश्री! राज्यश्री!' जोर का शब्द होता है।]

राज्यश्री—(चौंककर, पीछे की ओर देख) कौन, भ्राता शिलादित्य ?

[नेपथ्य में 'हाँ, शिलादित्य ही हैं' पुन' यह शब्द होता है। शीघ्रता से

हर्ष का प्रवेश। राज्यश्री शीघ्रता से धधकती हुई चिता की ओर बढ़ती है, पर हर्ष दौडकर उसे पकड़ लेता है।]

यवनिका-पतन

देव की अवस्था लगभग ६५ वर्ष की है। वह भी गौर वर्ण का ऊँचा-पूरा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति है। सिर, मूँछो और दाढ़ी के सब केश श्वेत हो गये है। दाढी वक्षस्थल तक फैली हुई है। वह भी उत्तरीय और अधोवस्त्र तथा शशांक के सदृश ही भूषण धारण किये है। आयुध भी लगाए है। शशाक और यशोधवल दोनो के सिर झुके हुए है। दोनो के मुखो पर चिन्ता का साम्राज्य है। दो खाली आसदियाँ शयन के सामने रखी है। दालान में निस्तब्धता छायी हुई है।]

यशोधवल—(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) तो वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार करना ही परम प्रतापी गुप्त-वश के वशज, परमभट्टारक महाराजाधिराज शशाक नरेन्द्रगुप्त का अन्तिम निर्णय है?

शशांक—(सिर उठाते हुए) जिनकी गोद मे मै छोटे से बडा हुआ हूँ, जिनकी गोद मे मैने अगणित बाल-क्रीडाएँ की है, उनसे मै वाक्युद्ध नही करना चाहता। महाबलाधिकृत, आप मेरे सेनानायक ही न होकर पितृव्य भी है। इस समय वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त मै कोई अन्य उपाय ही नही देखता।

यशोधवल—(कुछ ठहरकर, सोचते हुए) 'इस समय' का क्या अर्थ है परमभट्टारक? एक बार अधीनता स्वीकार कर वर्द्धनो को अपना स्वामी मान कर फिर उनसे विश्वासघात करने की क्या आपकी इच्छा है? राज्यवर्द्धन की हत्या के समय आप उनके माण्डलीक न थे, परन्तु अब तो . ।

शशांक—(बीच ही में) जिस प्रकार आप मुझसे 'इस समय' का अर्थ पूछते है उसी प्रकार वाक्युद्ध न करने की इच्छा रहते हुए भी मै क्या आपसे 'विश्वासघात' शब्द का अर्थ पूँछ सकता हूँ?.

यशोधवल—विश्वासघात, विश्वासघात शब्द का अर्थ? स्पष्ट है,

महाराजाधिराज। आपने अभी-अभी कहा कि इस समय वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही दिखायी पडता। इन शब्दो के उपयोग से ही स्पष्ट हो जाता है कि आप वर्द्धनो को केवल इस समय अपना स्वामी बना रहे है और समय परिवर्तित होते ही ... होते ही . होते ही .... ।

शशाक—हाँ, समय परिवर्तित होते ही मै इन वर्द्धनो के विरुद्ध विद्रोह करूँगा।

यशोधवल—यह क्या स्वामी के प्रति विश्वासघात न होगा?

शशांक—जब मै आरम्भ से ही, इसी उद्देश से उनकी अधीनता स्वीकार कर रहा हूँ तब विश्वासघात कैसा?

यशोधवल—परन्तु, आप विद्रोह करेगे यह आशका रखकर वे आपको अपना माण्डलीक नही बना रहे है। माण्डलीक बनाने और बनने के पश्चात् चक्रवर्ती और माण्डलीक दोनो मे एक प्रकार की मित्रता हो जाती है, दोनो के बीच विश्वास की एक ग्रन्थि बँध जाती है, दोनो के सुख-दु ख दोनो के आनन्द-कष्ट, एक हो जाते है। एक-दूसरे को सुखी करना, कष्टो के अवसर पर एक-दूसरे को सहायता पहुँचाना दोनो का कर्तव्य हो जाता है। अधीनता स्वीकार करने के पूर्व मस्तक को उन्नत रखने के प्रयत्न और इस प्रयत्न मे यदि प्राण-विसर्जन करना पडे तो इसके लिए भी पीछे न हटने के लिए मै सहमत हूँ। (एकाएक आसदी पर से खड़े हो, कोष में से खड्ग निकालते हुए) इस खड्ग की धार अभी भी वैसी ही पैनी है, परम-भट्टारक। (हाथो को आगे बढ़ाकर) इन हाथो मे अभी भी वैसा ही बल है, महाराजाधिराज। निकलिए, कर्ण-सुवर्ण के इस राज-प्रासाद से बाहर निकल, गुप्त-वश के मान और मर्यादा की रक्षा कीजिए। (एकाएक जोश ठण्डा हो जाता है।) परन्तु परन्तु यदि एक बार आप अधीनता

स्वीकार कर लेते है, एक बार एक बार वर्द्धनो को अपना स्वामी वना लेते है तो ..तो फिर 'इस समय' शब्दो का आश्रय लेकर विद्रोह की कल्पना का हृदय से मूलोच्छेदन कर दीजिए। राज्यवर्द्धन की हत्या के समान अन्य किसी षड्यन्त्र के विचार को भी हृदय से निकाल फेंकिए। (**लम्बी साँस लेकर आसंदी पर बैठ जाता है।**)

शशांक—(**सिर नीचा कर, कुछ सोचते हुए फिर, सिर उठाकर**) महाबलाधिकृत, आपसे वाक्‌युद्ध की इच्छा न रहते हुए भी, मुझे आज वह करना पडेगा, इसका मुझे बडा खेद है। देखिए, आर्य, जीवन के आपके और मेरे दृष्टि-कोण मे बडा भारी अन्तर है। जिसे आप मेरा और मेरे वश का गौरव कहते है उस गौरव की रक्षा यदि न होती हो तो आप प्राण देकर इस सकट से छुटकारा पाने के लिए तैयार है, परन्तु उस गौरव की रक्षा के लिए मै इससे कही आगे बढना चाहता हूँ। रही आपकी यह स्वामी-सेवक-सम्बन्ध की व्याख्या, सो यह तो मेरी समझ मे ही नहीं आती। हमारा और वर्द्धनो का स्वामी-सेवक-सम्बन्ध कैसा ? वे इस समय प्रवल हो गये है, अत हम तब तक के लिए उनकी अधीनता स्वीकार कर लेते है जब तक हमारा बल नही वढ जाता। अब रहा आपका विश्वासघात, सो, आर्य, मै अपने किसी दैहिक सुख अथवा स्वार्थ के लिए किसीसे विश्वासघात करूँ तो पातकी हूँ। किसी महान् कार्य की सिद्धि के लिए, किन उपायो का अवलम्बन किया गया, यह बात गौण है, कार्य की सिद्धि मुख्य बात है। (धीरे-धीरे) राज्यवर्द्धन की हत्या किसी महान् कार्य के लिए की गयी थी। यदि वर्द्धनो के विरुद्ध विद्रोह और शिलादित्य की हत्या भी किसी महान् कार्य के लिए की जाय तो ये कर्म पाप न होकर पुण्य ही होगें। फिर, महाबलाधिकृत, आप तो केवल मेरे और मेरे वश के गौरव की रक्षा के लिए वर्द्धनो से युद्ध और युद्ध मे प्राण त्याग करना चाहते है, परन्तु उनकी अधीनता स्वीकार करने मे मेरा तो इससे भी कही महान्

उद्वेग है, जो इस युद्ध और प्राण-त्याग से सिद्ध नही हो सकता।

यशोधवल—वह क्या ?

शशांक—आर्य-धर्म की रक्षा। आप जानते है, शिलादित्य और उसका सहचर गुप्त-वश का वह कुल-कलक माधवगुप्त दोनो बौद्ध है। यदि इस समय मैंने शिलादित्य से युद्ध किया तो उसकी विजय निश्चित है। मेरा युद्ध में निधन होते ही गुप्त-साम्राज्य माधव के हाथ मे जायगा, वह वर्द्धनो का माण्डलीक होगा और उसके माण्डलीक होते ही सारे उत्तरापथ का राज्य-धर्म पुन बौद्ध-धर्म होगा और पुन आर्यावर्त पर बौद्ध-धर्म की ध्वजा फहराने लगेगी। इस समय वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार करने और अवसर पाते ही उनके विरुद्ध विद्रोह कर शिलादित्य को भी राज्यवर्द्धन के मार्ग से ही भेज देने से आर्य-धर्म की भी रक्षा हो जायगी। यह तो सौभाग्य का विषय है कि वर्द्धन इस समय मुझे माण्डलीक वना लेना ही राज्यवर्द्धन की हत्या का समुचित दण्ड मानते है और युद्ध अथवा मेरा निधन उन्हे इष्ट नही है।

यशोधवल—परन्तु ।

[प्रतिहारी का प्रवेश। उसकी वेश-भूषा स्थाण्वीश्वर के प्रतिहारी के सदृश ही है।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) परमभट्टारक की जय हो, गुप्त-चराधिपति परमभट्टारक के दर्शन किया चाहते है।

शशांक—उन्हे भेज दो।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान। गुप्तचराधिपति का प्रवेश। वह अभिवादन करता है। वह लगभग ३० वर्ष की अवस्था का

गेहुँएँ रंग का साधारण उँचाई और शरीर का व्यक्ति है। वेश-भूषा यशोधवल के समान है।]

शशांक—कहो, क्या स्थाण्वीश्वर अथवा कान्यकुब्ज का कोई संवाद है ?

गुप्तचराधिपति—हॉ, परमभट्टारक, अभी-अभी बडे महत्व का सवाद आया है।

शशांक—बैठ जाओ और कहो।

गुप्तचराधिपति—(एक आसंदी पर बैठकर) राज्यश्री के मिल जाने तथा शिलादित्य को उसे लेकर कान्यकुब्ज जाने का सवाद तो आपके पास पहुँच ही चुका होगा।

शशांक—हॉ, उसे तो यथेष्ट समय भी हो चुका।

गुप्तचराधिपति—अब सवाद है कि राज्यश्री का उन्माद अच्छा हो गया है और शिलादित्य उसे कान्यकुब्ज के सिहासन पर बैठाना चाहते है।

शशांक—(चौककर) स्त्री को राज्यसिहासन पर ! एक विधवा स्त्री को !

गुप्तचराधिपति—हॉ, परमभट्टारक, यही सवाद है।

शशांक—(यशोधवल से) देखा, आर्य, देखा, यह बौद्ध-धर्म की पुनः स्थापना का श्रीगणेश है। गौतम ने पुरुषो के समान स्त्रियो को सन्यास का अधिकार दिया था, शिलादित्य पुरुषो के समान स्त्रियो को सिहासनाधिकार देना चाहता है। आह ! यह वर्णाश्रम और स्त्री-पुरुषो के कर्तव्यो मे विभेद माननेवाले आर्य-धर्म पर उस बौद्ध-धर्म का, जिसमे न वर्ण है

यशोधवल—और इतने पर भी, इतने पर भी, परमभट्टारक, वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार करने के पक्ष में है।

शशांक—(कुछ सोचते हुए) मै . . . . मै, आर्य, मै हृदय से शासित न होकर मस्तिष्क से शासित होता हूँ। (कुछ ठहरकर) अच्छा, अब शीत बढ रही है। कक्ष मे चला जाय।

[तीनो का प्रस्थान। स्वच्छ छः वस्त्रधारी दासों का प्रवेश। दो शयन को तथा चार चारों आसंदियों को उठाकर ले जाते है। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—स्थाण्वीश्वर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[यह कक्ष भी लगभग उसी प्रकार का है जैसा पहले अंक के पहले दृश्य में था। दाहनी और बाँयीं ओर की भित्तियो के सिरे पर एक-एक द्वार है, जिनके बाहर उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है। डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणें उसे रँग रही है। उस कक्ष और इस कक्ष में अन्तर इतना ही है कि इसकी भित्तियों का रंग उससे भिन्न है और आसंदियो के स्थान पर इसके बीच में काष्ठ का एक शयन रखा है। इसपर भी गद्दी बिछी है और तकिये लगे है, जो श्वेत वस्त्र से ढँके है। शयन के दोनो ओर कुछ आसंदियाँ रखी हुई है। शयन पर राज्यश्री बैठी हुई है। अब वह श्वेत रंग की कौशेय साड़ी पहने है और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। भूषणो से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके वस्त्र अब अस्त-व्यस्त नहीं है, न केश ही फैले हुए है, मुख पर उन्माद के

चिन्ह भी नहीं है, पर, शोक अभी भी दृष्टिगोचर होता है और शोक के साथ अत्यधिक गाम्भीर्य। शयन के निकट की आसंदी पर उसकी सखी अलका बैठी है। अलका गेहुँएँ वर्ण की सुन्दर युवती है। वेश-भूषा राज्यश्री के समान ही है, केवल इतना अन्तर है कि इसके मस्तक पर टिकली है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

सच्चा इष्ट एक बलिदान।
इसी इष्ट से मानव-तन का हुआ सृष्टि मे श्रेष्ठ स्थान ॥
धन को जब धनवान,
विद्या को विद्वान्,
बल को जब बलवान,
करते है बलिदान,
तब उनके सुख का शब्दो मे हो सकता क्या कभी बखान ?
क्षुधितों, दलितों की सेवा मे जो तज देता है निज प्रान।
उस बड़भागी के सम जग मे किसका है सौभाग्य महान ?

[गान पूर्ण होने पर तम्बूरा रख देती है।]

अलका—कितना सुन्दर गायन है, राजपुत्री, और फिर कितनी सुन्दरता से आपने गाया है।

राज्यश्री—(लम्बी साँस लेकर) यह गान-विद्या ही तो मेरी शान्ति का एक अवलम्ब है, अलका। अत्यधिक शोक मे जब मुझे उन्माद-सा हो गया था तब कारागृह और विन्ध्य-पर्वत-प्रदेश, दोनो ही स्थलो पर इसीसे थोडी शान्ति मिलती थी। (कुछ ठहरकर सोचते हुए) पर नही, उस समय इसके अतिरिक्त एक और भी अवलम्ब था।

अलका—वह क्या, राजपुत्री ?

राज्यश्री—तुम्हारा नाम। उस समय का मुझे पूर्ण स्मरण तो नही है, परन्तु कुछ-कुछ स्मरण अवश्य है। मुझे स्मृति आती है कि अनेक बार मुझे ऐसा भास होता था कि तुम मेरे सग ही हो और मै जो कुछ कहना चाहती, तुम्हीको सम्वोधन कर कहती थी।

अलका—इसका कारण आपका मुझ पर अत्यधिक प्रेम है, राजपुत्री।

राज्यश्री—क्यो, अलका ? तुम्हारा भी तो मुझ पर उसी प्रकार का प्रेम है। क्या मैने सुना नही है कि मेरे वियोग मे तुम्हारी क्या दशा थी ? अब यदि मैने भिक्षुणी होने का विचार किया है तो तुमने भी मेरा सग देने का निश्चय कर डाला। (लम्बी साँस लेकर, नेत्रो में आँसू भर) या तो वे जीवन के चिर-सगी थे या तुम हो।

अलका—(आँसू भरकर) राजपुत्री, परमभट्टारक की वात तो उनसे ही थी। वे दिन ही अव स्वप्न हो गये। आपके तो इस दु ख का वर्णन ही नही हो सकता, राजपुत्री। परन्तु, आपकी वर्तमान अवस्था देखकर मेरे हृदय की भी जो अवस्था है वह मै ही जानती हूँ।

राज्यश्री—(आँसू बहाते हुए) क्या करोगी, अलका, अपना-अपना भाग्य तो है। वह सुख कदाचित् अत्यधिक था। दैव भी कदाचित् उसे न सह सकता था। उसे भी कदाचित् उससे ईर्षा उत्पन्न हो गयी थी। (कुछ ठहरकर, चौंककर, आँसू पोछते हुए) पर, नही, सखि, मैने अब जिस पथ पर चलने का विचार किया है उसमे तो शोक का कोई स्थान नही। ये समस्त लौकिक सुख अनित्य है, स्वप्न है। तुम जानती ही हो कि भगवान् बुद्ध के चार सत्यो का ज्ञान और अष्टागिक मार्ग का अनुसरण, जो यथार्थ मे सर्वस्व बलिदान कर लोक-सेवा करना है, किसी दु ख को पास फटकने

ही नही दे सकता। जब मैं इस पथ की पथिक होने चली हूँ तब शोक का मेरे निकट स्थान ही कहाँ ?

अलका—आप जो कुछ कहती है, ज्ञान-दृष्टि से सत्य होने पर भी, उसे व्यवहार मे लाने के लिए कदाचित् कुछ समय लगेगा। इसलिए हम दोनो भगवान बुद्ध के उपदेश का बार-बार स्मरण करके भी फिर उसी शोक-नद मे बहने लगती है।

राज्यश्री—हाँ, अलका, जो वर्षो तक होता रहा है उसे एकाएक विस्मृत नही किया जा सकता। किसी बात का ज्ञान एक बात है और उस ज्ञान को पूर्णरूप से कार्य मे परिणत करना दूसरी। परन्तु, इस ज्ञान-रूपी नौका के खेने मे यदि हम दोनो एक दूसरे की सहायता करती रही तो एक न एक दिन इस शोक-नद को पार कर ही लेगी।

[कुछ देर को दोनो चुप रहती हैं।]

अलका—राजपुत्री, परमभट्टारक तो आपको कान्यकुब्ज के सिंहासन पर बैठाना चाहते है न ?

राज्यश्री—हाँ, उन्हे सदा इसी प्रकार की नयी-नयी बाते सूझा करती है, परन्तु यह असम्भव बात है।

अलका—यह क्यो ?

राज्यश्री—पति के साथ पत्नी का राज्याभिषेक होना दूसरी बात है, परन्तु एक तो पृथक् रूप से अब तक इस देश मे किसी स्त्री का राज्याभिषेक नही हुआ, दूसरे मैं विधवा, विधवा को आर्य-समाज मे किसी भी मगल-कार्य मे भाग लेने का अधिकार नही। और, राज्य मे तो अभिषेक से लेकर मृत्यु तक मगल ही मगल-कार्य करने पडते है। तीसरे मैं भिक्षुणी होने जा रही हूँ और वे मुझे महिषी बनाने चले है। यहाँ से

वहाँ तक सब असगत बाते । कान्यकुब्ज के सिहासन को मै कदापि स्वीकार नही कर सकती।

अलका—उसे कौन स्वीकृत करेगा ?

राज्यश्री—शिलादित्य।

अलका—परन्तु मैंने तो सुना है कि वे कान्यकुब्ज का राज्य इसलिए नही ग्रहण करना चाहते कि वह कनिष्ठा भगिनी का राज्य है।

राज्यश्री—ये सब निरर्थक बाते है। उन्हे कान्यकुब्ज का सिहासन स्वीकार करना ही होगा।

[हर्ष का दाहने ओर के द्वार से प्रवेश। अब वे श्वेत कौशेय के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए है। दोनो की सुनहरी किनार है। उत्तरीय के कोनो पर राजहंस बने है। साथ ही कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ भी पहने है। सब भूषण सुवर्ण के है जो रत्नो से जगमगा रहे है। सिर के बाल अब लम्बे हो गये है और सिर पर अर्द्ध चन्द्राकार-रूप में पगड़ी के समान पुष्पमाला बँधी हुई है। मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड है और पैरो में काष्ठ की पादुका। पादुकाओ में सुवर्ण और रत्न लगे हुए है। हर्ष को देखकर राज्यश्री और अलका दोनो खडी हो जाती है।]

हर्ष—(शयन की ओर बढ़ते हुए) कहो, राज्यश्री, कैसा स्वास्थ्य है ? (शयन पर बैठते है।)

राज्यश्री—अच्छी ही हूँ। (वह भी शयन पर बैठती है।)

हर्ष—(अलका से) तुम भी बैठो, अलका, इस समय राजपुत्री को और तुम्हे एक आवश्यक सवाद सुनाने के लिए आया हूँ।

अलका—जो आज्ञा, परमभट्टारक। (एक आसंदी पर बैठ जाती है।)

हर्ष—राज्यश्री, मैंने तुम्हारे अभिषेक का मुहूर्त्त निकलवा लिया है। अक्षय तृतीया को यह अक्षय कार्य किया जायगा।

राज्यश्री—(व्यंग से) मेरे भिक्षुणी-पद का अभिषेक न ?

हर्ष—(जल्दी से) नही, नही, तुम्हारे कान्यकुब्ज के राज्य-पद का अभिषेक। तुम्हारी इच्छानुसार धर्म-शिक्षा के लिए मैंने तुम्हारे अध्यापक की नियुक्ति कर दी है, परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि तुम्हारा भिक्षुणी होना भी मुझे स्वीकृत है।

राज्यश्री—शिलादित्य, तुम्हारी अवस्था मुझसे कुछ अधिक है, अत मैं यह तो कैसे कहूँ कि तुम कई बार बालको की-सी बाते करते हो, परन्तु इसमे सन्देह नही कि मेरे इस अभिषेक के सम्बन्ध मे तुम कुछ इसी प्रकार की बाते किया करते हो।

हर्ष—इसमे बालको की-सी क्या बात है ?

राज्यश्री—और नही तो क्या है ?

हर्ष—पर, क्यो ?

राज्यश्री—क्यो क्या, कही ऐसा हो सकता है ?

हर्ष—क्यो नही हो सकता ?

राज्यश्री—आज तक कभी ऐसा हुआ है ?

हर्ष—आज तक कभी कोई राजपुत्री भिक्षुणी हुई है ?

राज्यश्री—राजपुत्री चाहे न हुई हो, सहस्रो स्त्रियाँ हुई है, परन्तु पति के सग को छोडकर, पृथक् रूप से आज-पर्यन्त इस देश मे किसी स्त्री का राज्याभिषेक नही हुआ।

हर्ष—पति के सग तो हुआ है न ?

राज्यश्री—वह दूसरी बात है।

हर्ष—क्यो, दूसरी बात क्यो है ?

राज्यश्री—इसलिए कि उस समय यथार्थ मे पति का राज्याभिषेक होता है, पत्नी का नही, वह तो उनकी सहधर्मिणी के समान केवल उनके संग सिंहासन पर बैठी रहती है।

हर्ष—और विना पत्नी के अकेले पति का राज्याभिषेक होता है या नही ?

राज्यश्री—क्यो नही होता ? अभी तुम्हारा ही हुआ है।

हर्ष—तव पत्नी का भी पति के समान पृथक् रूप से राज्याभिषेक क्यो नही हो सकता ?

राज्यश्री—(तीक्ष्ण स्वर में) शिलादित्य, शिलादित्य, तुम कैसी बाते करते हो, कही विधवा का राज्याभिषक हो सकता है ?

हर्ष—विधुर का हो सकता है या नही ?

राज्यश्री—परन्तु विधवा को किसी मगल-कार्य मे भाग लेने का अधिकार नही है।

हर्ष—यह विधवा के प्रति घोर अन्याय है। जो विधवा समाज मे ब्रह्मचर्य और सेवा का अद्भुत आदर्श उपस्थित करने के लिए समस्त लौकिक सुखो को तिलाजलि देकर आजन्म तपस्या करती है, उसे मगल-कार्यो मे भाग लेने का अधिकार नही ! आह ! सच तो यह है कि प्रत्येक मगल-कार्य का आरम्भ ही आर्यो को उस तपस्विनी के हाथो कराना चाहिए। वह तो समाज के लिए साक्षात देवी है, राज्यश्री, साक्षात देवी !

राज्यश्री—(कुछ ठहरकर) शिलादित्य, इन सब बातो मे तर्क के लिए कोई स्थान नही है; इनका निर्णय परम्परागत परिपाटी से होता है।

हर्ष—जो परिपाटी तर्क के सम्मुख नही ठहर सकती उसका कोई मूल्य नही है।

राज्यश्री—यह तुम्हारा हठ है।

हर्ष—कदापि नही, मै किसी बात पर निरर्थक हठ नही करना चाहता। या तो तर्क कर कोई मुझे यह सिद्ध कर दे कि मेरा अमुक मत ठीक नही है, या वह मेरा मत मान ले। अमुक बात आज-पर्यन्त नही हुई है इसलिए वह आज, और भविष्य मे भी नही हो सकती, यह मै नही मानता। यदि कोई बात आज-पर्यन्त नही हुई है और वह उचित है तो अवश्य होनी चाहिए। अब तक स्त्रियाँ पुरुषो की अनुगामिनी रही है। पुरुषो का स्थान समाज मे ऊँचा और स्त्रियो का निम्न माना गया है। भगवान बुद्ध ने स्त्रियो को पुरुषो की अनुगामिनी न मान कर, सगिनी मान, उन्हे धार्मिक कार्यों में पुरुषो के समान ही अधिकार दे दिये हैं। सद्धम्म मे यदि पुरुष भिक्षु हो सकते है तो स्त्रियाँ भी भिक्षुणी। मै राज-काज मे भी स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार देने की परिपाटी चलाना चाहता हूँ। यदि पुरुष सिहासनासीन हो सकते है, तो स्त्रियाँ भी, विधवाएँ भी। मेरे इस प्रयत्न की सफलता तुम पर अवलम्बित है। तुम्हारा यह ज्येष्ठ भ्राता, तुम्हारा यह प्यारा भ्राता शिलादित्य, तुमसे कान्यकुब्ज के सिहासन को ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करता है। (उत्तरीय को दोनो हाथो से फैलाकर राज्यश्री के आगे करते हुए) नही, नही, तुमसे इसे स्वीकार करने की भिक्षा माँगता है।

[राज्यश्री शीघ्रतापूर्वक अपने हाथ से हर्ष के उत्तरीय को समेट देती है। उसके नेत्रो से आँसू बहने लगते है। वह सिर झुका लेती है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

राज्यश्री—(धीरे-धीरे) शिलादित्य, तुमने मुझे बडी कठिन परिस्थिति मे डाल दिया।

हर्ष—किस प्रकार, राज्यश्री ?

राज्यश्री—(सिर उठाते हुए) परम्परागत परिपाटी को यदि मै एक ओर रख भी दूँ तो तुम जानते हो, मै अपने दु ख से निवृत्त होने के लिए पहले चितारोहण करना चाहती थी।

हर्ष—जानता हूँ।

राज्यश्री—वह तुमने न करने दिया, तब मैने भिक्षुणी होने का विचार किया।

हर्ष—यह भी जानता हूँ।

राज्यश्री—और उसके स्थान पर तुम मुझे राज्य ग्रहण करने के लिए कह रहे हो। कह रहे हो इतना ही नही, अत्यधिक आग्रह कर रहे हो, और आग्रह कर रहे हो इतना ही नही, भिक्षा माँग कर बाध्य कर रहे हो।

हर्ष—देखो, राज्यश्री, मेरी भी इच्छा राज्य ग्रहण करने की न थी। मै आर्य-धर्म का अनुसरण कर, सन्यासी हो, वन मे जाकर केवल अपने कल्याण का चिन्तन नही करना चाहता था, क्योकि वह तो स्वार्थ हो जाता। मै भी वास्तव मे भिक्षु होकर मठ मे निवास कर ससार का कल्याण करना चाहता था। ससार के कल्याण मे दत्तचित्त रहने पर अपना कल्याण तो आप-से-आप हो जाता है, उसके लिए चिन्तन करने के स्वार्थ मे भी पडने की आवश्यकता नही होती। परन्तु, मैने वह भी न कर उसी कार्य को, राज्य ग्रहण करके, करने का निश्चय किया है। तुम भी तो भिक्षुणी होकर ससार के कल्याण मे ही दत्तचित्त होना चाहती हो न ?

राज्यश्री—अवश्य।

हर्ष—वह तुम राज्य ग्रहण करने पर, यदि उसमे ममत्व न रखोगी तो, भिक्षुणी होने की अपेक्षा कही अधिक कर सकोगी। अन्त मे यही सोचकर मैंने भी राज्य ग्रहण कर लिया और इतने ही दिनो के अनुभव से मै देखता हूँ कि मैंने राज्य ग्रहण कर कोई भूल नही की है।

[राज्यश्री फिर कोई उत्तर नही देती और सिर झुका लेती है। कुछ देर को फिर निस्तब्धता रहती है।]

राज्यश्री—(धीरे-धीरे) क्या तुम्हारा विश्वास है कि मुझसे राज-काज चल सकेगा?

हर्ष—तुम्हारे सदृश विचक्षण बुद्धिमती और विदुषी नारी से यदि राज-काज नही चलेगा तो फिर किससे चलेगा? मुझे इस बात का विश्वास है कि तुम यह आदर्श उपस्थित कर सकोगी कि महिलाएँ भी उसी प्रकार राज-काज कर सकती है जिस प्रकार पुरुष, वरन् उनसे भी कही अच्छा। यदि मुझे इतना विश्वास न होता तो मै तुमसे इस सम्बन्ध मे इतना आग्रह न करता। फिर इस विषय मे मैंने एक और निश्चय किया है।

राज्यश्री—वह क्या?

हर्ष—मै स्वय तुम्हारे सग कान्यकुब्ज मे रहूँगा।

राज्यश्री—और स्थाण्वीश्वर का राज्य?

हर्ष—वह कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य होगा।

राज्यश्री—(चौंककर) क्या कहते हो, क्या कहते हो, शिलादित्य! यह त्याग! यह अपूर्व त्याग!

हर्ष—इसमे इतना ही तो त्याग है न कि, मै सम्राट् न हुआ और तुम सम्राज्ञी हुई ?

राज्यश्री—यह क्या छोटा त्याग है ? एक-एक कौडी के लिए सहोदर भ्राता एक दूसरे का सिर काटने को उद्यत रहते है और तुम इतने बडे साम्राज्य को ठोकर मार रहे हो।

हर्ष—राज्य का इस दृष्टि से मेरे सामने कभी महत्व ही नही रहा। मैने उसे राजा के पास प्रजा की धरोहरमात्र माना है। (कुछ ठहरकर) तुम्हारे सम्राज्ञी और मेरे माण्डलीक होने मे एक और बडा भारी उद्देश है।

राज्यश्री—वह क्या ?

हर्ष—तुम्हे स्मरण होगा कि मैने तुमसे कहा था कि भारतवर्ष का कल्याण भारत को एक साम्राज्य मे परिणत करने से ही हो सकता है।

राज्यश्री—हॉ, कहा था।

हर्ष—और तुम यह भी जानती हो कि मै रक्तपात के विरुद्ध हूँ, क्योकि एक तो सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्यवर्ग के कृत्यो मे रक्तपात को मेरी दृष्टि से कोई स्थान ही नही है, फिर रक्तपात द्वारा जिस साम्राज्य की स्थापना होती है वह कभी चिरस्थायी नही रह सकता।

राज्यश्री—तुम्हारे इन मतो को मै भलीभॉति जानती हूँ और तुम्हारे इन मतो से सहमत भी हूँ।

हर्ष—ऐसी परिस्थिति मे, यदि मै सारे देश मे एक साम्राज्य की स्थापना के उद्देश को स्पष्ट कर स्वेच्छापूर्वक तुम्हारा माण्डलीक हो गया तो अन्य राज्यो के लिए एक उदाहरण हो जायगा और मै अन्य राज्यो को

समझा-बुझा कर विना रक्तपात के ही साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करूँगा।

[कुछ देर तक फिर निस्तब्धता रहती है।]

हर्ष—फिर अब तो तुम्हे स्वीकार है न?

राज्यश्री—(कुछ सोचते हुए) मै क्या कहूँ, कुछ कहा नही जाता। न जाने भाग्य मुझे कहाँ ले जा रहा है। चितारोहण से सिंहासनारोहण तक तो वात आ गयी है। भविष्य मे न जाने और क्या होना है। (कुछ ठहरकर) तुमने मुझे इस प्रकार विवश किया है कि मै कुछ कह ही नही सकती। जो तुम्हारी इच्छा हो, करो। तुम ज्येष्ठ भ्राता हो। मैं तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण करूँगी। (आँखो में आँसू भर आते है।)

[परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज का मार्ग

समय—प्रात काल

[दूरी पर अनेक खण्डो के भवन दिखायी देते है। चौड़ा मार्ग है। अनेक पुरवासियो का, एक समूह में बॉयी ओर से प्रवेश। इस समूह में सभी वर्णो और अवस्थाओ के व्यक्ति है। सब श्वेत रंग के उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हुए है; कोई कौशेय के और कोई सूती; किसीके वस्त्र मोटे और किसीके पतले है; किसी-किसीके वस्त्रो पर सुनहरा और रुपहरा काम है। ब्राह्मण आभूषण

नहीं पहने है। चौडी शिखाओ के अतिरिक्त उनके सिर के शेष केश घुटे हुए है। किसी-किसीकी दाढ़ी-मूँछें भी घुटी है। वे मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओ पर भस्म के त्रिपुण्ड लगाए है। किसी-किसीका मोटा यज्ञोपवीत भी दिखता है। अन्य वर्णो के व्यक्ति मस्तक पर केशर का त्रिपुण्ड लगाए है, तथा कुण्डल, हार, केयूर, वलय, मुद्रिकाएँ आदि आभूषण भी पहने है। सबके आभूषण सुवर्ण के है और किसी-किसीके भूषणो में रत्न भी जड़े है। आगे चलनेवाले के हाथ में चाँदी का एक थाल है, जिसमें कुकुम, अक्षत, श्रीफल, कर्पूर और पुष्प-मालाएँ है। दाहनी ओर से चार ब्राह्मणो का प्रवेश। चारो की अधेड अवस्था है। इनकी वेश-भूषा भी समूह के ब्राह्मणो के सदृश ही है।]

दाहनी ओर से आया हुआ एक ब्राह्मण—(क्रोधित और उत्तेजित स्वर में) अच्छा, अन्त मे कान्यकुब्ज के भी प्राय सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति राज्यश्री के अभिषेक के इस घोर अधर्म-काण्ड मे सहयोग करने को तैयार हो गये ?

उसका दूसरा साथी—और ब्राह्मण भी ?

समूह का एक ब्राह्मण—(आगे बढ़कर) देखिए वन्धुओ, आप वृथा का क्रोध कर रहे है।

दाहनी ओर का तीसरा—(क्रोध से) वृथा का क्रोध कर रहे है! अरे! धर्म के इस नाश का अवलोकन करके भी यदि ब्राह्मण को क्रोध न आयगा तो किसे आयगा ?

चौथा—(क्रोध से कॉपते हुए) तुम क्रोध की बात करते हो। यदि ब्राह्मणो मे सच्चा ब्राह्मणत्व होता, अरे! यदि एक मे भी होता, तो वह शाप देकर इस सारे आयोजन को भस्म कर देता।

समूह का पहला ब्राह्मण—ब्राह्मणो मे जब से क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ है तब से दूसरो का नाश करना तो दूर रहा उनका स्वय नाश हो रहा है।

समूह का दूसरा ब्राह्मण—(आगे बढ़कर) हाँ, हाँ, हम लोगो के पतन का आरम्भ यथार्थ मे दुर्वासा के समय से ही हुआ। इन्होने जब वृथा के लिए राजा अम्बरीष को शाप दिया और जब भगवान का सुदर्शन-चक्र उन पर आक्रमण करने के लिए आगे बढा तब तीनो लोको मे भागने पर भी उन्हे शान्ति न मिली और अन्त मे ब्राह्मण होकर उन्हे क्षत्रिय अम्बरीष के शरण आना पडा।

उसका पहला साथी—हाँ, वही से ब्राह्मणो का पतन आरम्भ हुआ, वही से, नही तो ब्राह्मण कभी क्षत्रिय के शरण जा सकता था ?

समूह का तीसरा ब्राह्मण—(आगे बढ़कर) फिर, बन्धुओ, यह तो बतलाइए कि हम अधर्म का कौनसा कार्य कर रहे है ?

दाहनी ओर का पहला—स्त्री का राज्याभिषेक अधर्म नही तो क्या है ?

उसका तीसरा साथी—वह भी विधवा का, जिसे किसी भी मगल-कार्य मे भाग लेने का अधिकार नही है।

उसका चौथा साथी—आज-पर्यन्त कभी ऐसी घटना हुई है ?

दूसरा—सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध है, सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध। नही तो महाराज दशरथ की मृत्यु और राम के वनवास के पश्चात् जब भरत ने अवध का राज्य ग्रहण न किया तब राम की पादुका अवध के सिंहासन पर क्यो रखी जाती, कौशल्या का अभिषेक न होता ? महाराज पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् अन्धे धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के सिंहासन पर क्यो बैठते, कुन्ती का अभिषेक न होता ?

तीसरा—हाँ, हाँ, भारत के इतिहास मे एक भी तो ऐसा दृष्टान्त दिखा दीजिए जहाँ पृथक् रूप से स्त्री का, और वह भी विधवा स्त्री का, राज्याभिषेक हुआ हो ?

समूह का तीसरा—परन्तु, किसी भी शास्त्र मे यह कही नही लिखा कि स्त्री और विधवा का अभिषेक न किया जाय।

समूह का पहला—और फिर परिस्थिति के अनुसार शास्त्रो मे सदा परिवर्तन भी तो होता है। जब हम स्मृतियो का अध्ययन करते है तब यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। एक स्मृति मे यदि किसी विषय पर एक आज्ञा है तो दूसरी मे ठीक उसके विपरीत।

समूह का दूसरा—हाँ, हाँ, ब्राह्मण चाणक्य ने शूद्र चन्द्रगुप्त को समस्त भारत का सम्राट् बना उसका राज्याभिषेक किया था। उसके पूर्व किसी शूद्र का राज्याभिषेक नही हुआ था। आज हम एक विधवा स्त्री के राज्याभिषेक मे सहयोग देकर, स्त्रियो और विधवा स्त्रियो तक को, सिहासनासीन होने का अधिकार है, यह सिद्ध कर देगे।

समूह का तीसरा—और यह कार्य भी तो कान्यकुब्ज देश का एक परम विद्वान् ब्राह्मण, राज्य का महाधर्माध्यक्ष ही करा रहा है।

दाहनी ओर का पहला—राज-सत्ता ने उसे धन देकर मोल ले लिया है।

समूह का चौथा ब्राह्मण—(आगे बढ़कर क्रोध से) बस, बस, आगे एक शब्द नही, उन्हे मोल ले लिया है! जिह्वा को थोडा वश मे रखकर वाक्य मुख से निकालो। सारे कान्यकुब्ज देश मे उनके समान विद्वान्, त्यागी और निस्पृह ब्राह्मण न मिलेगा, उनके लिए ऐसे वाक्य!

समूह का पहला—(अपने साथी के कन्धे को थपथपाते हुए)

शान्त, बन्धु, शान्त, हमको क्रोध नही करना है। हम जो उचित समझते है वह हम करे, दूसरे जो उचित समझते है वह उन्हे करने दे। मनुष्य जब अपने मार्ग पर बलपूर्वक दूसरे को चलाने का प्रयत्न करता है तभी कलह की उत्पत्ति होती है। हम कलह नही करना चाहते।

दाहनी ओर का दूसरा—देखिए, बन्धुओ, मै आप लोगो को एक बात और भी सूचित कर देना चाहता हूँ।

समूह का पहला—क्या?

दाहनी ओर का दूसरा—आप जिस कार्य मे सहयोग देने जा रहे है वह हमारे आर्य-धर्म के प्रतिकूल है इतना ही नही, आप आर्य-धर्म के स्थान पर बौद्ध-धर्म को उत्तेजना देने का भी पातक कर रहे है।

समूह का पहला—यह कैसे?

दाहनी ओर का दूसरा—हर्षवर्द्धन और राज्यश्री दोनो, यथार्थ में बौद्ध-धर्म के अनुयायी है। आपने सुना ही होगा कि हर्षवर्द्धन स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण करने के पूर्व, चाहे वे बौद्ध न हो गये हो, किन्तु बौद्ध-भिक्षुओ के समान चीवर पहने रहते थे। राज्यश्री तो बौद्ध-भिक्षुणी होना चाहती थी इसमे सन्देह ही नही। आज हर्षवर्द्धन स्त्री का अभिषेक करा, स्त्री-पुरुषो के विभिन्न धर्मों और कर्तव्यो पर कुठाराघात करने जा रहे है, और कल वे समस्त वर्णों को एक करने का प्रयत्न कर, जिस वर्णाश्रम की नीव पर आर्य-धर्म खडा हुआ है, उसीको खोद डालने का प्रयत्न करेगे, क्योकि बौद्ध-धर्म मे वर्णाश्रम का कोई स्थान नही है। बौद्धो ने अब तक आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न करने का कम उद्योग नही किया। जिस गुप्त-साम्राज्य ने आर्य-धर्म का जीर्णोद्धार किया उस साम्राज्य का हूणो की सहायता कर बौद्धो ने ही नाश कराया है। आप लोग जो कुछ करने जा रहे है, उसे बहुत सोच-समझ कर कीजिए।

समूह का एक युवक—(आगे बढ़कर) यह सब आप क्या अनर्गल बक रहे है? आर्य-धर्म और बौद्ध-धर्म क्या कोई पृथक्-पृथक् धर्म है?

दाहनी ओर का दूसरा—पृथक् नही तो क्या है?

वही युवक—कदापि नही। बौद्ध-धर्म को मै आर्य-धर्म की ही एक शाखा मानता हूँ। जब ब्राह्मणो ने यज्ञो की भरमार की, हिसा को सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया तब भगवान ने गौतम का अवतार धारण कर आर्य-धर्म का सशोधनमात्र किया है। 'आर्य-धर्म नष्ट हो रहा है', 'वर्णाश्रम-धर्म पर आपत्ति का पहाड टूट पडा है' इस प्रकार चिल्ला-चिल्लाकर ब्राह्मणो ने, और 'सद्धम्म सकट मे है,' 'सद्धम्म का नाश करने पर ब्राह्मण कटिबद्ध हुए है' इस प्रकार चिल्ला-चिल्लाकर बौद्धो ने एक ही देश मे रहनेवालो, एक ही जाति और सभ्यता के अनुयायियो मे परस्पर झगडा मचवा देश को यथेष्ट हानि पहुँचायी है। अब क्षमा कीजिए, आप धर्माचार्यगण, क्षमा कीजिए।

दाहनी ओर का तीसरा—ब्राह्मणो को छोडकर अन्य वर्णो को धर्म पर विवाद करने का कोई अधिकार नही है।

समूह का दूसरा युवक—(आगे बढ़कर) देखिए, मै तो इस सारे विषय को एक दूसरी ही दृष्टि से देखता हूँ। राज्यश्री हमारे कान्यकुब्ज देश की महिषी है। मौखरि वश मे यदि कोई पुरुष नही बचा तो स्त्री को कान्यकुब्ज के सिहासन पर बिठा हर्षवर्द्धन कान्यकुब्ज देश पर बडा भारी उपकार कर रहे है। इतना ही नही, वे स्थाण्वीश्वर को हमारे देश का माण्डलीक राज्य बना, एक अपूर्व त्याग कर, हमारे देश के गौरव को बढा रहे है। हमारे देश पर, हमारे देश की सत्ता रहे, और हमारे देश का महत्व बढे, हमे इससे अधिक हर्ष की और कोई बात ही न होनी चाहिए।

समूह का एक अधेड़ व्यक्ति—(आगे बढ़कर) देखिए, बन्धुओ, न तो यह स्थान शास्त्रार्थ का है और न अन्य चर्चाओ का। यह तो थोडा निर्जन पथ था अन्यथा यह झगडा सुनकर अभी यहाँ एक भीड इकट्ठी हो गयी होती। राज्याभिषेक का समय हो रहा है। ठीक समय हमे वहाँ पहुँचना है।

समूह का एक और व्यक्ति—हाँ, हाँ, इस प्रकार के विवादो का अन्त थोडे ही हो सकता है।

समूह के कुछ व्यक्ति—(एक साथ) हाँ, हाँ, चलिए, चलिए।

[समूह का दाहनी ओर प्रस्थान। पर, समूह के ब्राह्मणो में से एक अधेड अवस्था का ब्राह्मण, जिसने इस विवाद में कोई भाग न लिया था, ठहर जाता है।]

ठहरा हुआ ब्राह्मण—(समूह के जाने के पश्चात् दाहनी ओर से आये हुए दूसरे ब्राह्मण से) आपकी सब बातो मे बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी बात उपयुक्त थी। हर्ष अपने को शैव कहते हुए भी अवश्य बौद्ध है।

दाहनी ओर का दूसरा—हाँ, हाँ, प्रच्छन्न बौद्ध है।

ठहरा हुआ—और राज्यश्री का अभिषेक यथार्थ मे आर्य-धर्म के मूलोच्छेदन और बौद्ध-धर्म को राज्य-धर्म बनाने का पुन श्रीगणेश है।

दूसरा—इसमे सन्देह ही नही, परन्तु कठिनाई तो यह है कि लोग समझते नही।

ठहरा हुआ—आपके कथन का मुझ पर इतना प्रभाव पडा कि मै उस समूह के सग जा ही नही सका। (कुछ ठहरकर) मेरे मन मे तो एका-

एक यह बात उठी है कि जिस प्रकार बौद्धो ने गुप्त-साम्राज्य को नष्ट कर दिया उसी प्रकार हमे इस वर्द्धन-सत्ता का नाश करना चाहिए।

दूसरा—यदि ऐसा किया जा सके तो क्या पूछना है।

पहला—निस्सन्देह।

ठहरा हुआ—अवश्य किया जा सकता है। मै अकर्मण्य होकर नही रह सकता। या तो मैं राज्यश्री के राज्याभिषेक मे सम्मिलित हो इस राज्य से सहयोग करता या अब इस राज्य का नाश ही कर दूँगा।

पहला—(प्रसन्न होकर) यह किस प्रकार कीजिएगा, बन्धु ?

ठहरा हुआ—सगठन करके। आज कान्यकुब्ज मे इस राज्य की स्थापना हो रही है और आज ही से हम इसके नाश का सगठन करेगे।

पहला—मै इस कार्य मे योग देने को तैयार हूँ।

दूसरा—मै भी।

तीसरा—मै भी।

चौथा—और मैं भी।

ठहरा हुआ—और आप लोग जानते है कि हमारे इस शुभ कार्य मे किससे सहायता मिलेगी ?

पहला—किससे ?

ठहरा हुआ—गुप्तवशीय गौडाधिपति आर्य-धर्म के कट्टर भक्त परम-भट्टारक महाराजाधिराज शशाक नरेन्द्रगुप्त से।

दूसरा—परन्तु, शशाक ने तो वर्द्धनो की अधीनता स्वीकार कर ली है। मैंने सुना है कि हर्ष के सदश वे भी राज्यश्री के माण्डलीक होगे।

ठहरा हुआ—(आश्चर्य से) आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशाक, बौद्ध हर्ष के माण्डलीक! एक स्त्री के माण्डलीक! हो नही सकता, असम्भव है।

तीसरा—असम्भव, हर्ष की अधीनता उन्होने स्वीकार कर ली है, यह तो सारा देश जानता है। न जाने आप ही इस वात से कैसे अनभिज्ञ है, और राज्यश्री के माण्डलीक होने वे यहाँ आ भी गये है। आज के राज्याभिषेक मे अन्य माण्डलीको के समान वे भी राज्यश्री का अभिवादन करेगे।

चौथा—(सिर नीचा कर कुछ सोचते हुए) देखो, वन्धुओ, शशाक वडे भारी राजनीतिज्ञ है। मैने सुना है कि हर्ष की अधीनता स्वीकार करने मे उनका आन्तरिक अभिप्राय समय पाकर इस सत्ता को उलट देना है। वही कदाचित् राज्यश्री के माण्डलीक होने मे भी होगा।

ठहरा हुआ—(प्रसन्न होकर) हाँ, हाँ, यही वात है, यही वात है, अन्यथा आर्य-धर्म के कट्टर भक्त शशाक कभी ऐसा पातक कर सकते? कभी नही। मैने वहुत सोच-विचार कर अपनी सहायता के लिए उनका नाम लिया था। उनसे अपने को सहायता मिलेगी, अवश्य मिलेगी।

तीसरा—देखो, वन्धुओ, इस सत्ता के नाश के लिए मै आपमें-से किसीसे भी कम चिन्तित नही हूँ, परन्तु यदि हमारा कार्य ऐसी दिशा की सहायता पर अवलम्वित हो, जहाँ से सहायता के स्थल पर, उल्टा हमारा भण्डा-फोड हो जावे, तो मै इस सगठन मे सम्मिलित नही रह सकता। हर्ष ऐसे मूर्ख नही कि शशाक को विना पूर्ण विश्वास के ऐसे अवसर पर अपना माण्डलीक वनाते, जव वे सहज मे परास्त कर उनका वध कर सकते थे।

चौथा—कभी-कभी आप वडी वे-समझी की वात कह वैठते है। शशाक का वध हर्ष के लिए असम्भव था।

तीसरा—यह क्यो ?

चौथा—इसलिए कि वे माधवगुप्त के बान्धव हैं। माधवगुप्त शशाक को क्षमा कराना चाहते थे, फिर भला हर्ष उन्हे प्राण-दण्ड क्योकर देते ? माधवगुप्त की इच्छा के विरुद्ध हर्प कभी कोई कार्य कर सकते है ? (ठहरे हुए व्यक्ति की ओर सकेत कर) हमारे इन बन्धु का कथन सर्वथा ठीक है। शशाक से हमे अपने कार्य मे पूर्ण सहायता मिलेगी, इतना ही नही, शशाक के कारण माधवगुप्त से भी और इस प्रकार इस बौद्ध-साम्राज्य का शीघ्र ही नाश हो सकेगा।

[नेपथ्य मे गायन की ध्वनि सुन पडती है।]

पहला—लीजिए, स्त्रियो का भी एक समूह आ रहा है। अब तो सहन-शक्ति के बाहर की बात हो गयी। चलो, बाबा, लौट चले, जहाॅ को जा रहे थे वहाॅ अन्य किसी मार्ग से जायँगे। इन स्त्रियो से कौन विवाद करेगा।

[दाहनी ओर से आये हुए चारो, और समूह में का ठहरा हुआ एक, इस प्रकार पाॅचो ब्राह्मण दाहनी ओर ले जाते हैं। बाॅयी ओर से स्त्रियो का एक समूह आता है। सभी वर्णो और अवस्था की स्त्रियाॅ है। सभी भिन्न-भिन्न रंगो की साड़ियाॅ पहने हैं और वक्षस्थलो पर वस्त्र बाॅधे हैं; किसीके वस्त्र कौशेय के है और किसीके सूती; किसीके पतले है, किसीके मोटे। किसी-किसीके वस्त्रो पर सुनहरा और रुपहरा काम भी है। सभी पटबन्ध, कर्ण-कुसुम, बेसर, चन्द्रहार, भुजबन्ध, ककण, आरसी और मुद्रिकाएँ आदि आभूषण पहने हे। सबके भूषण सुवर्ण के है, किसी-किसी मे रत्न भी जडे है। पैरो में सब स्त्रियाॅ चाॅदी के भूषण धारण किये हुए है। स्त्रियाॅ गा रही है।]

आज हम होगी धन्य महान,
प्राप्त कर सबसे ऊँचा स्थान।

अब तक मानव-वृन्द मे, दक्षिण-वाम-विभाग—
न थे तुल्य, पर, अब खुला वाम-भाग का भाग।
हर्ष ने दोनो को सम जान,
किया यह राज्यश्री का मान॥

[स्त्रियो का गाते हुए प्रस्थान। कुछ देर तक नेपथ्य से गायन-ध्वनि आती रहती है जो शनैः शनैः दूर जाकर बन्द हो जाती है। पर्दा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद का सभा-कक्ष

समय—प्रात काल

[सभा-कक्ष लगभग उसी प्रकार का है जैसा स्थाण्वीश्वर का सभा-कक्ष था। दोनो ओर की भित्तियो के सिरो पर दो द्वार है जो अन्य कक्षो में खुलते है। इन कक्षो का बहुत थोडा भाग दिखायी देता है। पीछे की भित्ति के बीचोबीच, उसके निकट ही, स्वर्णमण्डित सिहासन रखा है। सिहासन के पाये सिहाकार बने है। सिहासन पर सुनहरे काम की गद्दी बिछी है और उसी प्रकार के तकिये लगे है तथा उसके नीचे पैर रखने के लिए स्वर्ण का, गद्दीदार पादपीठ रखा है। सिहासन के दाहनी ओर एक सुवर्ण के मोटे स्तम्भ पर केशरी रग का ध्वज है, जिसपर वृषभ का चित्र बना है। ध्वज-स्तम्भ से लगी हुई, सिहासन के दाहनी ओर, एक पक्ति में अनेक सुवर्ण और सिहासन के बॉयीं ओर एक पक्ति में अनेक रजतमण्डित आसदियॉ रखी हैं। सभी पर गद्दियॉं बिछी है तथा तकिये लगे है, जो श्वेत वस्त्र से

ढके है। सिहासन और सिंहासन के आसपास की आसदियो की पक्तियो के सामने अर्द्ध-चन्द्राकार-रूप में आसंदियो की कई पंक्तियाँ रखी हुई है। ये आसदियाँ काष्ठ की है और इन पर भी श्वेत वस्त्र से ढँकी हुई गद्दियाँ बिछी है तथा उन पर श्वेत वस्त्र से ढँके हुए तकिये लगे है। इन आसदियो का मुख सिहासन की ओर है। इन आसदियो की पक्तियो के ठीक बीच से सिंहासन तक जाने के लिए मार्ग है जिससे ये पक्तियाँ दो विभागो में बँट गयी है। सभा-कक्ष कदली वृक्षो, पल्लव-पुष्प के वन्दनवारो और मंगल-कलशो से सुसज्जित है। स्थान-स्थान पर सुवर्ण की धूपदानियो में धूप जल रही है। सिंहासन रिक्त है। ध्वज-स्तभ के निकट की पहली आसदी पर महाधर्माध्यक्ष बैठा हुआ है। यह गौरवर्ण का ऊँचा, वृद्ध ब्राह्मण है। लगभग ७० वर्ष की अवस्था है। सिर पर चौड़ी श्वेत शिखा और वक्ष-स्थल तक लम्बी श्वेत दाढी है। शरीर की जो रोमावली दिखती है वह भी सब श्वेत हो गयी है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उत्तरीय में से श्वेत मोटा यज्ञोपवीत दिखायी देता है। मस्तक, वक्षस्थल और भुजाओ पर भस्म के त्रिपुण्ड लगे है। पैरों में काष्ठ की पादुका है। उसके निकट की आसदी पर हर्ष बैठे है। उनकी वेश-भूषा इस अक के दूसरे दृश्य के समान है, परन्तु आज सुनहरी कोष में कटि से खड्ग भी लटक रहा है जो उस समय नही था। हर्ष के निकट की दो आसदियो पर कामरूप-नरेश कुमारराज भास्कर वर्मन और गौडाधिपति शशाक नरेन्द्रगुप्त बैठे है। इनके पश्चात् इस ओर की अन्य आसदियो पर कुल-पुत्र विराजमान है। सभी की वेश-भूषा हर्ष के सदृश है। सिंहासन के बाँई ओर की आसदियो पर सामन्तगण बैठे है। इन्हींमें अवन्ति, सिंहनाद भण्डि और माधवगुप्त दिखायी पडते है। सामन्तो की वेश-भूषा भी हर्ष के ही समान है। सिंहासन के सामने की आसदियाँ, जो अर्द्धचन्द्राकार रूप में रखी हुई है, रिक्त है। नेपथ्य में पच महावाद्य बाजे बज रहे है जिनका

थोडा-थोड़ा शब्द सभा-कक्ष में सुन पडता है। दाहने ओर के द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) जय हो, महाराजाधिराज, प्रजा के पुरुष-प्रतिनिधियो का समूह द्वार पर आया है।

[हर्ष खड़े होकर दाहनी ओर के द्वार तक जाते हैं। उनके खडे होते ही अन्य व्यक्ति भी खडे हो जाते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहने ओर के द्वार से बाहर जाता है। प्रजा-प्रतिनिधियो का दाहने द्वार से प्रवेश। हर्ष ब्राह्मणो को हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं। वे दोनो हाथ उठा कर हर्ष को आशीर्वाद देते हैं। शेष लोग झुक-झुककर हर्ष का अभिवादन करते हैं। हर्ष मस्तक झुका उसका उत्तर देते हैं। हर्ष सबो को अर्द्धचन्द्राकार चौकियो के वाम-विभाग में बिठाकर पुनः अपने स्थान पर बैठते हैं। अन्य व्यक्ति भी बैठ जाते हैं। नेपथ्य में गायन की ध्वनि सुन पडती है। प्रतिहारी का पुनः दाहनी ओर के द्वार से प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) जय हो, महाराजाधिराज, प्रजा के महिला-प्रतिनिधियो का समूह भी द्वार पर आ गया है।

[हर्ष खडे होकर पुन. दाहनी ओर के द्वार तक जाते है। उनके खडे होने पर अन्य व्यक्ति भी खडे होते हैं। प्रतिहारी अभिवादन कर दाहनी द्वार से बाहर जाता है। दाहनी ओर से गायन गाते हुए महिला-समूह का प्रवेश। सभा-भवन में प्रवेश करते ही वे गायन बन्द कर देती हैं। हर्ष महिला-समूह के हाथ जोडते हैं। वे सब झुककर हर्ष का अभिवादन करती हैं। हर्ष उन्हे अर्द्धचन्द्राकार चौकियो के दाहने विभाग में बिठाकर अपने स्थान पर बैठते हैं। शेष सभासद भी बैठ जाते हैं। कुछ देर सभा-कक्ष में निस्तब्धता रहती है, परन्तु बाहर बजते हुए पच महावाद्यो की धीमी-धीमी ध्वनि बराबर आती रहती है।]

महाधर्माध्यक्ष—(हर्ष से) मै समझता हूँ, अब तो सभी आमन्त्रित जन उपस्थित हो गये, अभिषेक का मुहूर्त्त-काल भी थोडा ही शेष है, परमभट्टारक।

हर्ष—मै अभी राजपुत्री को लाता हूँ, आर्य।

[हर्ष का बॉयें द्वार से प्रस्थान। उनके उठते ही सब खडे हो जाते है और उनके जाने पर फिर सब बैठ जाते है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। बॉयें द्वार से प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—जय, परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, महिषी, राज्यश्री, महादेवी की जय!

[सब सभासद खडे हो जाते है। शिविका पर राज्यश्री का प्रवेश। शिविका सुवर्ण की है। उसके ऊपर छाया नही है, अर्थात् ऊपर से खुली हुई है। उसे आठ शिविका-वाहक उठाए हुए है। वे श्वेत अधोवस्त्र पहने है और उनका उत्तरीय शिविका उठाने के कारण सिर पर बँधा हुआ है। वे भी कुण्डल, हार, केयूर और वलय पहने है। उनके भूषण सुवर्ण के है। शिविका में गद्दी बिछी है और तकिये लगे हुए है। तकिये के सहारे राज्यश्री बैठी हुई है। वह अभी भी श्वेत कौशेय की साडी पहने है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बॉधे है। भूषणो से अभी भी उसका शरीर रहित है। उसके मुख पर उदासी के चिन्ह दृष्टिगोचर होते है। शिविका के एक बगल में हर्ष और दूसरे बगल में अलका है। अलका की वेश-भूषा पहले के समान ही है। राज्यश्री हाथ जोडकर ब्राह्मणो का अभिवादन करती है। वे दोनो हाथ उठाकर आशीर्वाद देते है। शेष स्त्री-पुरुष मस्तक झुकाकर राज्यश्री का अभिवादन करते है और वह थोडा-सा सिर झुका कर उनका उत्तर देती है। शिविका सिहासन के निकट रखी जाती है। राज्यश्री उससे उतर कर सिहासन के एक ओर खडी होती है। उसीके

निकट हर्ष और अलका खड़ी हो जाती है। शिविका-वाहक, शिविका उठा कर बॉयी ओर के द्वार से बाहर जाते है। बॉयी ओर के द्वार से सात स्त्रियो का प्रवेश। सातो स्त्रियॉ सुन्दरी है और उनकी अवस्था २० और २५ वर्ष के बीच में है। वे केशरी वस्त्र धारण किये हुए है, तथा सुवर्ण के भूषण पहने है। इन सात स्त्रियो में छै, दो-दो की पंक्ति में है, और एक सबके पीछे। पहली दो स्त्रियो के हाथो में सुवर्ण का एक-एक थाल है। एक थाल में रत्नों से देदीप्यमान राजमुकुट और राजदंड तथा दूसरे थाल में अभिषेक की सामग्री है। इन दोनो के पीछे की दो स्त्रियाँ कन्धो पर सुवर्ण की डॉडियोवाले सुरागाय की पुच्छ के श्वेत चॅवर रखे है। इनके पीछे की दो स्त्रियो के हाथ में चन्दन की डॉडियो के खश के दो व्यजन है और इनके पीछे की एक स्त्री के हाथ में हाथीदाँत की डॉडी का श्वेत छत्र है, जिसमें मोतियो की झालर लगी हुई है। सातो स्त्रियॉ सिहासन के निकट बैठती है। पाँच तो सिहासन के पीछे जाकर, छत्र-वाहिका बीच में तथा उसके उभय ओर एक-एक चामर-वाहिका और एक-एक व्यजन-वाहिका खडी हो जाती है और थालवाली दोनो स्त्रियॉ धर्माध्यक्ष के निकट खडी होती है।]

महाधर्माध्यक्ष—(राज्यश्री से) आप सिहासनासीन हो, देवि।

[राज्यश्री कॉपते हुए पैरो और उदास मुख से सिहासन पर बैठती है। महाधर्माध्यक्ष थाल में से राजमुकुट उठाकर उसके मस्तक पर रख, राजदंड उसके हाथ में देता है। फिर दूसरे थाल में से सुवर्ण का कलश उठा कुश से मार्जन का मत्र बोलते हुए उसका मार्जन करता है। इसके पश्चात् महाधर्माध्यक्ष अपने स्थान पर बैठता है। क्षत्र-वाहिका राज्यश्री के सिर पर छत्र लगाती तथा चामर और व्यजन-वाहिकाएँ चामर और व्यजन डुलाना आरम्भ करती है।]

प्रतिहारी—जय, परमभट्टारिका, परममाहेश्वरी, परमादित्य-भक्त, परमेश्वरी, महाराज्ञी, सम्राज्ञी, राज्यश्री महादेवी की जय!

सब सभासद—(एक स्वर से)—परमभट्टारिका, महाराज्ञी, सम्राज्ञी, राज्यश्री महादेवी की जय!

[प्रतिध्वनि होती है। हर्ष, कुमारराज भास्कर वर्मन और शशाक एक पक्ति में तथा इन तीनो के पीछे कुल-पुत्र और साम्न्तगण सिंहासन के सामने जाकर खड्ग निकाल, खड्ग मस्तक तक ले-जाकर राज्यश्री का अभिवादन करते है। राज्यश्री कॉपते हुए परो से खडे होकर मस्तक झुका अभिवादन का उत्तर देती है। प्रजा के स्त्री-पुरुष-प्रतिनिधि पुष्पो की वर्षा कर पुनः जय-जयकार करते है जिसकी प्रतिध्वनि होती है।]

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान उसी प्रकार की है जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी, परन्तु इसकी भित्ति का रंग उससे भिन्न है। दालान में सुवर्णमण्डित शयन रखा हुआ है, जिसमें रत्न जड़े है। शयन पर सुनहरी काम की गद्दी बिछी है और इसी प्रकार के तकिये लगे है। शयन के निकट ही सुवर्णमण्डित एक आसंदी रखी है और उसपर भी इसी प्रकार की गद्दी बिछी तथा तकिये लगे है। राज्यश्री शयन पर बैठी हुई है। आसदी पर अलका बैठी है। शयन के एक ओर एक दासी खडी हुई सुवर्ण की रत्नजटित डॉड़ीवाला चामर डुला रही है। राज्यश्री की अवस्था अब लगभग ४३ वर्ष की है। उसका शरीर यद्यपि वैसा ही है, पर, सिर के केश यत्र-तत्र श्वेत हो गये है और मस्तक पर कुछ रेखाएँ तथा नेत्रों के आसपास काले गढ़े एव कुछ झुर्रियाँ पड़ गयी है। ४३ वर्ष की अवस्था में ही उसपर

वृद्धावस्था का प्रभाव दिखायी पड रहा है। वह श्वेत कौशेय की साड़ी धारण किये हुए है और उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बॉधे है। सदा के समान उसका शरीर आभूषणो से रहित है। अलका की अवस्था राज्यश्री से यद्यपि अधिक है, परन्तु देखने में कम जान पड़ती है। उसके केश अभी भी काले है और मुख पर झुर्रियॉ आदि नही है। उसकी वेश-भूषा भी पहले के समान ही है। दासी केशरी रंग की साडी और सुवर्ण के आभूषण पहने हुए है। राज्यश्री तम्बूरा बजाकर गा रही है।]

मधुप-मुकुल का कैसा संग ?
जहाँ स्वार्थ-परमार्थ-विरोधी, रँगे एक ही रग ॥
ले मधु उड़-उड़ मधुप मुकुल-कुल कर विस्तृत यह सिद्ध-
गूँज-गूँज कर करता, जग मे केवल स्वार्थ-निषिद्ध ॥
सतत विलोका, जड़-कृमि तक का यद्यपि यों सम्बन्ध ।
सकल सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ यह मानव तब भी अन्ध ॥

राज्यश्री—(गाना पूर्ण होने पर तम्बूरा रखते हुए) अलका, आज मुझे सिहासन ग्रहण किये अट्ठाइस वर्षो के सात युग पूरे होते है। यद्यपि अब मै कपिशा, काश्मीर और नैपाल से लेकर नर्मदा तक एव पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक के परम सुन्दर एव सभ्य आर्यावर्त की सम्राज्ञी हूँ, यद्यपि आज सारे आर्यावर्त मे मेरे सिहासनासीन होने के सातवे युग का उत्सव मनाया गया है तथापि मुझे आज सबसे अधिक अशान्ति और निराशा है।

अलका—वह तो मै देख रही हूँ, परमभट्टारिका, सात युगो से लगातार आपकी मानसिक अशान्ति देखती आ रही हूँ और आज भी देख रही हूँ।

राज्यश्री—मेरा व्यक्तिगत दु:ख तो अलग बात है, अलका, वह तो

सदा ही मेरे हृदय को आच्छादित किये रहता है। इतना ही नही, जब जब मैं प्राणेश्वर के सिंहासन पर पैर रखती हूँ तब-तब वह और भी अधिक जाग्रत हो उठता है, जान पडता है, इस जन्म मे वह कभी भी विस्मृत न होगा, परन्तु, उसके अतिरिक्त आज तो एक दूसरी ही अशान्ति और निराशा चित्त को व्यथित किये हुए है।

अलका—वह क्या, सम्राज्ञी ?

राज्यश्री—वह यह, अलका, कि शिलादित्य और मैं ठीक मार्ग से अपने कर्तव्यो का पालन कर रहे है या नही।

अलका—इस पर तो विचार करना ही निरर्थक है, परमभट्टारिका। सारा आर्यावर्त आज एक स्वर से कह रहा है कि आप भगिनी-भ्राता का यह सयुक्त-राज्य-सचालन सभी दृष्टियो से प्रजा के लिए हितकर हुआ है। सत्ता का प्रधान कार्य जो प्रजा मे सुख-सम्पत्ति की वृद्धि है, वह हर प्रकार से हुई है। कृषि, व्यापार और कला-कौशल की आशातीत उन्नति के कारण प्रजा मे अतुल धन बढा है। प्रजा-जनो के कष्टो की सुनवायी के लिए पूर्ण व्यवस्था है। प्रजा मे शिक्षा का महान् प्रचार हुआ है। उन्हे औषधोपचार के हर प्रकार के साधन उपलब्ध है। यात्रा एव यात्रा के समय मार्ग मे उन्हे सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त है।

राज्यश्री—यह सब तो हुआ है, अलका, परन्तु यह सारा कार्य उस पल्लवित और पुष्पित वृक्ष के सदृश है, जिसकी जड पृथ्वी के भीतर गहरी न जाकर किसी चट्टान पर हो। हाल ही मे मौर्य और गुप्त-साम्राज्य में भी यह सब हुआ था। वह कितने दिनो तक टिका ? शिलादित्य की सम्मति के अनुसार मैंने सिंहासन ग्रहण करने के दिन घोषणा की थी कि यह राज्य समस्त भारतवर्ष मे एक धर्म, एक भाषा और एक-से सामाजिक सगठन पर सारे देश मे एक राष्ट्र की स्थापना का उद्योग करेगा, जिससे इस देश

का साम्राज्य चिरस्थायी रह सके। यद्यपि सारा आर्यावर्त अब एक साम्राज्य के अन्तर्गत है, परन्तु एक राष्ट्र का निर्माण मुझे अभी भी उतनी ही दूरी पर दिखता है जितना आज के अट्ठाइस वर्ष पूर्व था।

अलका—(कुछ सोचते हुए) यह तो सत्य जान पडता है, महाराज्ञी। परन्तु, इसका क्या कारण है?

राज्यश्री—मुख्य कारण एक ही है।

अलका—वह क्या?

राज्यश्री—शिलादित्य और मुझे जो आशा थी कि साम्राज्य मे बराबरी के अधिकार देने से समस्त देश के नरपतिगण उसमे स्वेच्छापूर्वक सम्मिलित होने के लिए आगे बढेगे, वह आशा पूर्ण न हुई। अत शिलादित्य के पहले छ वर्ष तथा उसके पश्चात् का भी बहुत-सा समय युद्ध तथा विप्लवो की शान्ति एव अन्य राज्य-काज के पचडो मे ही बीता। फिर जो नरपति साम्राज्य के अन्तर्गत आये है उनकी दृष्टि भी इस ओर न होकर अपना-अपना बल बढाने की ओर ही है।

अलका—(कुछ ठहरते और विचारते हुए) तो जो व्यक्तिगत स्वार्थ हरएक महान् कार्य के मार्ग मे बाधक होता है वही आपके और महाराजाधिराज के शुभ सकल्पो मे भी बाधक हो रहा है।

राज्यश्री—हाँ, अलका। वही व्यक्तिगत स्वार्थ, अनेक बार आज का-सा विचार मेरे मन मे उठता था, प्रत्येक युग के अन्त मे, जब मै युग भर के कार्यों का सिंहावलोकन करती थी, तब यह विचार और भी प्रबल हो जाता था, परन्तु अभी तक मुझे युद्ध समाप्त होने की आशा थी। युद्धो की समाप्ति होते ही हम दोनो इसी एक कार्य मे लग जायँगे इसका भी विश्वास था। अभी वल्लभी की विजय के पश्चात् यह विश्वास और भी

दृढ हो गया था, परन्तु आज, जब से दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निर्णय हुआ है, तब से तो मै बहुत ही अशान्त और निराश हो गयी हूँ।

[नेपथ्य में दूरी पर गायन की ध्वनि सुन पड़ती है, परन्तु गायन दूरी पर होने के कारण समझ में नहीं आता।]

राज्यश्री—जयमाला गा रही है, अलका।

अलका—हाँ, सम्राज्ञी, आप उसे भी इस विद्या मे दक्ष बना रही है।

राज्यश्री—(कुछ ठहरकर) अलका, मनुष्य के हृदय मे सन्तान की कितनी इच्छा होती है, ज्यो-ज्यो उसकी अवस्था बढती जाती है त्यो-त्यो बाल-लीला देखने का, उसके हृदय मे कितना चाव होता जाता है। विवाह न कर यौवन-सुखो के समस्त भोगो की तिलाजलि देने पर भी, आठो पहर और चौंसठो घडी प्रजा की सेवा मे दत्तचित्त रहने पर भी, शिलादित्य इस सुख से वचित रहने का साहस न कर सके। यदि वे स्वय विवाह कर सन्तान का सुख देखने मे असमर्थ रहे तो उन्होने परायी पुत्री को ही अपनी पुत्री मान कर इस अपूर्व सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

अलका—(कुछ ठहरकर सोचते हुए) क्यो, सम्राज्ञी, परमभट्टारक को सन्तान न होने के कारण क्या अब किसी प्रकार का दुख रहता है?

[शनैः शनै. अब गायन की ध्वनि समीप आने लगती है।]

राज्यश्री—(कुछ सोचते हुए) यह कहना तो कठिन है, अलका, क्योकि इस सम्बन्ध मे वे कभी कोई बात ही नही करते, परन्तु उनका हृदय इतना महान् है कि उसमे कदाचित् अपने-पराये का भेद-भाव ही नही है। जय-

माला पर उनका उतना ही प्रेम है जितना अपनी निज की पुत्री पर हो सकता है।

[अब गायन की ध्वनि और भी समीप आती है।]

अलका—और आपका हृदय क्या कम महान् है, सम्राज्ञी ? आप भी तो जयमाला पर उतना ही स्नेह करती हैं जितना परमभट्टारक।

[जयमाला का प्रवेश। वह लगभग १२ वर्ष की अत्यन्त सुन्दर, गौर वर्ण की बालिका है। रुपहरी कामवाली कौशेय की रेशमी साडी पहने है, तथा उसी प्रकार का वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। श्वेत हीरे से जड़े हुए आभूषणो से उसके अंग-प्रत्यंग देदीप्यमान हैं। जयमाला गा रही है।]

कितना द्रव्य दिया भगवान ?
तुमने तो देने मे रक्खा कभी न मितव्ययिता का ध्यान ॥
नित्य प्रात मे कोसों तक तुम फैला देते कांचन-पत्र।
शुक्ल-शर्वरी-मध्य सतत ही छिटकाते चाँदी सर्वत्र ॥
निशा मे नित अगणित हीरक,
दमकते द्यौ मे चमक-चमक,
पयोधो से पन्ना-मानक,
चमकते नभ में दमक-दमक,
तृष्णा का तब भी अवसान,
मानव-मन से हुआ न तो तुम कर सकते क्या कृपानिधान ?
कितना द्रव्य दिया भगवान ?

सोने-चाँदी के निर्जीव—
टुकड़े औ' कङ्कड़-पत्थर के संग्रह से जग व्यग्र अतीव;

निर्धन तथा महा धनवान,
गुणी तथा सम्राट् महान,
इसी कार्य मे लगे हुए हैं धर्म-कर्म इसको ही मान।
लूटमार जो करते उसको नीति-युक्त कहते हा ! ज्ञान ॥
कितना द्रव्य दिया भगवान ?

राज्यश्री—(रूखी मुस्कराहट से) जयमाला, आज तो तूने सचमुच गायन को इस प्रकार गाया जैसे तू गान-विद्या मे पण्डिता हो गयी है। (उसके मुख को ध्यानपूर्वक देखकर) पर, यह तो बता, इतनी गम्भीर क्यो है ?

[जयमाला खिलखिलाकर हँस पडती और दौडकर राज्यश्री से लिपट जाती है।]

राज्यश्री—(उसका दृढ़ आलिगन कर उसे अपने अत्यन्त सन्निकट शयन पर बिठाते हुए कुछ ठहरकर) हाँ, तो तूने बताया नही कि तू इतनी गम्भीर क्यो थी ?

जयमाला—तुम्हारा यह गायन ही ऐसा है, सम्राज्ञी, कि यह किसी को भी गभीर बना देगा। बिना गभीर हुए यह गाया ही नही जा सकता।

राज्यश्री—तो तू इस गायन का अर्थ भलीभाँति समझती है ?

जयमाला—बिना समझे कोई गम्भीर होकर गा सकता है ?

राज्यश्री—(कुछ ठहरकर फिर रूखी मुस्कराहट के साथ) किन्तु, जयमाला, इस गायन को समझने और गम्भीरतापूर्वक गाने पर भी तो तू स्वय सोने-चाँदी के निर्जीव टुकडो और ककड-पत्थरो से अपने को सजाये हुए है।

[हर्ष का प्रवेश। उनकी अवस्था अब ४५ वर्ष की है। उनका शरीर

लगभग उसी प्रकार का है जैसा पहले था, परन्तु मूँछें अब बड़ी हो गयी हैं। यद्यपि उनके मुख पर राज्यश्री के सदृश झुर्रियाँ नहीं हैं, तथापि मस्तक पर रेखाएँ पड़ गयी हैं। केश अभी भी काले हैं और अवस्था राज्यश्री से अधिक होने पर भी उससे कम दिख पड़ती है। वेश-भूषा पहले के समान ही है। हर्ष को देखते ही राज्यश्री, जयमाला और अलका तीनो खड़ी हो जाती हैं। जयमाला हर्ष से लिपट जाती है तथा हर्ष, राज्यश्री एवं जयमाला शयन पर बैठते हैं और अलका आसंदी पर।]

हर्ष—कह, जयमाला, अब तेरी गान-विद्या का क्या हाल है?

जयमाला—यह सम्राज्ञी से पूछिए, पिताजी।

राज्यश्री—यह तो अब मुझसे भी अच्छा गाने लगी है।

जयमाला—इनकी बाते! इनकी बात न मानिएगा, पिताजी।

हर्ष—पर, अभी तूने ही कहा था न कि सम्राज्ञी से पूछो।

जयमाला—पर, मै यह थोडे ही जानती थी कि सम्राज्ञी भी झूठ बोलेगी।

[हर्ष और अलका हँस देते है। राज्यश्री के मुख पर भी रूखी मुस्कराहट दिख पड़ती है।]

हर्ष—(राज्यश्री के मुख को ध्यानपूर्वक देखते हुए) और, राज्यश्री, तुम इतनी उदास क्यो दिखायी पडती हो, स्वास्थ्य तो अच्छा है?

राज्यश्री—हाँ, हाँ, स्वास्थ्य अच्छा है।

हर्ष—फिर इतनी उदास क्यो? आज तो तुम्हारे राज्याभिषेक के सातवे युग की समाप्ति का उत्सव है। सारा आर्यावर्त हर्ष से हिलोरे

ले रहा है। तुम्हारा मन तुम्हारे दु ख से तो व्यथित रहता ही है, यह मै, जानता हूँ, तभी तो देखो न, इस तेतालीस वर्ष की अवस्था मे ही, तुम वृद्धा के समान हो गयी हो, परन्तु दूसरे के सुख मे प्रसन्न रहने का भी तो तुम निरन्तर प्रयत्न करती हो।

राज्यश्री—आज मै अपने व्यक्तिगत दु ख से दुखित नही हूँ, शिलादित्य।

हर्ष—फिर?

राज्यश्री—वही पुराना एक राष्ट्र की स्थापनावाला प्रश्न व्यथित कर रहा है।

हर्ष—(लम्बी साँस लेकर) ओह!

राज्यश्री—अव, शिलादित्य, मै इस सम्वन्ध मे निराश हो चली हूँ।

हर्ष—यह क्यो?

राज्यश्री—इन नित्यप्रति के युद्धो के कारण कदाचित् हमे उसके लिए यथेष्ट प्रयत्न करने का समय ही न मिलेगा।

हर्ष—तुम जानती ही हो कि व्यर्थ के रक्तपात का मै भी विरोधी हूँ, परन्तु क्या किया जाय, विवशता है।

राज्यश्री—परन्तु यदि दक्षिण पर आक्रमण न कर हम लोग पहले केवल आर्यावर्त मे ही एक राष्ट्र के सगठन का प्रयत्न करे तो क्या उचित न होगा?

हर्ष—मै भी इस विषय को सोचता रहा हूँ और तुम जानती हो कि दक्षिण पर आक्रमण करने का विचार भी मैने वहुत दिनो तक स्थगित रखा, परन्तु पुलकेशिन का मालव, गुर्जर और कलिंग पर आक्रमण तो

दक्षिण के इस आक्रमण को अनिवार्य कर देता है। यदि हम दक्षिण पर आक्रमण न करेंगे तो कदाचित् उनका आक्रमण हम पर हो जाय। इसलिए एकाएक मैंने यह निर्णय किया है।

राज्यश्री—(लम्बी साँस लेकर) तब कदाचित् एक राष्ट्र के निर्माण का कार्य हमारे हाथ से होना ही नही है।

हर्ष—(कुछ ठहरकर सोचते हुए) राज्यश्री, मै बडा आशावादी मनुष्य हूँ। यद्यपि गत अट्ठाइस वर्षों मे हम इस कार्य को यथेष्ट रूप मे नहीं कर सके है, परन्तु अभी भी मेरे हृदय मे इसीका सबसे प्रधान स्थान है। अब तक जो कार्य हुआ है वह भी एक प्रकार से इस कार्य मे सहायक ही होगा। बिना आर्यावर्त मे एक साम्राज्य की स्थापना के यह कार्य होता भी कैसे ? विशेष कर शिक्षा के प्रचार मे जो वृद्धि हुई है, तथा शिक्षा जिस प्रणाली से दी जा रही है, उससे भावी सन्तति इसी विचार के अनुकूल बनेगी। फिर इस दशा मे कुछ भी कार्य नही हो रहा है, यह बात भी नहीं है। अब दक्षिण भारत के भी साम्राज्य मे सम्मिलित होने पर इस कार्य के लिए और अधिक साधन हो जायँगे। मै आशा करता हूँ कि दक्षिण के युद्ध से निवृत्त हो हम इस कार्य को पूर्ण रूप से हाथ मे ले सकेंगे।

[जयमाला जो अब तक चुपचाप एक-एक कर अपने सब आभूषण उतार रही थी एकाएक सबको पृथ्वी पर फेंक देती है। उसके शब्द से सब चौंक पड़ते है।]

हर्ष—(फेंके हुए आभूषणो को देखते हुए) यह क्या हुआ?

राज्यश्री—(कुछ ठहरकर उसी प्रकार मुस्कराते हुए) कुछ नही, मैंने यो ही हँसी मे कुछ कह दिया था, इसीलिए ये आभूषण फेंके गये है।

हर्ष—(जयमाला से) क्यो, जयमाला, सम्राज्ञी से अप्रसन्न हो गयी हो?

जयमाला—सम्राज्ञी से अप्रसन्न ! वाह, पिताजी, वे तो मुझ पर आपसे भी अधिक प्रेम करती है, परन्तु अब मै सोने-चाँदी के निर्जीव टुकडो और ककड-पत्थरो से अपने को नही सजाऊँगी।

[नेपथ्य में पच महावाद्य बजते हैं। इन्हे सुनकर चारो हाथ बाँध कर खडे हो जाते हैं।]

हर्ष—(वाद्य बन्द होने पर) अलका, जयमाला पागल हो गयी है। इन आभूषणो को उठा लो। इसे समझाना पडेगा तब यह समझेगी।

राज्यश्री—सायकाल के पच महावाद्य बज चुके। शरत्काल का समय है। शीत बढ रही है। हम लोग कक्ष मे न चले ?

राज्यश्री—हॉ, हॉ, चलो।

[हर्ष, राज्यश्री और जयमाला तीनो का प्रस्थान। अलका आभूषण उठाकर जाती है, उसके पीछे-पीछे दासी भी। दासी दो दासियो के संग, जिनकी वेश-भूषा उसीके समान है, पुन. लौटकर आती है। दो दासियॉ शयन तथा एक आसदी को उठाकर ले जाती हैं। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—माधवगुप्त के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष की बनावट वैसी ही है जैसी पहले अक के पहले दृश्य के कक्ष की थी। तीनो भित्तियो में दो-दो द्वार है, जो अन्य कक्षो में खुलते है और

इनसे अन्य कक्षो के थोड़े-थोड़े भाग दिखायी देते है। कक्ष की छत, भित्तियो आदि का रंग पहले अंक के कक्ष से भिन्न है। कक्ष में अनेक काष्ठ की आसंदियाँ रखी हैं जिन पर गद्दे तकिये लगे है। बाँयी ओर की भित्ति के निकट रखी हुई एक आसंदी पर, हर्ष का एक बड़ा-सा चित्र रखा है। चित्र पर पुष्पहार चढ़ा हुआ है। दाहनी ओर की भित्ति के निकट चित्र की ओर मुख किये हुए आदित्यसेन खड़ा है। आदित्यसेन की अवस्था लगभग २० वर्ष की है। वह गौर वर्ण तथा गठीले शरीर का ऊँचा-पूरा सुन्दर युवक है। श्वेत रंग और सुनहरी किनार के उत्तरीय और अधोवस्त्र एवं रत्नजटित आभूषण धारण किये है। रेख निकल रही है और सिर पर लम्बे केश हैं। मुख पर तेज और नेत्रो में कान्ति है। उसके हाथो में धनुष है, जिस पर बाण चढ़ा है। वह चित्र पर बाण चलानेवाला है। अतः चित्र की ओर एकटक देख रहा है। बाँयी ओर के द्वार से शैलबाला का प्रवेश। शैलबाला की अवस्था ४५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण की, शरीर में कुछ स्थूल, सुन्दर स्त्री है। कौशेय की रंगीन साड़ी पहने है और वैसा ही वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। आभूषण रत्नजटित है।]

शैलबाला—(आदित्यसेन को बाण चलाने पर उद्यत देख शीघ्रता से आगे बढ़ते हुए) है! है! आदित्य, यह क्या करनेवाला है, यह क्या करनेवाला है? तेरी उद्दण्डता तो नित्यप्रति बढती ही जाती है।

आदित्यसेन—(धनुष की ज्या को ढीला करते हुए) कहाँ तक क्रोध को रोकूँ, माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ? पिताजी की दासत्व-प्रवृत्ति तो सीमा लाँघ रही है। अपने पूर्वजो की सारी प्रतिष्ठा, सारी मान-मर्यादा को एक ओर रख गुप्तो के कट्टर शत्रु हर्षवर्द्धन की मित्रता के नाम पर वे वर्द्धनो के केवल आश्रित बने हैं, इतना ही नही, पर अब तो उन्होने हर्ष का

प्रतिमा-पूजन भी आरम्भ किया है। कहाँ तक क्रोध को रोकूँ, माँ, कहाँ तक क्रोध को रोकूँ ?

शैलबाला—(आगे बढ़कर आदित्यसेन से धनुष लेते हुए) पर, बेटा, यह पुष्प-माला तो इस चित्र पर तेरे पिता ने नही, मैंने चढायी है। परम-भट्टारक के गुण ही ऐसे है कि उनका पूजन करने को हृदय आपसे-आप उत्कठित हो उठता है।

आदित्यसेन—(घृणा से हँसकर) माँ, तेरे हृदय मे भी ऐसी भावनाओ की उत्पत्ति दासत्व-वृत्ति की जीती-जागती मूर्ति है, गुप्त-वश के अध पतन की चरम सीमा है। नरो के पतन को रोकने की क्षमता नारियाँ ही रखती है, परन्तु यदि उनका भी पतन हो जाय तब तो उत्थान की सम्भावना ही नही रह जाती। माँ, मेरे बाल्यकाल मे तो तेरे हृदय मे ऐसी भावनाएँ न थी। मेरे सामने परमभट्टारक, महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, परमभट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कीर्ति के न जाने कितने गीत तू गाया करती थी, उनके यश से भरी न जाने कितनी गाथाएँ तू सुनाया करती थी, अब क्या तेरे हृदय पर भी पिताजी के सदृश दासता का साम्राज्य हो गया है ?

शैलबाला—तू तो आज बहुत उत्तेजित हो रहा है, बेटा, चल, बैठ तो। क्या तू यह समझता है कि परम प्रतापी गुप्त-सम्राटो के प्रति अब मेरी भक्ति नही रह गयी है ?

[दोनो आसदियो पर बैठ जाते है। आदित्यसेन अपने धनुष पर के चढे हुए बाण को उतार कर तरकश में रख धनुष आसंदी से टिकाकर रख देता है।]

आदित्यसेन—कहाँ रह गयी है ? मुझे तो वह लवशेषमात्र भी नही

दिखायी देती। यदि पूर्वजो के प्रति तेरी भक्ति होती तो तू हर्ष के चित्र पर पुष्प-माला चढा सकती थी, जिसके पिता ने हमारे पूर्वजो को परास्त किया, जिसके भाई राजवर्द्धन ने हमारे पितृव्य मालवेश देवगुप्त का वध किया, जिस राजवर्द्धन के कारण हमारे पितृव्य कुमारगुप्त का वध हुआ, जिस हर्ष ने हमारे पितृव्य गौडेश शशाक नरेन्द्रगुप्त को अपना माण्डलीक और पूज्य पिताजी को अपना दास बना रखा है।

शैलबाला—(आदित्यसेन की पीठ को थपथपाते हुए) बेटा, युवावस्था की उत्तेजना के कारण ही तू मुझसे ऐसी बात कह रहा है। मेरे कक्ष मे, तुझे पूज्यपाद परमभट्टारक महाराजाधिराज समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के चित्रो पर भी इसी प्रकार की पुष्प-मालाएँ चढी हुई नही दिखती क्या ? आज परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन का चित्र बन कर आया, मैने इस पर भी माला चढा दी। हमारे पूर्वज महापुरुष थे और परमभट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन भी, चाहे इन्होने हमारे कुल के कुछ आततायियो को दण्ड दिया हो, महापुरुष हैं। मैंने उनके साथ ही, इनका भी पूजन कर दिया तो बुरी बात क्या हुई ?

आदित्यसेन—आह ! माँ, आह ! माँ, यही तो तू समझती नही, यही तो तू समझती नही ।

शैलबाला—क्या नही समझती ?

आदित्यसेन—मै तुझे कदाचित् पूर्णरूप से समझा न सकूँ, पर स्वय समझ सकता हूँ।

शैलबाला—क्या समझ सकता है ?

आदित्यसेन—कई बार तुझसे कहा होगा और फिर कहता हूँ—हर्षवर्द्धन का क्रीतदास! किसी महान् वश मे जन्म लेकर, महापुरुषो की सन्तति होकर अन्य की सेवा से अधिक निकृष्ट कार्य कदाचित् और कोई नही है। फिर वे अन्य भी कैसे? जिनसे हमारे वश का नाश तथा हमारी कीर्ति का ह्रास हुआ है और इस वश-नाश एव कीर्ति-ह्रास मे पिताजी का पूर्ण सहयोग होते हुए भी वर्द्धनो के प्रधान कर्मचारीगण उन्हे अविश्वास की दृष्टि से देखते है। परम प्रतापी गुप्त-वश के वशजो की यह अवनति, अध पतन की पराकाष्ठा है। (**पुनः अपना धनुष सँभालते हुए**) माँ, हमारा उत्थान इन वर्द्धनो के पतन पर अवलम्बित है। हमारा उत्कर्ष हर्षवर्द्धन की सेवा से सम्भव नही, परन्तु उसके नाश से ही हो सकता है। पिताजी ने यह सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, अपने शत्रुओ की सेवा-वृत्ति ग्रहण कर, जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त मै करूँगा। (**खडे होकर बाँयें हाथ में धनुष लिए तथा दाहना हाथ शैलबाला के पैरो पर रख**) माँ, तेरे चरणो की शपथ कर, तेरा यह पुत्र आदित्यसेन, आज यह प्रतिज्ञा करता है कि वर्द्धन-सत्ता का अत कर मै फिर आर्यावर्त मे गुप्त-साम्राज्य की स्थापना ।

शैलबाला—(**बीच ही में शीघ्रता से**) बेटा, बेटा, तू क्या कहता है? यदि तेरे पिता आ गये और उन्होने सुन लिया तो फिर कलह ।

[माधवगुप्त का प्रवेश। उसकी अवस्था अब ५० वर्ष की है। यद्यपि उसका शरीर और वेश-भूषा वैसी ही है, तथापि दाढ़ी के कारण मुख में परिवर्तन दिखायी देता है। सिर और दाढ़ी-मूँछों के बाल कही-कहीं श्वेत हो गये है। मस्तक पर रेखाएँ और नेत्रो के दोनों कोनो पर कुछ झुर्रियाँ दिखायी देती है। माधवगुप्त को देखते ही आदित्यसेन चुप हो जाता है। शैलबाला घबड़ाकर खड़ी हो जाती है।]

माधवगुप्त—मेरे पाप का प्रायश्चित्त करेगा, गुप्त-वश का यह सुपूत

अपने कुपूत पिता के पाप का प्रायश्चित्त करेगा; आज तो तूने उद्दण्डता की पराकाष्ठा ही कर दी आदित्य।

[माधवगुप्त गम्भीर मुद्रा से उपर्युक्त वाक्य कह, एक आसंदी पर बैठ जाता है। शैलबाला अपना सिर झुका लेती है। आदित्यसेन उसी प्रकार खड़ा रहता है। कक्ष में कुछ देर को सन्नाटा छाया रहता है।]

माधवगुप्त—(आदित्यसेन से) बेटा, बैठ जा और चौथेपन को प्राप्त होनेवाले अपने पिता की आज अन्तिम बार कुछ स्पष्ट बाते सुन ले। शैलबाला, तुम भी बैठ जाओ।

[बिना एक शब्द भी कहे आदित्यसेन और शैलबाला एक-एक आसंदी पर बैठ जाते है। फिर कुछ देर तक निस्तब्धता छा जाती है।]

माधवगुप्त—(एक लम्बी साँस लेकर) बेटा, यद्यपि इसके पूर्व भी इस विषय पर तेरा और मेरा कई बार वाद-विवाद हो चुका है, पर आज मैं तुझे इस विषय को दार्शनिक दृष्टि से समझाना चाहता हूँ।

आदित्यसेन—जो आज्ञा, पिताजी।

माधवगुप्त—देख बेटा, एक ही वाक्य मे कह देता हूँ—अपने कुल का गर्व, अपने बान्धवो से सहानुभूति बुरी बाते नही है, परन्तु इन भावनाओ के कारण यदि अन्य कुलो से ईर्षा की उत्पत्ति हो और इस ईर्षा से अन्धे होने के कारण यदि अन्यो के न्याययुक्त कार्य भी अन्यायपूर्ण दिखे तो यह कुल-गर्व एवं बान्धव-सहानुभूति न अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है और न किसी दूसरे के लिए।

[आदित्यसेन घृणा से मुस्करा देता है।]

माधवगुप्त—(आदित्यसेन की मुस्कराहट को ध्यानपूर्वक देखकर)

जान पडता है, वर्द्धनो के प्रति ईर्षा का तेरे हृदय पर ऐसा प्रभाव हो गया है, कि किसी निष्पक्ष बात को भी तू सुनने के लिए तैयार नही है।

आदित्यसेन—स्पष्टवादिता के लिए क्षमा कीजिए पिताजी, परन्तु स्पष्ट तो मै कहूँगा ही।

माधवगुप्त—अवश्य।

आदित्यसेन—इस निष्पक्षता की दुहाई आज ही आपने दी हो यह नही, आप सदा ही इसकी दुहाई दिया करते है। आज मै यह जानना चाहता हूँ कि हर्ष के पिता ने किस निष्पक्षता के सिद्धान्तानुसार आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण कर उन्हे माण्डलीक बनाया था? किस निष्पक्षता के सिद्धान्त पर उन्होने आपको और पितृव्य कुमारगुप्त को यहाँ लाकर दासत्व की इन शृखलाओ मे जकडा था?

माधवगुप्त—परन्तु, इसके लिए हर्षवर्द्धन उत्तरदाता नही है।

आदित्यसेन—वे चाहे उत्तरदाता न हो, पर वर्द्धन-वश अवश्य उत्तरदाता है, जिसके वे उत्तराधिकारी है।

माधवगुप्त—पर, इस प्रकार तो गुप्त-वश ने भी अनेक राज्यो पर आक्रमण किया था, अनेको को पराजित कर माण्डलीक बनाया था, यदि वर्द्धन-वश का यह कार्य अनुचित है तो गुप्त-वश का भी था।

आदित्यसेन—मै इसके औचित्य और अनौचित्य की चर्चा नही कर रहा हूँ, मै तो केवल यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि निष्पक्षता की दृष्टि से ससार मे कोई बात देखी ही नही जा सकती। आपकी कृपा से इस छोटी-सी अवस्था मे भी मुझे भूत और वर्तमान, दोनो का, यथेष्ट अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और, मै तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह ससार बुद्धिमानो और बलवानो के लिए है। जिनमे बुद्धि है,

जिनमें वल है, वे दूसरो पर अत्याचार कर सकते है, उनका अत्याचार, पक्षपात तथा स्वार्थपूर्ण होते हुए भी ससार न्यायपूर्ण मानता है। पिताजी, मै तो इस ससार मे महत्त्वाकाक्षा से अधिक महत्त्वशाली और सफलता से अधिक सफल वस्तु और कोई है, यह मानता ही नही । महत्त्वाकाक्षा से भरा हुआ व्यक्ति जीवन-सग्राम मे जव सफलता प्राप्त कर लेता है तव वह महापुरुष-पद को प्राप्त करता है। ससार उसी का अनुसरण करता है, और चाहे इने-गिने व्यक्ति उसे बुरा कहे, पर जन-समुदाय, उसीका पूजन करता है। सारे ससार के इतिहास मे जिन्हे महापुरुष-पद-प्राप्त है वे सव इसी कोटि के है । निष्पक्षता और निस्वार्थता ढकोसला है—विडम्वना है ।

माधवगुप्त—और इसी महत्त्वाकाक्षा के वशीभूत होकर वर्द्धन-सत्ता को उलटने मे सफलता प्राप्त करना तेरा अन्तिम निर्णय है ?

आदित्यसेन—(दृढता से) सर्वथा अन्तिम !

शैलवाला—(घवडाकर) वेटा, वेटा ।

माधवगुप्त—(बीच ही में) हर्षवर्द्धन की निस्वार्थ प्रजा-सेवा, उनसे तेरे पिता की मैत्री, ये वाते भी तेरे इस निर्णय मे कोई वाधा नही पहुँचाती ?

आदित्यसेन—(और भी दृढ़ता से) लेशमात्र भी नही, पिताजी ।

शैलवाला—(और भी घवडाहट से) ओह ! ओह !

माधवगुप्त—तू जानता है कि ऐसी परिस्थिति मे मेरा क्या कर्तव्य हो जाता है।

आदित्यसेन—(घृणा भरे स्वर में) वहुत काल से जानता हूँ। वर्द्धनो की दासता ने आपको अपने वन्धु शशाक नरेन्द्रगुप्त की स्वाधीनता हरण

करने के लिए वाध्य किया, वही पुत्र की स्वाधीनता हरण करने के लिए वाध्य करेगी।

माधवगुप्त—(उत्तेजना भरे स्वर में) वर्द्धनो की दासता नही, कदापि नही। हर्षवर्द्धन का साथ देने के लिए मेरी अन्तरात्मा मुझे प्रोत्साहन देती है, हर्षवर्द्धन की न्यायपरायणता एव उनके सच्चे स्नेह तथा शशाक नरेन्द्रगुप्त के अत्याचार एव उसके विश्वासघात के कारण। तेरी स्वतत्रता का यदि अपहरण होगा तो उसका कारण होगा तेरी उद्दण्डता और वार-वार मेरी सम्मति की उपेक्षा।

आदित्यसेन—(अत्यन्त दृढ़ता से) मै इसके लिए तैयार हूँ, पिताजी।

शैलबाला—(बहुत ही घबड़ाकर खड़े होते हुए) यह क्या, यह क्या हो रहा है? (माधवगुप्त की ओर देखकर गिडगिडाते हुए) क्या कह रहे है, नाथ, आप! (आदित्यसेन की ओर देख, गिडगिडाते हुए) और क्या कहता है, वेटा, तू! पिता पुत्र की स्वतत्रता का अपहरण करेगा और पुत्र, पिता की आज्ञा का उल्लघन!

आदित्यसेन—(रूखे स्वर में) यह कर्तव्य-क्षेत्र है, माँ, जिसे पिताजी अपना कर्तव्य समझते है उसे वे, और जिसे मै अपना कर्तव्य समझता हूँ, उसे मै करूँगा।

शैलबाला—(जल्दी-जल्दी) यह कैसा कर्तव्य-क्षेत्र है? कर्तव्य-क्षेत्र मे क्या हृदय को कोई स्थान नही है। क्या यह क्षेत्र हृदयहीनता से ही भरा हुआ है? (माधवगुप्त से) नाथ, क्या पुत्र के लिए पिता के हृदय मे माता के हृदय का-सा स्नेह नही रहता? आदित्य की वाल्यावस्था मे तो यह नही जान पडता था। उस समय तो, नाथ, इसकी एक-एक मुस्कान पर, इसकी एक-एक वाल-क्रीडा पर आप सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते थे।

क्या इसके युवा होते ही वह सारा स्नेह कर्पूर हो गया ! आजकल तो नित्यप्रति इसी प्रकार का कोई न कोई प्रसग उपस्थित रहता है। आपका पुत्र, आपके प्राणो से प्यारा पुत्र आपके द्वारा ही बन्दी बनाया जावे, आपके द्वारा ही परतत्र किया जावे, पिता पुत्र को कारावास भिजवावे, यह सब क्या है, यह सब क्या है, नाथ !

[शैलबाला मूर्च्छित होकर गिरने लगती है। माधवगुप्त दौड़कर उसे सँभालता है। आदित्यसेन घृणापूर्ण दृष्टि से माधवगुप्त की ओर देखता है। माधवगुप्त ऐसी दृष्टि से, जिसमें किसी प्रकार का भाव नही है, पहले आदित्यसेन की ओर, फिर तत्काल उसे हटा कर सामने की ओर देखने लगता और एक लम्बी साँस छोड़ता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—कर्णसुवर्ण मे शशाक नरेन्द्रगुप्त के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[वही दालान है जो दूसरे अंक के पहले दृश्य में थी। शशाक का शीघ्रता से प्रवेश। उसकी अवस्था अब ६५ वर्ष की है। केश लगभग श्वेत हो गये है। मस्तक और नेत्रो के चारो ओर झुर्रियाँ दिखायी देती है, परन्तु, शरीर वैसा ही हृष्ट-पुष्ट है, जैसा ३० वर्ष पूर्व था। वेश-भूषा पहले के समान है। उसके पीछे-पीछे गुप्तचरो का वही अधिपति आता है, जो दूसरे अक के पहले दृश्य में आया था। उसकी अवस्था अब ६० वर्ष के ऊपर है और उसके केश भी श्वेत हो गये है। उसकी वेश-भूषा भी पहले के समान है। इन दोनो के पीछे दो दास शयन और एक आसंदी लिए हुए आते है

और इनके पीछे एक दासी हाथ में चन्दन की डंडीवाला खश का व्यजन। डंडी पर श्वेत हाथीदाँत का काम है।]

शशांक—**(उत्तेजित स्वर में)** हाँ, यहाँ कहो, यह सुख-सवाद यहाँ कहो। ग्रीष्म मे कक्ष इतना तप्त और उसके कारण रुधिर का तापमान भी इतना ऊँचा हो गया था कि यह शुभ सवाद कक्ष मे ही सुन मै उसे और ऊँचा करने का साहस न कर सकता था। सात युग, सात, युग से भी अधिक समय के पश्चात्, इतना दीर्घ काल, विचार ही विचार मे खो देने के पश्चात्, यह शुभ सवाद सुना है—हर्ष की पुलकेशिन से पराजय। शशाक उसी शरीर के रहते, उन्ही कानो से यह सवाद सुन रहा है न? मिथ्या समाचार तो नही है? कही दूसरा समाचार तो न पहुँच जायगा जो इस समाचार का खण्डन कर देगा? सत्य, पूर्ण-रूप से सत्य सवाद है न कि पुलकेशिन ने हर्ष को हरा दिया? **(समीप के रखे हुए शयन पर बैठते हुए)** कहो, कहो, मुझे ब्यौरेवार, ब्यौरेवार बताओ। हर्ष की दक्षिण की इस हार का पूरा वृत्तान्त वर्णन करो, और बैठ जाओ गुप्तचराधिपति, क्योकि वह तो बडा लम्बा वर्णन होगा न, बहुत लम्बा।

[गुप्तचरो का अधिपति आसंदी पर बैठ जाता है। शयन और आसंदी लानेवाले दास शयन और आसदी रखकर चले गये हैं। दासी शशांक पर व्यजन डुलाने लगती है।]

गुप्तचराधिपति—पूरा और ब्यौरेवार वृत्तान्त तो अभी ज्ञात नही है परमभट्टारक, परन्तु इस समाचार के सत्य होने मे सन्देह नही है कि हर्ष ने पुलकेशिन से भारी हार खायी है। साथ ही, इस समाचार का खण्डन करने के लिए अन्य समाचार अब आ-भी नही सकता, क्योकि हर्ष सेना-सहित उत्तरापथ को लौट रहे है।

शशांक—तो अब कम से कम इतना तो निश्चित है कि हर्ष को पुल-केशिन पर विजय प्राप्त नही हो सकती ?

गुप्तचराधिपति—इस युद्ध मे तो नहीं, महाराजाधिराज, यदि यही सम्भव होता तो वे दक्षिणापथ से लौटते ही क्यो ?

[शशांक चुप होकर, विचारमग्न हो जाता है। कुछ देर तक निस्तब्धता छायी रहती है ।]

शशांक—(शान्त होते हुए) देखो, गुप्तचराधिपति, मै सदा यह सोचा करता था कि मै हृदय से नही , किन्तु मस्तिष्क से शासित होता हूँ, परन्तु मै देखता हूँ कि आज के इस सवाद ने मुझे हृदय से शासित करा दिया। मुझे सबसे अधिक हर्ष इस कारण हुआ है कि आज भी आर्य-धर्म की विजय सम्भव है, अभी भी बौद्ध-धर्म की जड इस देश से उखाडी जा सकती है। हर्ष इस पराजय से निर्बल हो जायगा। कदाचित् विद्रोह (रुक जाता है, फिर शान्त होते हुए) ओह! ओह! अभी भी मेरा मस्तिष्क अपने ठीक स्थान पर नही आया दिखता।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) जय हो, परमभट्टारक, कान्यकुब्ज के जो ब्राह्मण यहाँ निवास करते है , वे श्रीमान के दर्शन करना चाहते है।

शशांक—(गुप्तचराधिपति से) अच्छा, तो तुम इस समय जा सकते हो। हर्ष की दक्षिण की पराजय का ब्यौरेवार समाचार ज्ञात होते ही मेरे सम्मुख उपस्थित करना।

गुप्तचराधिपति—(खड़े होते हुए) जो आज्ञा। (अभिवादन कर प्रस्थान।)

शशांक—(प्रतिहारी से) ब्राह्मणो को उपस्थित करो और दासो को आज्ञा दो कि यहाँ और कुछ आसदियाँ रख दे।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (अभिवादन कर प्रस्थान।)

[शशांक कुछ देर विचारमग्न बैठा रहता है। फिर एकाएक खडा हो धीरे-धीरे टहलने लगता है। कुछ ही देर में टहलने की गति तीव्र हो जाती है और इसीके साथ वह दोनो हाथो को मलने लगता है। धीरे-धीरे टहलने की गति फिर धीमी हो जाती है और वह अनेक बार दीर्घ निश्वास छोड़ता है। दास तीन आसंदियाँ लाकर रखते है। तीन ब्राह्मणों का प्रवेश। ये ब्राह्मण, राज्यश्री के अभिषेक के समय जिन पाँच ब्राह्मणो ने कान्यकुब्ज के साम्राज्य को उलट देने के लिए संगठन किया था, उन्हींमें से है। ये भी अब वृद्ध हो गये है। सबके केश श्वेत है और मुखो तथा शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी है।]

शशांक—(ब्राह्मणो का अभिवादन कर) आइए, पधारिए ब्रह्मदेव।

[शशांक शयन पर और तीनो ब्राह्मण शशांक को आशीर्वाद दे तीनों आसंदियो पर बैठते है।]

एक ब्राह्मण—परमभट्टारक, आज हम लोग आपसे अपने देश को लौटने की आज्ञा लेने आये हैं।

शशांक—यह क्यो, देव, क्या मेरा कोई अपराध हो गया है?

पहला—नही, परमभट्टारक, परन्तु हम लोग जिस कार्य के लिए यहाँ आये थे, और जिस कार्य के लिए हम लोगो ने यहाँ इतने दीर्घ काल तक निवास किया, उसकी सफलता की अब कोई आशा नही है। इस चौथेपन मे, अब हम लोग काशीवास करना चाहते है। हमारा इहलोक विगड ही गया, परमभट्टारक, धर्म की हमारे द्वारा कोई सेवा न हो सकी, हम मे से दो के

प्राण भी यही गये और उनका परलोक भी विगडा। अब हम तीनों काशी-वास कर, भगवती भागीरथी के तट पर ही शरीर छोडना चहाते है, नही तो हमारा भी परलोक विगडेगा।

शशांक—आप जानते है, आर्य, कि आपके और मेरे जीवन के उद्देश में कोई अन्तर नही है। जिस धर्म की सेवा आप चाहते है उसीकी मै भी। यही विषय इस दीर्घ काल तक मेरी भी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहा है। परन्तु, प्रभो, मै हृदय से नही, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अव तक उस कार्य का अवसर ही नही आया था, भगवान की कृपा से जव अव अवसर आया तव आप प्रस्थान किया चाहते है।

पहला—परन्तु, यह तो आपने न जाने कितने वार कहा कि शीघ्र ही अवसर आने की सम्भावना है।

शशांक—परन्तु, अव तो सम्भावना की बात नही है, आर्य, अवसर आ ही गया।

पहला—(उत्कंठा से) किस प्रकार, महाराजाधिराज ?

शशांक—दक्षिण-युद्ध मे हर्ष की पराजय हुई है। वह हार कर ससैन्य उत्तरापथ को लौटा है। अव तक सर्वत्र उसकी जय ही सुन पडती थी, यह उसकी पहली पराजय है। नीति कहती है कि शत्रु पर निर्वलता के अवसर पर आक्रमण किया जाय। मैने आपसे कहा न कि मै हृदय से नही, मस्तिष्क से शासित होता हूँ। अव हर्ष के विरुद्ध विद्रोह का ठीक अवसर आ गया है, उसके निधन-कार्य का भी ठीक समय उपस्थित हुआ है। अव वौद्ध-धर्म के मूलोच्छेदन और आर्य-धर्म की नीव दृढ करने का समय भी आ गया है। इतने वर्षों और युगो तक जिस घडी की प्रतीक्षा की, सौभाग्य से वही अव आ गयी है। अव हमे निराश होने की

आवश्यकता ही नही है, देव। चलिए, वृद्ध पितृव्य यशोधवलदेव के पास चल, उन्हे हर्ष की पराजय का यह समाचार सुनावे और भावी कार्य-क्रम निश्चित करे। आप कान्यकुब्ज से जितने परिचित है, हम लोग नही। अत सारे कार्य-क्रम का निर्णय आपकी सम्मति से ही होगा। मै तो यह सवाद सुनते ही आपको बुलानेवाला था, पर आप आ ही गये। अब धर्म के उद्धार मे विलम्ब नही दिखता, सर्वथा नही, प्रभो। (खड़ा होता है।)

पहला—(खड़े होते हुए) धन्य हमारा भाग्य।

दूसरा—(खड़े होते हुए) अन्त मे धर्म की जय निश्चित ही है।

तीसरा—(खड़े होते हुए) इसमे कोई सन्देह है?

शशांक—हो ही नही सकता, हो ही नही सकता, आर्य।

[तीनो ब्राह्मणो के साथ शशांक का प्रस्थान। दासी दूसरी ओर जाती है और पाँच दासो के साथ पुनः आती है। दो दास शयन को और शेष तीन-तीन आसंदियो को उठाकर ले जाते है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज नगर का मुख्य चतुष्पथ

समय—सायकाल

[बीच में संगमर्मर का चबूतरा बना है और इस चबूतरे के पीछे एक, और दोनो ओर दो मार्ग है। मार्ग बहुत चौड़े नही है। तीनो ओर के मार्गों का छोर नही दिखता। मार्गो के दोनो ओर गृहो की पंक्तियाँ है। निकट के

गृहो के एक खण्ड और दूर के गृहो के दो तथा तीन खण्ड भी दिखते हैं। पीछे के मार्ग में दूरी पर आर्य और बौद्ध-मन्दिरो के शिखर दिख पड़ते है। जिन गृहो के सामने के भाग दिखायी पड़ते है, उनके नीचे के खण्ड में दूकानें है जिनमें विविध प्रकार की वस्तुएँ सजी हुई है। सारा दृश्य सन्ध्या के प्रकाश से प्रकाशित है। मार्गो पर, स्त्री-पुरुष आ-जा रहे है। कोई-कोई व्यक्ति दूकानो से कुछ खरीदने के लिए किसी-किसी दूकान पर कुछ देर को ठहर जाते है और कोई किसी दूकान के भीतर चले जाते है। कई व्यक्ति चबूतरे पर बैठे है। कुछ बैठते और कुछ बैठकर चले जाते है। इधर-उधर से अनेक प्रकार के शब्द और वाक्य सुनायी देते है। पुरुषो में प्रायः सभी श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने है, कोई-कोई केवल अधोवस्त्र। अनेक व्यक्ति आभूषण भी पहने है। स्त्रियाँ विविध प्रकार की साडियाँ पहने और उसी प्रकार के वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे है। प्राय. सभी आभूषण धारण किये है। बाँयीं ओर के मार्ग से यानचांग आता है, वह चबूतरे के निकट खडा हो जाता है। यानचांग की अवस्था लगभग ५० वर्ष की है। सिर और दाढी-मूँछो के बाल श्वेत हो चले है। वह नीली झाँईं लिए हुए लाल रग का सिला हुआ, घुटने तक लम्बा, चीनी रेशमी अंगा तथा कमर से पिडलियो से नीचा, बिना सिला, उसी प्रकार का वस्त्र (भारतीय अधोवस्त्र के सदृश) पहने है। सिर पर एक चित्र-विचित्र रग का छोटा-सा रेशमी कपड़ा बाँधे है। आभूषणो से उसका शरीर रहित है। अपने-से भिन्न उसकी वेश-भूषा देखकर अनेक व्यक्ति कौतूहलवश उसके निकट आ जाते है, इनमें से प्रायः युवक है, केवल एक वृद्ध है।]

एक महाशय—आप कहाँ से आये है ?

यानचांग—चीन देश से, बन्धु।

वही—ओहो ! आप तो हमारी भाषा अच्छी प्रकार समझ और बोल लेते है ।

यानचांग—मैने आपकी भाषा का अध्ययन किया है ।

दूसरा—आपका नाम क्या है महाशय ?

यानचांग—यानचाग ।

तीसरा—आप कदाचित् बौद्ध होगे और यहाँ यात्रा के लिए आये होगे ?

यानचांग—हाँ, मै बौद्ध हूँ, यात्रा के लिए भी आया हूँ और आपका देश देखने के लिए भी ।

चौथा—हमारा देश आपको कैसा लगता है ?

यानचांग—आपके देश का जितना भाग मैने देखा है वह तो मुझे बहुत अच्छा लगा । प्राकृतिक और कृत्रिम, दोनो ही दृष्टियो से, आपके देश का अद्भुत सौदर्य है । यदि आपके देश मे एक ओर मैने हिमालय के हिम से ढँके हुए उच्चतम शिखर, नाना वर्णो एव आकारो के विविध प्रकार की सुगन्धि से युक्त सुमनो तथा मिष्ठ स्वाद से परिपूर्ण फलो वाले वृक्षो से भरी हुई उसकी उपत्यका, अधित्यका और निर्मल, शीतल एव मधुर नीरवाला गगा का श्वेत प्रवाह आदि अगणित विशाल एव सुन्दर-तम प्राकृतिक दृष्यो के दर्शन किये है, तो दूसरी ओर मनुष्य-कृत वस्तुओं की भी महानता और मनोहरता का अवलोकन किया है । आपके देश के अनेक खण्डोवाले विपुल भवन, उनकी पाषाण तथा काष्ठ पर की शिल्प-कला, चित्रावली और अनेक प्रकार के द्रुमो और लताओ से भरे हुए रमणीय उपवन, सभी सुन्दर है । इसी प्रकार आपके समाज मे शिक्षा-द्वारा धर्म,

ज्ञान और कला का भी विशद प्रसार हुआ है तथा हो रहा है।"

चौथा—आप अभी हमारे देश मे कहाँ-कहाँ गये है ?

यानचाग—हिमालय और सिन्धु को पार कर मैंने आपके देश मे प्रवेश किया है और काश्मीर होता हुआ मै यात्रा के निमित्त सीधा यहाँ आया हूँ, क्योकि चीन मे हम लोगो ने कान्यकुब्ज की बहुत कीर्ति सुनी थी।

तीसरा—कान्यकुब्ज की तो सारी कीर्ति का श्रेय हमारी वर्तमान सम्राज्ञी, राज्यश्री और महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन को है, महाशय।

यानचाग—(सिर हिलाते हुए) अच्छा, हम लोगो ने चीन मे भी यही सुना था।

एक वृद्ध—इसमे सन्देह ही नही। आज के तीस वर्ष पूर्व इस नगर और इस देश मे क्या था, इसका मुझे स्मरण है। आज कान्यकुब्ज नगर सारे आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ नगर और यह देश सर्वश्रेष्ठ देश हो गया है। आज जो विभूति यहाँ दिखायी देती है, वह गत तीस वर्षों की इन दोनो महान् आत्माओ की तपस्या का फल है।

दूसरा—और कान्यकुब्ज नगर एव देश ही क्या सारे आर्यावर्त की इसी प्रकार .. . .।

[दाहनी ओर के एक मार्ग से एक सुंदर मालिन, इठलाती, नाचती और गाती हुई आती है। उसके बगल में फूलो की एक टोकरी दबी है और हाथ में एक लकड़ी पर पुष्प-मालाएँ। इसे देखकर सब लोग चुप होकर उसकी ओर आकृष्ट होते है और यह सम्भाषण रुक जाता है। मालिन चबूतरे के निकट आकर टोकरी चबूतरे पर रखकर खडी हो जाती है और गाती रहती है।]

लो, कुसुम मनोहर ले-लो।
हैं टूटे सकल अभी के,
हलके हैं रङ्ग सभी के,
सब ही सुरभित, वर, ले-लो॥
हैं मालाएँ मनभावन,
कंकरण-भुज-बन्ध सुहावन,
इक-इक से मृदुतर ले-लो॥
निज प्रिय के अङ्ग सजाओ,
औ' निरख-निरख सुख पाओ,
तब काम-केलि बहु खेलो॥

[अनेक व्यक्ति पुष्प-मालाऍ और पुष्पाभरण ख़रीदते है। यानचांग भी एक पुष्प-माला लेता है। कुछ क्षणो के पश्चात् मालिन पुनः अपनी टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती हुई बॉयी ओर के मार्ग से जाती है।]

यानचांग—(मालिन के जाने पर दूसरे व्यक्ति से) आप कह रहे थे न कि आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के कारण कान्यकुब्ज क्या, सारे आर्यावर्त देश की इसी प्रकार . . ।

दूसरा—हॉ, हॉ, महाशय, सारे आर्यावर्त की इसी प्रकार समृद्धि बढी है। आर्यावर्त को शासक के रूप मे, मनुष्य नही, देवता मिल गये है।

पहला—इसमे सदेन्ह नही, समस्त उत्तरापथ की प्रजा को जितना सुख है उसका वर्णन शब्दो मे नही हो सकता।

तीसरा—अरे, हमारे महाराजाधिराज ने प्रजा के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए विवाह तक नही किया।

चौथा—और दिन-रात आठो पहर चौसठो घडी उनका समय प्रजा की हितचिन्तना तथा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यो के पालन करने मे जाता है।

पाँचवाँ—कभी-कभी युद्ध हो जाते है। यदि युद्ध वन्द हो जाय और उन्हे युद्धो के लिए समय न देना पडे तथा देश मे पूर्ण शान्ति हो जावे तो न जाने प्रजा का और कितना उत्कर्ष हो सकता है।

[यानचांग अपने अंगे की जेब से एक नोटबुक निकाल कर उसपर लिखता है।]

पहला—आप क्या लिख रहे है, महाशय ?

यानचांग—जो कुछ आप लोगो ने कहा है।

पहला—इसका आप क्या करेगे ?

यानचाग—आपके देश का समस्त वृत्तान्त लिखकर मै अपने देश को ले जाऊँगा।

वृद्ध—फिर एक बात और लिखिए कि विवाह न करने पर भी हमारे महाराजाधिराज का अत्यन्त शुद्ध और निर्मल चरित्र है।

[बॉयीं ओर से 'जय, कुमारराज भास्कर वर्मन की जय' शब्द आता है और शिविका पर कुमारराज आता है। कुमारराज की अवस्था और वेश-भूषा हर्ष के समान ही है। लोग शिविका के मार्ग से हट जाते है। आगे-आगे प्रतिहारी चल रहा है, उसके पीछे आठ मनुष्य रजतमण्डित शिविका उठाए हुए है और उनके पीछे दो शरीर-रक्षक कवच पहने और आयुध लगाए हुए दाहने हाथ में शल्य लिए चल रहे है। कुमारराज का सव लोग झुक-झुककर अभिवादन करते है। कुमारराज अभिवादन का उत्तर सिर झुकाकर देता है। प्रतिहारी उसी प्रकार बोलता हुआ जाता है। पीछे-पीछे शिविका दाहने ओर के मार्ग से जाती है।]

यानचांग—(शिविका जाने पर) ये कौन है ?

पहला—कामरूप देश के राजा कुमारराज भास्कर वर्मन।

[यानचांग लिखता है।]

दूसरा—अरे, ऐसे-ऐसे पचासो राजा हमारी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के माण्डलीक है। आप कहाँ तक लिखिएगा ?

वृद्ध—नही, नही, इनका बहुत बडा महत्व है।

यानचांग—कैसे ?

वृद्ध—एक तो इनका कुटुम्ब बहुत प्राचीन है। कहते है, महाभारत-काल से इनके वश का कामरूप देश पर राज्य है। दूसरे, ये हमारे महाराजाधिराज के पहले मित्र है।

[यानचांग फिर लिखता है।]

यानचांग—(कुछ ठहरकर) एक बात मै पूँछूँ, आप लोग अप्रसन्न तो न होगे ?

पहला—नही, नही, अप्रसन्न होने की क्या बात है, आप तो हमारे अतिथि है।

दूसरा—हाँ, हाँ, आप जो कुछ पूँछेगे हम बतायँगे।

यानचांग—मैने सुना है कि आपके महाराजाधिराज अभी दक्षिण भारत के चालुक्य नरेश पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे है।

दूसरा—नही, नही, वह बात ऐसी नही है।

यानचांग—तब ?

पहला—देखिए, मै आपको बताता हूँ।

दूसरा—नही, नही, मै बताता हूँ।

पहला—(ज़ोर से) नही जी, मुझे बताने दो।

तीसरा—मै सबसे अधिक जानता हूँ।

वृद्ध—अच्छा , तुम ठहरो, मै वृद्ध हूँ, ठीक-ठीक बता दूँगा।

पहला—
दूसरा—
तीसरा— } (एक साथ ज़ोर से) नही, नही, मुझसे सुनिए, पहले मेरी सुनिए। मै आपको पक्की बात बताऊँगा, पक्की।

यानचांग—शान्त होइए, शान्त होइए, मै वृद्ध महाशय से सुनूँगा।

[सब चुप हो जाते है।]

वृद्ध—बात यह है कि वे पुलकेशिन से पराजित होकर लौटे है, ऐसी बात नही है।

यानचांग—तब ?

वृद्ध—उन्होने पुलकेशिन पर आक्रमण किया था, पर उन्हे सफलता नही मिली, बस, (कुछ ठहरकर) और इसका कारण है।

यानचांग—वह क्या ?

वृद्ध—उनके प्राचीन महाबलाधिकृत सिंहनाद अब ससार मे नही है। वर्तमान महाबलाधिकृत भण्डि इस युद्ध की ठीक व्यवस्था नही कर सके।

पहला—बराबर यही बात है, क्योकि सेना के भट तो इतनी वीरता से लडे कि ससार भर मे कही ऐसी वीरता देखना तो दूर रहा किसीने सुनी भी न होगी।

दूसरा—इसमे कोई सन्देह नही। एक भट का तो यह वृत्त सुना गया कि उसका दाहना हाथ कट गया तो उसने बॉये हाथ से ही शत्रु-पक्ष के दस भटो को मारा।

तीसरा—और एक भट का यह वृत्त सुना गया कि उसका मुण्ड कट गया तो उसके रुण्ड ने दो घडी तक युद्ध किया।

पहला—अरे, एक-दो ने नही, न जाने कितने भटो ने इस प्रकार की वीरता दिखायी।

चौथा—फिर दक्षिण पर आक्रमण करने का आयोजन किया जा रहा है। इस बार पुलकेशिन को जान पड़ेगा कि आर्यावर्त कितना शक्ति-शाली है।

[दाहनी ओर के मार्ग से मल्लो का एक समूह वाद्य बजाता हुआ आता है। सब चुप होकर उसे देखने लगते हैं। मल्लो का समूह बॉयी ओर से चला जाता है।]

यानचांग—(मल्ल-समूह के जाने पर) ये लोग कौन थे?

पहला—ये मल्ल थे।

यानचांग—ये क्या करते है?

पहला—व्यायाम और मल्ल-युद्ध।

[यानचांग फिर लिखता है। उसी समय बॉयी ओर के मार्ग से एक सुगन्धित द्रव्य बेचनेवाला गन्धी एक पिटारी लिए, गाता हुआ आता है। सबका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। गन्धी चबूतरे के निकट आकर खडा हो, अपनी पिटारी चबूतरे पर रखकर, खोलता और गाने लगता है।]

उद्यानों की सार-भूत यह मेरी मंजु पिटारी।
इसकी इक-इक, अहो! फुलेलो उपवन की इक-इक क्यारी॥
किसीमे पाटल-सत्व भरा।
किसीमे चंपक-तत्व धरा।
किसीमे जया वास करती।
किसीमे जाति दुःख हरती।
बकुल, केवड़ा, जुही, केतकी भरी हुई इसमे सारी।
जो मस्तिष्क-शिथिल, उसको यह देती सदा शक्ति न्यारी॥

[अनेक व्यक्ति सुगन्धित द्रव्य ख़रीदते है, कुछ ही देर में वह पिटारी बन्दकर, उसे उठाकर, गाता हुआ दाहनी ओर के मार्ग से जाता है।]

यानचाग—(गन्धी के जाने पर) यह कौन था ?

दूसरा—सुगन्धित द्रव्य वेचनेवाला गन्धी। हमारे कान्यकुब्ज के सुगन्धित द्रव्य सारे आर्यावर्त मे प्रसिद्ध है।

[यानचाग लिखता है।]

यानचाग—बन्धुओ, एक बात आपसे और पूँछता हूँ। आशा है, उसके कारण आप अप्रसन्न न होगे।

पहला—कदापि नही।

यानचाग—आपके राज्य मे, आपके महाराजाधिराज से आप लोगों के समान सभी लोग प्रसन्न है या कोई अप्रसन्न भी है ?

दूसरा—उनसे अप्रसन्न! कोई नही। सारे आर्यावर्त मे बालक से वृद्ध तक, एक भी व्यक्ति नही।

तीसरा—हाँ, हाँ, कोई नही।

वृद्ध—देखो, वन्धु, झूठ न वोलो।

यानचांग—तव कोई उनसे अप्रसन्न भी है?

वृद्ध—(सिर हिलाकर) हॉ, है।

यानचांग—कौन?

वृद्ध—कुछ कट्टर ब्राह्मण।

यानचांग—(सिर हिलाकर) अच्छा, इसका कारण?

वृद्ध—कुछ विशेष नही, उनकी बौद्ध-धर्म से सहानुभूति है, यही प्रधान कारण है।

यानचांग—ऐसे ब्राह्मण बहुत है?

वृद्ध—बहुत थोडे, परन्तु उनका कही न कही गुप्त सगठन है। अनेक वर्षो से सुना जाता है कि वे इस सत्ता को उलटने के लिए सगठन कर रहे है।

यानचांग—उनके सगठन का पता नही लगा?

वृद्ध—अब तक तो नही लगा।

यानचांग—राज्य की ओर से पता लगाने का प्रयत्न तो हुआ होगा?

वृद्ध—थोडा-वहुत प्रयत्न कदाचित् हुआ हो, परन्तु उनकी सख्या और शक्ति इतनी कम है कि न वे आज तक कुछ कर सके न भविष्य मे कुछ कर सकेगे, अत राज्य इसकी चिन्ता ही नही करता। यह तो आपने पूछा कि महाराजाधिराज से कोई अप्रसन्न है या नही इसलिए मैंने जो कुछ सुना था, वह आपको वता दिया। इस विषय को कोई महत्व नही है।

[यानचांग लिखता है। दाहनी ओर से एक फल बेचनेवाली सुन्दर स्त्री फलो की टोकरी बगल में दबाए नाचती और गाती हुई आती है। सबका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। वह चबूतरे पर आकर, फल की टोकरी रखती और गाती रहती है।]

लेकर आयी फल मै ले-लो, कान्यकुब्ज की फलवाली।
दानोयुत दाड़िम हूँ लायी, इसके ये दाने
सुदती प्रमदा के दन्तों पर, हँसते मनमाने।
रस से भरी दाख हूँ लायी, इस रस के सम्मुख
रमणी के अधरों का रस भी, दे सकता क्या सुख?
गूदे भरे आम हूँ लायी, इस गूदे का दल
कहता—वनिता के कपोल क्या? कहो न तुम—चल-चल।
नही मिलेगी सकल जगत मे फिर ऐसी सुन्दर डाली॥

[कई व्यक्ति फल खरीदते है। कुछ क्षणो के पश्चात् वह टोकरी उठाकर उसी प्रकार नाचती-गाती बॉयी ओर जाती है। उसी समय दो अध्यापको के साथ विद्यार्थियो का एक समूह दाहनी ओर के मार्ग से आता है। अध्यापको की वेश-भूषा साधारण पुरुषो के समान है, परन्तु विद्यार्थियो की ब्रह्मचारियो के सदृश।]

दूसरा—ये हमारे नालन्द विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक है। अभी विद्यालय की छुट्टी हुई है, अत कान्यकुब्ज देखने के लिए आये है।

[समूह चबूतरे के निकट आ जाता है। यानचाग समूह की ओर बढता है। उसके साथी भी उसके साथ जाते है।]

यानचाग—(नोटबुक को जेब में रखकर, प्रसन्नता से अध्यापकों

का अभिवादन करते हुए) यह चीनीयात्री यानचाग नालन्द के अध्यापको का अभिवादन करता है।

एक अध्यापक—(खड़े होकर, अभिवादन का उत्तर देते हुए, दूसरा अध्यापक और विद्यार्थी समूह भी खड़ा हो जाता है) अच्छा, आप इस देश मे यात्रा के निमित्त आये है?

यानचांग—हाँ, महानुभाव, और आपके इस परम सुन्दर, पवित्र, सभ्य, और सुसस्कृत देश के दर्शनार्थ भी।

दूसरा अध्यापक—(मुस्कराकर) आप तो हमारी भापा वडी सुन्दरता से वोलते है, महाशय।

यानचाग—हाँ, महानुभाव, मैने आपकी देववाणी और प्राकृत दोनो भाषाओ के थोडे वहुत अध्ययन का प्रयत्न किया है।

पहला—यह सुनकर हमे परम प्रसन्नता हुई।

यानचांग—नालन्द की कीर्ति तो हमारे देश के कोने-कोने में पहुँच गयी है, महानुभावो। कदाचित् समस्त विश्व मे इस समय ऐसा कोई विश्वविद्यालय नही है।

दूसरा—कुछ लोग ऐसा अवश्य समझते है, परन्तु हम लोगो को इस सम्वन्ध मे कुछ भी कहने का अधिकार नही है।

यानचांग—नालन्द विश्वविद्यालय मे कितने विद्यार्थी है, महानुभाव?

पहला—कई सहस्र है, महाशय, परन्तु नालन्द के अतिरिक्त इस देश में और भी कई विश्वविद्यालय है और फिर प्रत्येक नगर और ग्रामो में अनेक सस्थाएँ और गरुकुलो-द्वारा शिक्षा की व्यवस्था है। कन्याओ के लिए कन्या-विद्यालय अलग है।

यानचांग—और इस देश मे शिक्षा की क्या प्रणाली है, महानुभाव ?

पहला—यह तो थोडे मे नही बताया जा सकता, महाशय। आप स्वय नालन्द आइए और सब बातो का निरीक्षण कीजिए। नालन्द की शिक्षा-प्रणाली देखने से आपको देश भर की शिक्षा-प्रणाली का ज्ञान हो जायगा।

यानचांग—चीन देश से विदा होते समय ही, मैंने नालन्द आने और वहाँ विद्यार्थी होकर कुछ समय तक अध्ययन करने का विचार कर लिया था, महानुभाव।

पहला—यह आपकी कृपा है। पर, आप आवे अवश्य और मेरे साथ ही निवास करे।

यानचांग—आपका शुभ नाम, महानुभाव ?

पहला—प्रभामित्र।

यानचांग—**(अंगे में से नोटबुक निकाल उसमें नोट करते हुए दूसरे से)** और आपका, महानुभाव ?

दूसरा—जिनमित्र।

यानचांग—**(इसे भी नोट करते हुए)** नालन्द मे तो विदेशो के भी अनेक विद्यार्थी अध्ययन करते है न ?

दूसरा—हाँ, हाँ, अनेक।

पहला—तो फिर अब आज्ञा हो ?

यानचांग—क्षमा कीजिए कि मैने आप लोगो का इतना अमूल्य समय लिया। **(दोनो को अभिवादन करता है।)**

पहला—**(अभिवादन का उत्तर देते हुए)** नही, नही, कोई बात नही। आपके दर्शन से हम लोगो को परम हर्ष हुआ है। **(बॉयी ओर के मार्ग पर आगे बढ़ता है।)**

दूसरा—**(अभिवादन का उत्तर देते हुए)** आप नालन्द अवश्य आवे। **(उसी ओर बढ़ता है।)**

यानचांग—हॉ, हॉ, अवश्य और शीघ्र ही आऊँगा, महानुभाव।

[विद्यार्थीगण यानचांग का अभिवादन करते है। यानचांग अभिवादन का उत्तर देता है। अध्यापको और विद्यार्थी-समूह का बॉयी ओर के मार्ग से प्रस्थान।]

यानचांग—**(कुछ ठहरकर अपने पहले साथियो से)** क्यो बन्धुओ, आपकी सम्राज्ञी और महाराजाधिराज के दर्शन भी हो सकते है?

पहला—अवश्य। जो उनसे मिलना चाहते है, वे उन सबसे मिलते है।

दूसरा—और बडी नम्रतापूर्वक।

तीसरा—हॉ, मद तो उन्हे छू नही गया है।

वृद्ध—और आपसे मिलकर तो उन्हे बडी प्रसन्नता होगी।

यानचांग—यह क्यो?

वृद्ध—वे विद्वानो से बडी प्रसन्नतापूर्वक मिलते और उनका बडा सत्कार करते है। आप तो बडे विद्वान् जान पडते है।

यानचांग—(मुस्कराकर) यह आपने कैसे जाना ?

वृद्ध—क्यो ? हमारी भाषा विदेशी होने पर भी आप उसमे इस प्रकार वार्तालाप करते है, क्या यह साधारण वात है ?

[दाहनी ओर के मार्ग से संघस्थिवर के संग बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियो के एक समूह का प्रवेश। ये सब रक्त-वर्ण के चीवर पहने हुए है।]

यानचांग—(अपने साथियो से) ये सघस्थिवर के ।सग बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणी जान पडते है।

पहला—हाँ, महाशय, हमारे नगर मे अनेक बौद्ध-मन्दिर, और सघाराम भी है।

दूसरा—हमारे महाराजाधिराज आर्य और बौद्ध, दोनो धर्मो को एक दृष्टि से देखते है।

[यानचांग संघस्थिवर की ओर बढ़ता है। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—हर्ष के प्रासाद की वाहरी दालान

समय—सध्या

[दालान की बनावट दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान के सदृश ही है, परन्तु भित्ति और स्तम्भो का रग उस दालान की भित्ति और स्तम्भो के रंग से भिन्न है। भण्डि का प्रवेश। भण्डि की अवस्था अब लगभग ५० वर्ष की है। यद्यपि शरीर वैसा ही है तथापि गलमुच्छो,

मस्तक तथा नेत्रों के दोनों ओर कुछ झुर्रियाँ पड़ जाने के कारण मुख में बहुत परिवर्तन दिख पड़ता है। केश भी यत्र-तत्र श्वेत हो गये हैं। वेश-भूषा पहले के समान ही है। मुख उदास है।]

भण्डि—(ज़ोर से) प्रतिहारी ! प्रतिहारी !

[दूसरी ओर से प्रतिहारी का प्रवेश। वह अभिवादन करता है।]

भण्डि—(अभिवादन का उत्तर देते हुए) परमभट्टारक और सम्राज्ञी कहाँ विराज रहे हैं ?

प्रतिहारी—उपशाल में, श्रीमान।

भण्डि—और कौन है ?

प्रतिहारी—चीनीयात्री यानचाग।

भण्डि—(पैर पटककर) ओह ! क्या दिन-रात वह यहीं बैठा रहता है ?

प्रतिहारी—(कुछ मुस्कराकर) दिन-रात तो नहीं, श्रीमान, परन्तु इधर उनका आवागमन कुछ अधिक हो रहा है।

भण्डि—(एक ओर से दूसरी ओर तक टहलकर) परन्तु, मुझे आज सन्ध्या को उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी थी।

प्रतिहारी—मैं श्रीमान के आगमन की सूचना करता हूँ।

भण्डि—(कुछ सोचकर) हाँ, सूचना तो कर ही दो।

[प्रतिहारी जिस ओर से आया था उसी ओर जाता है। भण्डि इधर-उधर टहलता है। जिस ओर से भण्डि आया था उसी ओर से

माधवगुप्त का प्रवेश। माधवगुप्त बहुत ही उदास है। दोनो एक दूसरे का अभिवादन करते है।]

भण्डि—(माधवगुप्त को देख, खड़े होकर) बहुत अच्छा हुआ, तुमसे यही मिलना हो गया, मित्र। मै तो तुमसे मिलना ही चाहता था। तुमने एक नयी बात सुनी ?

माधवगुप्त—कौनसी ?

भण्डि—दक्षिण की पराजय का सारा दोष मेरे सिर पर मढा जा रहा है।

माधवगुप्त—मैने भी यही चर्चा सुनी है, परन्तु परमभट्टारक ऐसा नही समझते।

भण्डि—परमभट्टारक चाहे न समझे, पर जन-समुदाय अवश्य समझता है।

माधवगुप्त—इसका कारण है।

भण्डि—क्या ?

माधवगुप्त—बात यह है कि राजसिहासन पर अब तक सम्राज्ञी आसीन है। परमभट्टारक और महामात्य ही सारा राज्य-काज चला रहे है। महाबलाधिकृत सिहनाद नही है। केवल यह नवीन बात हुई है। और, इस राज्य के इतिहास मे पराजय नयी बात है। अत तुम पर सारा दोष लाद देने से सर्वसाधारण को सतोष हो जाता है।

भण्डि—परन्तु, परमभट्टारक स्वय युद्ध पर गये थे।

माधवगुप्त—राजा को यथासम्भव दोष न देकर कर्मचारियो को दोष देना यह जन-समुदाय की प्रवृत्ति होती है।

भण्डि—और महावलाधिकृत सिंहनाद के पश्चात् वल्लभी को जो मैंने जीता था?

माधवगुप्त—वल्लभी की जय के पश्चात् दक्षिण की पराजय हुई है न?

भण्डि—हाँ।

माधवगुप्त—जन-समुदाय का स्मृति-कोष वहुत ही छोटा होता है। वह नवीन वात को स्मरण रख सकता है, पुरानी वातो को नही।

भण्डि—(कुछ ठहरकर) अच्छा, इस वार मैं दिखा दूंगा कि महावलाधिकृत भण्डि किस वस्तु का वना है। दक्षिण पर आक्रमण की जो योजना मैंने वनायी है उसमे असफलता को स्थान ही नही है। उसी योजना पर विचार करने के लिए परमभट्टारक ने इस समय मुझे वुलाया है।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(दोनों का अभिवादन कर भण्डि से) चलिए।

[तीनो का दाहनी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—कान्यकुब्ज के राज-प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[वही दालान है जो इस अंक के पहले दृश्य में थी। वीच में सुवर्ण-

मण्डित तथा रत्नो से जडा हुआ शयन रखा है, जिस पर हर्ष और राज्यश्री बैठे हुए है। दाहनी ओर एक सुवर्णमण्डित आसंदी रखी है, जिस पर यानचांग बैठा है। बॉयी ओर दो सुवर्णमण्डित आसंदियाँ रखी है, जो रिक्त है। एक दासी खड़ी हुई खश का पंखा झल रही है। प्रतिहारी के संग माधवगुप्त और भण्डि का प्रवेश। प्रतिहारी अभिवादन करता है और उन्हें छोड़कर, अभिवादन कर पुनः बाहर जाता है। माधव-गुप्त और भण्डि, हर्ष और राज्यश्री का अभिवादन करते है। दोनो अभिवादन का उत्तर देते है।]

हर्ष—आइए, महाबलाधिकृत और माधवगुप्त, बैठिए।

[दोनो रिक्त आसंदियो पर बैठते है।]

हर्ष—(माधवगुप्त और भण्डि से, यानचांग की ओर सकेत कर) आप लोग कदाचित् चीनीयात्री यानचाग महोदय को नही जानते? (यानचांग से भण्डि की ओर सकेत कर) ये इस राज्य के महावलाधिकृत है। (माधवगुप्त की ओर संकेत कर) और ये मेरे परम मित्र माधवगुप्त।

[तीनो एक-दूसरे का अभिवादन करते है।]

माधवगुप्त—आपका नाम तो सुना था, परन्तु अब तक दर्शन का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था।

भण्डि—मैंने भी नाम सुना था, परन्तु कभी भेट न हुई थी।

यानचांग—कान्यकुब्ज मे आये मुझे थोडे ही दिन हुए है। आप लोगो को राज्य-काज से अवकाश ही कहाँ, इसलिए अव तक मिलना न हो सका, परन्तु आप दोनो की प्रशसा मैंने परमभट्टारक और प्रजा दोनो के ही मुख से सुनी है। हर्ष की वात है कि आज दर्शन भी हो गये।

हर्ष—यानचाग महोदय सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ के पण्डित है।

राज्यश्री—और बौद्ध-धर्म का भी इन्होने बडा अच्छा अध्ययन किया है।

भण्डि—(सिर हिलाते हुए) अच्छा।

माधवगुप्त—मैंने भी सुना था।

[कुछ देर सब लोग चुप रहते है।]

भण्डि—महाराज, दक्षिण पर आक्रमण के सम्बन्ध मे जो नयी योजना बनाने की आज्ञा हुई थी, वह तैयार हो गयी है। राज-सभा ने उसपर आज विचार भी कर लिया है।

राज्यश्री—परन्तु, अब दक्षिण पर आक्रमण न होगा, महाबला-धिकृत। मैंने परमभट्टारक से भी इसकी स्वीकृति ले ली है।

भण्डि—(चौंककर) दक्षिण पर आक्रमण न होगा?

राज्यश्री—हाँ, महाबलाधिकृत, अभी-अभी हम लोगो ने यह निर्णय किया है।

भण्डि—इसका क्या अर्थ है, सम्राज्ञी?

राज्यश्री—(मुस्कराकर) आक्रमण न होने का अर्थ तो आक्रमण न होना ही हो सकता है, महाबलाधिकृत।

[भण्डि को छोड़कर सब लोग हँस पड़ते है।]

भण्डि—(कुछ सकुचते हुए) हाँ, यह तो ठीक है, सम्राज्ञी, किन्तु दक्षिण पर आक्रमण न होगा यह बात मै विचार ही न सकता था;

आर्यावर्त का साम्राज्य किसीसे पराजित होकर बदले के लिए आक्रमण न करेगा, यह बात मेरे मन मे ही न उठ सकती थी।

राज्यश्री—परमभट्टारक ने सिंहासनासीन होते ही शशाक नरेन्द्रगुप्त से बदला लेने के लिए गौड पर आक्रमण करने का विचार किया था। इसके पश्चात् पहले छः वर्षों मे तो उन्हे अश्व से उतरने तक का अवकाश न मिला और शेष समय भी कभी युद्ध, कभी विप्लव की शान्ति एव अन्य झगडो मे गया। अब दक्षिण से बदला लेने के लिए फिर से युद्ध हो, यह मेरी सहनशक्ति के बाहर की बात है।

भण्डि—परन्तु, सम्राज्ञी, दक्षिण के युद्ध मे बहुत थोडा समय लगेगा। फिर इस बार दक्षिण के युद्ध की मैने ऐसी योजना बनायी है कि उसमे असफलता मिल ही नही सकती।

राज्यश्री—नही, महाबलाधिकृत, अब मै एक दिन का भी युद्ध नही चाहती। सिंहासनासीन होने के दिन मैने भारत मे एक राष्ट्र की स्थापना के प्रयत्न की घोषणा की थी। उस प्रयत्न की ओर, मेरे मतानुसार हम लोग एक पग भी आगे नही बढे है। परमभट्टारक और मै दोनो ही वृद्ध हो चले है। अब युद्ध नही, एक दिन का भी युद्ध नही।

भण्डि—यदि मै यह कहूँ तो क्षमा कीजिएगा, सम्राज्ञी, कि मै आपकी इस बात से सहमत नही कि एक राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे हम लोगो ने एक पग भी आगे नही बढाया है। जब तक सारा भारतवर्ष एक साम्राज्य के अन्तर्गत नही आता, तब तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य हो ही कैसे सकता है ? आर्यावर्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया है, अत जहाँ तक उत्तरापथ का सम्बन्ध है, वहाँ तक एक राष्ट्र-निर्माण का कार्य बहुत दूर तक हो चुका। ज्योही दक्षिण भारत साम्राज्य के अन्तर्गत आ जायगा, त्योही एक राष्ट्र के निर्माण-कार्य का सबसे कठिन भाग समाप्त हो जायगा और फिर हम सब

लोगो का सारा समय एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक सगठन-सम्बन्धी कार्यो मे ही व्यतीत होगा।

राज्यश्री—परन्तु, उत्तर भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत होने पर भी क्या उसमे एक राष्ट्र का निर्माण हो गया है?

भण्डि—न...न...नही हुआ, यह मै मानता हूँ, परन्तु इसके कारण है।

राज्यश्री—कौनसे?

भण्डि—(कुछ सोचते हुए) अनेक कारण है, साम्राज्ञी।

राज्यश्री—होगे, परन्तु मेरे मतानुसार सबसे प्रधान कारण एक ही है, महाबलाधिकृत, और वह है परमभट्टारक को उस ओर पूर्ण लक्ष देने के लिए अवकाश न मिलना। अब पहले आर्यावर्त मे एक राष्ट्र का निर्माण हो जावे तब हम दक्षिणापथ पर आक्रमण करने की बात सोचेगे।

[कुछ देर सब लोग चुप रहते है।]

यानचांग—(हर्ष और राज्यश्री से) यदि मुझे आज्ञा हो तो महाबलाधिकृत से कुछ निवेदन किया चाहता हूँ।

हर्ष—हॉ, हाँ, आप जो कहना चाहे अवश्य कह सकते है।

भण्डि—मै भी सहर्ष सुनूँगा।

यानचांग—क्या आप समझते है, महाबलाधिकृत, कि सारे भारतवर्ष पर एक राज्य होने से भारत मे एक राष्ट्र का निर्माण हो जायगा?

भण्डि—केवल इतने ही से हो जायगा, यह मैं नही कहता, परन्तु यह उसके लिए सबसे पहली, सबसे कठिन और सबसे प्रधान बात है।

यानचांग—मौर्यों के समय तो सारा भारत एक साम्राज्य के अन्तर्गत था, गुप्तो के समय भी सारा आर्यावर्त एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहा फिर भी भारत मे एक राष्ट्र का निर्माण क्यो न हुआ ? वात यह है, महावलाधिकृत, कि युद्ध करके वलपूर्वक भिन्न-भिन्न राज्यो को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने से एक राष्ट्र का निर्माण ही असम्भव है। वे राज्य सदा यह सोचा करते है कि वलपूर्वक हम एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखे गये है। वार-वार वे विद्रोह करते है और अवसर पाते ही स्वतत्र हो जाते है। इसलिए ।

हर्ष—(**बीच ही मे**) मै आपके कथन के बीच ही मे कुछ कह देना चाहता हूँ।

यानचाग—हॉ, हॉ, अवश्य।

हर्ष—जब मैने स्थाण्वीश्वर का राज्य ग्रहण किया और सम्राज्ञी कान्यकुब्ज के सिहासन पर वैठी, उस समय हम लोगो ने भी यही विचार किया था। हम लोग वलपूर्वक किसीको साम्राज्य के अन्तर्गत नही लाना चाहते थे। सम्राज्ञी ने सिहासनासीन होते ही जो घोषणा की थी उसमें कह दिया था कि इस साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित होगे उनका पद समानाधिकारियो का रहेगा। परन्तु, वह नीति सफल न हुई। कुछ राज्यो को छोडकर शेष राज्य स्वेच्छापूर्वक साम्राज्य मे सम्मिलित ही न हुए तव विवश होकर युद्ध करना पडा।

यानचांग—राज्यो को सम्मिलित करने का प्रयत्न किये विना ही यदि एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक सगठन का प्रयत्न किया गया होता, तो भिन्न-भिन्न देशो मे एकता की भावना उत्पन्न हो जाती और तव उन्हे अनुमान हो जाता कि साम्राज्य उन्हीकी वस्तु है, तथा एक साम्राज्य के अन्तर्गत रहना उन्हीके स्वार्थ के लिए आवश्यक है।

भण्डि—सारे देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाये बिना यह प्रयत्न ही क्योकर हो सकता था ?

यानचांग—क्यो ? चीन देश आपके साम्राज्य के अन्तर्गत हुए बिना ही क्या आपके देश ने वहाँ बौद्ध-धर्म की स्थापना का यत्न नही किया था ? एक चीन ही नही, भारतीय सम्राट् अशोक ने तो सारे ससार को एक सूत्र मे बाँधने का उद्योग किया था, और यह, ससार को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किये बिना ही। आप समझते है कि यदि आप अपने देश को एक साम्राज्य के अन्तर्गत ले भी आये और यदि आपने अपने देश मे एक राष्ट्र की स्थापना कर भी ली तो आप सब भयो से मुक्त हो जायँगे ?

भण्डि—फिर हमे कौनसा भय रह जायगा ?

यानचांग—विदेशी आक्रमणो का।

भण्डि—उसके लिए हम यथेष्ट-रूप से बलवान रहेगे।

यानचांग—परन्तु, जैसे एक प्रकार की वस्तु से उसी प्रकार की वस्तु उत्पन्न होती है, वैसे युद्ध से सदा युद्ध की ही उत्पत्ति होती है। ज्योही एक विदेशी आक्रमण मे आपकी शक्ति का व्यय हुआ और दूसरो ने देखा कि आप निर्बल है, त्योही आप पर दूसरा आक्रमण होगा। जब तक यह युद्ध रहेगा तब तक आप ही नही सारे ससार की यही अवस्था रहेगी। इसलिए सम्राट् अशोक के सदृश, बिना युद्ध के ही, सारे ससार को एक सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न होना चाहिए।

भण्डि—परन्तु, सम्राट् अशोक का तो वह प्रयत्न असफल हो गया।

यानचांग—एक देश, चाहे वह कितना ही बडा क्यो न हो, अकेला, इतना बडा कार्य नही कर सकता। इसके लिए अनेक देशो मे एक साथ यह प्रयत्न चलना चाहिए और वह भी सतत। सम्राट् अशोक के पश्चात्

वह कार्य इस प्रकार से अब तक ससार मे कही किया ही नही गया।

माधवगुप्त—(जो अब तक चुप होकर सारे विवाद को ध्यानपूर्वक सुन रहा था) तो आप समझते है कि सारे ससार पर एक धर्म, एक भाषा और एक सामाजिक सगठन की स्थापना हो सकती है ?

यानचांग—यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिससे एक धर्म, एक भाषा और एक प्रकार के सामाजिक सगठनवाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा और दूसरे प्रकार के सामाजिक सगठन-वालो को अपना शत्रु न समझ कर मित्र समझे, एक दूसरे का रक्तपात करने के इच्छुक न रहकर एक दूसरे को सहायता पहुँचावे और इस कार्य मे सब अपना-अपना स्वार्थ माने।

हर्ष—(प्रसन्न होकर) यह मै भी मानता हूँ। यह परिस्थिति ससार मे अवश्य लायी जा सकती है और आप ठीक कहते है, यानचाग महोदय, कि जब तक ससार मे यह परिस्थिति नही लायी जायगी, तब तक कोई भी देश सुखी नही हो सकता। आपके इस कथन को भी मै मानता हूँ कि एक देश इस परिस्थिति की स्थापना मे सफल नही हो सकता और इसके लिए अनेक देशो मे एक साथ तथा सतत प्रयत्न होना चाहिए। वल्लभी के पराजित नरेश सेनापति ध्रुवसेन को मै वल्लभी का राज्य लौटाकर उसके सग अपनी पालित पुत्री जयमाला का विवाह कर उसे जामाता बनाऊँगा। पुलकेशिन को अब मै युद्ध कर विजय न करूँगा, परन्तु बिना साम्राज्य के अन्तर्गत किये ही मैत्री स्थापित कर विजय करूँगा। साथ ही, यत्न करूँगा कि अन्य नरेश भी यही करे। (**यानचांग से**) चीन-सम्राट् से अपने देश मे आप यही कराइए। मैने सुना है, पुलकेशिन से पारस देश का पारस्परिक मैत्री-सम्बन्ध है। चीन और आर्यावर्त का सम्बन्ध आप करा दीजिए। इस प्रकार चीन, पारस और भारत इन तीन महान् देशो मे यदि परस्पर

मैत्री हो गयी, तो जम्बू द्वीप के अन्यान्य छोटे-छोटे देशो मे तो यह कार्य बहुत शीघ्र हो जायगा और फिर ससार का गुरु जम्बू द्वीप इस दिशा मे भी अन्य द्वीपो के पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा। (कुछ ठहरकर भण्डि से) महावलाधिकृत, अव युद्ध नही, इस जीवन मे अब मैं युद्ध न करूँगा। मेरा जीवन तथा सारे आर्यावर्त की शक्ति अव इसी शुभ कार्य मे लगेगी।

राज्यश्री—(आँखो में आँसू भरकर) धन्य मेरा भाग्य और धन्य आर्यावर्त का !

[कुछ देर तक सब चुप रहते है ।]

हर्ष—राज्यश्री, सारे विश्व को इस प्रकार एक नवीन सगठन मे परिणत करने के लिए, कितने दीर्घ काल और महान् प्रयत्न की आवश्यकता होगी, इसकी कल्पना सहज ही मे की जा सकती है। फिर प्रयत्न-कर्त्ता यह प्रयत्न अधिकाश मे अपने देश मे ही कर सकता है, यह भी स्पष्ट है। भारतवर्ष मे यह प्रयत्न जिन दिशाओ मे होगा उन्हे मै युगो से सोच रहा हूँ। अब युद्ध को सर्वथा बन्द कर देने के पश्चात् मेरा सारा समय इसी प्रयत्न मे जायगा।

राज्यश्री—वे कौनसी दिशाएँ है, शिलादित्य ?

हर्ष—वे ही वता रहा हूँ, राज्यश्री। आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिए मै स्वय शिव, आदित्य और वुद्ध की प्रतिमाओ का एक सार्वजनिक पूजन करूँगा। उसे यज्ञ का रूप देकर आर्यावर्त के समस्त राजाओ, धार्मिक सस्थाओ और प्रजा को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दूँगा।

राज्यश्री—इससे धार्मिक एकता मे अवश्य ही वहुत वडी सफलता मिलेगी।

हर्ष—और इसी अवसर पर तुम्हारी ओर से मैं कान्यकुब्ज के कोष में सग्रहीत समस्त धन, सम्पत्ति, रत्न-आभूषण का दान कर दूंगा।

भण्डि—(चौंककर) सर्वस्व-दान।

हर्ष—हाँ, सर्वस्व-दान, महाबलाधिकृत, मेरे शरीर मे जो आभूषण है, इन तक का दान। (कुछ रुककर) देखिए, महाबलाधिकृत, नरपतिगण अधिकतर यह कोष-सग्रह अपने विलासो की पूर्ति एव एक-दूसरे से युद्ध और अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए करते है। इस प्रवृत्ति के नाश के लिए आर्यावर्त के साम्राज्य की ओर से केवल उपदेश नही, किन्तु कर्म की आवश्यकता है।

माधवगुप्त—और आप समझते है, परमभट्टारक, कि आपके एक वार इस प्रकार के दान से नरेशो की यह प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी?

हर्ष—मैं एक वार ही इस प्रकार का दान न करूँगा।

माधवगुप्त—तब?

हर्ष—प्रजाहित के समस्त कार्यों मे व्यय होने के पश्चात् जो कुछ धन साम्राज्य के कोष मे वचेगा, उसका हर चौथे वर्ष, युग का अन्त होते ही, दान कर दिया करूँगा।

यानचाग—(गद्गद् कंठ से) धन्य है आपको, परमभट्टारक, धन्य है! आपके बारम्बार सर्वस्व-दान का यह सकल्प ससार के इतिहास में एक नवीन घटना है।

हर्ष—(राज्यश्री से) तुम्हे यह कार्य-क्रम स्वीकृत है, राज्यश्री?

राज्यश्री—(आँखो में आँसू भरकर) स्वीकृत? हृदय से स्वीकृत है, शिलादित्य! ऐसे भ्राता को पाकर पृथ्वी पर मेरा जन्म धन्य हो गया!

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—बुद्ध-गया

समय—प्रात काल

[बाँयी ओर दूरी पर संघाराम का एक कोना दिखायी देता है। बीच में शिखरदार मठ है। दाहनी और बोधि-वृक्ष और उसके नीचे के चबूतरे का कुछ भाग दिखता है। निकलते हुए सूर्य के आलोक से दृश्य आलोकित है। अनेक सैनिक बोधि-वृक्ष को कुल्हाडियो से काट रहे है। अनेक सैनिक बौद्ध-भिक्षुओ को बन्दी किये हुए खड़े है। कई बौद्ध-भिक्षु सिसक-सिसक कर रो रहे है, परन्तु उनके इस रुदन मे भय के कारण चिल्लाने का शब्द नही है। बोधि-वृक्ष के सामने उसकी ओर मुख किये शशाक और आदित्यसेन खड़े हुए है। दोनो, सैनिक-वेश-भूषा में है। शरीर पर कवच है, सिर पर शिरस्त्राण और आयुधो से सुसज्जित है। शशाक अपना बॉयॉ हाथ आदित्यसेन के कधे पर रखे है और दाहना हाथ आगे कर उसकी उँगली से बोधि-वृक्ष को दिखाते हुए आदित्यसेन

से अत्यधिक उत्तेजित शब्दो में कुछ कह रहा है। शशांक और आदित्यसेन के सम्भाषण के बीच-बीच में कभी-कभी कुल्हाड़ियो के चलने और कभी-कभी किसी-किसी बौद्ध-भिक्षु के सिसक-सिसक कर रोने के शब्द सुनायी देते है।]

शशाक—वेटा, आज इस बोधि-वृक्ष की एक-एक शाखा के साथ बौद्ध-धर्म की भी एक-एक शाखा का नाश हो जायगा और इसकी जड उखडते ही बौद्ध-धर्म का भी मूलोच्छेदन। वर्षो और वर्षो क्या, युगो से जिस स्वप्न को देखते-देखते (दाहने हाथ को केशो पर फेरकर) ये केश श्वेत हो गये, (उसी हाथ को मुख पर फेरकर) इस चर्म मे झुर्रियाँ पड गयी, वह स्वप्न तेरे कारण सत्य हो सका, वेटा, तेरे कारण। यदि तू अपने कुल-कलक पिता का त्याग कर, मेरे निकट न आता तो क्या मेरा स्वप्न कभी सत्य हो सकता था ? आर्य-धर्म के पुनुरुत्थान का यह महान् आयोजन क्या सफल होना सम्भव था ?

आदित्यसेन—पिताजी, मेरे स्वप्न के सत्य होने के भी तो आप ही कारण होगे।

शशाक—(नेत्रो को पोछते हुए) तेरे और मेरे स्वप्न मे अन्तर नही है, वेटा। फिर भी, वर्द्धनो के जिस नाश को तू अपना स्वप्न कहता है, उसके सत्य होने मे भी अव तो वहुत कम सन्देह और वहुत कम समय रह गया है। परन्तु, परन्तु उसके सत्य होने का कारण भी मैं नही, यथार्थ मे तू ही है, वेटा।

आदित्यसेन—यह कैसे पिताजी ?

शशांक—(आदित्यसेन को एकटक देखते हुए धीरे-धीरे) यह कैसे ? इसमें गूढ वडा गूढ रहस्य है। तू हृदय से शासित होता है, बेटा, और मैं, मैं मस्तिष्क से। मस्तिष्क का शासन छोटे-छोटे

कार्यो, छोटे-छोटे षड्यन्त्रो को चाहे सफल कर दे, परन्तु ।

[बोधि-वृक्ष की दो शाखाएँ शब्द करती हुई गिरती है। उनके गिरने से एक भिक्षु चिल्लाकर रोने लगता है।]

शशांक—(उस भिक्षु के निकट जाते हुए निकट खडे हुए सैनिक से चिल्लाकर) खीच लो इसकी जीभ और भर दो इसके मुँह मे धूलि। आर्य-धर्म के शत्रुओ! अधर्मियो! पामरो! अभी क्या हुआ है, इस वृक्ष के पश्चात् तुम सबकी यही दशा होगी, जो इस वृक्ष की हो रही है। इस पुण्य भूमि मे शशाक नरेन्द्रगुप्त बौद्ध-धर्म का चिन्ह तक न रहने देगा, चिन्ह तक नही।

आदित्यसेन—अरे तुम्ही तुम्ही दुष्टो ने तो विदेशियो से मिल-मिल कर गुप्त-साम्राज्य का नाश कराया है। तुम्हारी यह वर्द्धन-सत्ता अब थोडे, बहुत थोडे काल की पाहुनी है।

[परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—माधवगुप्त के भवन की दालान

समय—प्रात काल

[दालान की बनावट वैसी ही है जैसी दूसरे अंक के पहले दृश्य की दालान की थी। भित्ति और स्तंभो का रंग उस दालान की भित्ति और स्तंभो से भिन्न है। माधवगुप्त और भण्डि का बॉयी ओर से प्रवेश। दोनो अपनी साधारण वेश-भूषा में है।]

भण्डि—(लम्बी साँस लेकर) तो अब बहुत शीघ्र आर्यावर्त की युगो मे एकत्रित की गयी सारी सम्पत्ति निरर्थक रीति से बहा दी जायगी।

माधवगुप्त—और उसका सबसे अधिक दु ख तुम्हे है ?

भण्डि—दु ख न होगा, बन्धु, जिस सम्पत्ति से मै केवल दक्षिण भारत नही, परन्तु सारे ससार को विजय कर सकता था, जिसके एक क्षुद्र अश से शशाक के इस विद्रोह का कुछ क्षणो में दमन किया जा सकता था, उसका यह निरर्थक व्यय मुझे सबसे अधिक दु ख न देगा तो किसे देगा ? क्या तुम इस व्यय को उचित मानते हो ?

माधवगुप्त—अब तक मै इसका निर्णय नही कर सका।

भण्डि—(आश्चर्य से) अच्छा! उस दिन जब परमभट्टारक ने सर्वस्व-दान का निश्चय किया तब तो तुमने भी एक प्रकार से इस प्रस्ताव का विरोध किया था।

माधवगुप्त—अवश्य, परन्तु उसके पश्चात् मै इस विषय पर अपने मन मे बहुत तर्क-वितर्क करता रहा।

भण्डि—और तर्क-वितर्क के पश्चात् तुम इसे उचित मानने लगे हो ?

माधवगुप्त—यह मैने कहाँ कहा ? मै तो केवल इतना ही कहता हूँ क इसके औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध मे मै कोई निर्णय नही कर सका हूँ।

भण्डि—परन्तु, अब तुम इसके वैसे विरोधी नही रहे, जैसे उस दिन थे, जिस दिन परमभट्टारक ने यह निर्णय किया था।

माधवगुप्त—हाँ, यह सत्य है।

भण्डि—कारण ?

माधवगुप्त—देखो, मित्र, मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नही, इस विषय पर मै जितना अधिक विचार करता हूँ, उतना ही इस निर्णय पर पहुँचता जाता हूँ कि इस सम्बन्ध मे कभी भी कोई एक बात नही कही जा सकती ।

भण्डि—कैसे ?

माधवगुप्त—आज जो बात उचित जान पडती है कल वही अनुचित दिखने लगती है, और आज जो अनुचित कल वही उचित।

भण्डि—तब तुम्हारे मतानुसार न कुछ उचित है और न कुछ अनुचित ?

माधवगुप्त—शनै शनै मेरा मत इसी प्रकार का बनता जा रहा है, और इसका कारण है।

भण्डि—क्या ?

माधवगुप्त—अब तक मनुष्य का इस बात का पता न लगा सकना कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार से जा रहा है ।

भण्डि—मै तुम्हारे इस कथन का अर्थ ही नही समझा।

माधवगुप्त—मै समझाने का प्रयत्न करता हूँ। मनुष्य जब पृथ्वी में किसी वस्तु का बीज बोता है, तब उसे इस बात का निश्चय रहता है न कि, अमुक बीज से अमुक प्रकार का ही पौधा निकलेगा ?

भण्डि—अवश्य।

माधवगुप्त—परन्तु, यही बात वह अपनी किसी कृति के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से नही कह सकता।

भण्डि—कैसे ?

माधवगुप्त—कुछ उदाहरणो पर विचार कर देखो। पहले मानव-समाज इस प्रकार के वन्धनो मे जकडा हुआ न था, जैसा आज है, तब न धार्मिक वन्धन थे, न सामाजिक और न राजनैतिक। मानव-समाज मे सुख के लिए इन बन्धनो का आविष्कार हुआ, परन्तु क्या उसके सुख मे किसी प्रकार की वृद्धि हुई है ?

भण्डि—इसमे कोई सन्देह है ?

माधवगुप्त—बहुत वडा।

भण्डि—यह तो वडे आश्चर्य की वात कहते हो।

माधवगुप्त—तुम्हे केवल ऐसा जान पडता है, परन्तु यदि तुम इस प्रश्न के मूल तक जाकर विचार करोगे तो तुम्हे कुछ आश्चर्य न होगा। जितने धर्मों का आविष्कार हुआ, सवने यही घोषणा की थी कि वे सच्ची शान्ति स्थापित कर देगे, पर उनसे उल्टा कलह वढा है। सामाजिक सगठन मे विवाह सबसे प्रधान वन्धन है। वह दम्पति के सुख का ठेका लेना चाहता था, पर अधिकतर पति-पत्नी दुखी ही दिख पडते है। इतना ही नही, पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को स्थायी रूप से बाँध देने के लिए जो सन्तानोत्पत्ति ग्रन्थि के समान मानी जाती है, वह ग्रन्थि भी ग्रन्थि का कार्य न कर प्राय छुरिका का ही कार्य करती है। राज-सत्ता प्रधानतया रक्तपात और लूट-मार बन्द करने के लिए स्थापित हुई थी, परन्तु सबसे अधिक रक्तपात और लूट राज-सत्ता द्वारा ही हुई है।

भण्डि—(झुँझलाकर) फिर क्या किया जाय ?

माधवगुप्त—यही तो अभी तक निर्णय नही हो सका, क्योकि जैसा

मैने अभी कहा कि मनुष्य को अब तक यह ज्ञात नही हुआ है कि मनुष्य समाज किस ओर और किस प्रकार जा रहा है।

भण्डि—(घृणा से हँसकर) तुम्हारे कहने का तो यह अर्थ होता है कि मनुष्य को अकर्मण्य हो जाना चाहिए।

माधवगुप्त—कदापि नही; परन्तु, वह जो अपने को सर्वज्ञ मान कर, हर बात करता है, यह अवश्य भ्रम है ।

भण्डि—और परमभट्टारक जिस प्रकार नयी-नयी बाते कर यह मानते है कि वे देश और ससार का कल्याण कर रहे है, यह भ्रम नही है ?

माधवगुप्त—जहाँ तक मै जानता हूँ वे अपने को सर्वज्ञ मान कर कुछ नही करते ।

भण्डि—फिर ?

माधवगुप्त—वे जो नयी बाते करते है, प्रयोगात्मक दृष्टि से करते है, जैसा सभी महान् पुरुषो ने किया है।

भण्डि—अब तक उनके सारे प्रयोग असफल हुए है। पहले वे सिहासन पर न बैठ साधारण पुरुष के समान प्रजा की सेवा करना चाहते थे, वह न हुआ, और उन्हे सिहासनासीन होना पडा। फिर उन्होने सम्राज्ञी को सिहासन पर बिठा, महिलाओ को पुरुषो के सदृश अधिकार दिलाने की बात सोची, पर आज भी पुरुष उच्च और महिलाएँ निम्न मानी जाती है; फिर उन्होने स्वय कान्यकुब्ज का माण्डलीक बनकर अपने उदाहरण-द्वारा बिना युद्ध के ही प्रत्येक देश को साम्राज्य का समानाधिकारी बनाना चाहा, वह प्रयत्न भी असफल हुआ और उन्हे अनेक वर्ष नही, परन्तु अनेक युग युद्ध मे व्यतीत करने पडे। अब राज्यो की परस्पर मैत्री और युद्ध के लिए

धन-सग्रह के विरोध मे स्वय सर्वस्व-दान कर, अन्य नरेशो को इस दिशा मे आकर्षित करने का यह प्रयोग कहाँ तक सफल होगा, सो तो पहले प्रयोगो से भी अधिक स्पष्ट है।

माधवगुप्त—परन्तु, मित्र, छोटी-छोटी बातो मे सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा महान् कार्यो मे असफल हो जाना कही श्रेष्ठ है। फिर आज परमभट्टारक भी जो कुछ कर रहे है, उसका आगे चलकर ससार पर क्या प्रभाव पडता है, इसे कौन कह सकता है ?

भण्डि—आज उनके कार्यों का कितना प्रभाव पडा, यह हमने देख लिया, उनके पश्चात्, उनके विवाह न करने और सन्तान न होने के कारण सारे देश मे जो उथल-पुथल मचेगी, उसकी भी कल्पना की जा सकती है।

माधवगुप्त—अनेक नरेशो की तो सन्तति थी, फिर उथल-पुथल क्यो हुवी ? देखो, मित्र, मै यह नही कहता कि परमभट्टारक की सारी कृतियो का अच्छा ही फल होगा। मेरा कहना केवल इतना ही है कि ससार मे महान् व्यक्ति महान् कार्यो का प्रयोग करने को आते है, उनके कार्य किसी न किसी नवीन दिशा मे होते है, इतना गत इतिहास से अवश्य जान पडता है। अनेक कार्यो का फल तत्काल मिलता है और अनेक का शताब्दियो पश्चात्। किन बातो से मानव-समाज का स्थायी कल्याण होगा, यह अब तक सिद्ध नही हो पाया, क्योकि जैसा मैने अभी दो बार तुमसे कहा कि हम यह नही जानते कि मानव-समाज किस ओर, किस प्रकार जा रहा है। मै परमभट्टारक को महापुरुष मानता हूँ। जो बाते वे करना चाहते है उनपर मै सम्मति अवश्य देता हूँ, परन्तु अन्त मे उनके निर्णय को मै मस्तक झुकाकर स्वीकृत कर लेता हूँ, क्योकि जहाँ तक उनकी पहुँच है, वहाँ तक मै अपनी नही मानता।

भण्डि—तुम्हारे इस सिद्धान्त के अनुसार साधारण कोटि के मनुष्यो

कार्य की तो कोई दिशा रह ही नही जाती।

माधवगुप्त—यह मै नही मानता। उनकी कार्य-दिशा महापुरुषो का अनुसरण है।

भण्डि—परन्तु, महापुरुष भी एक दिशा मे तो नही चले है, किसका अनुसरण किया जावे ?

माधवगुप्त—जो जिसे महान् पुरुष दिखे तथा जिसकी कृति मे कम से कम स्वार्थ और अधिक से अधिक परमार्थ दृष्टिगोचर हो।

भण्डि—यह सब . ।

[बॉयी ओर से एक गुप्तचर का प्रवेश। वह अधेड़ अवस्था का साधारण मनुष्य है। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है। उसके मुख पर गम्भीरता का साम्राज्य है। वह माधवगुप्त और भण्डि का अभिवादन करता है। दोनो अभिवादन का उत्तर देते है।]

माधवगुप्त—क्या शशाक और आदित्यसेन के विद्रोह का कोई समाचार है ?

गुप्तचर—जी हॉ, बडा भीषण सवाद है।

माधवगुप्त—**(कुछ घबड़ाकर)** कैसा ?

गुप्तचर—**(इधर-उधर देखकर, धीरे-धीरे)** बोधि-वृक्ष के काटने के पश्चात् अब उन्होने परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र किया है।

[माधवगुप्त और भण्डि चौंक पड़ते है।]

माधवगुप्त—किस प्रकार ?

गुप्तचर—यज्ञ के दिन जब जन-समुदाय के बीच शरीर-रक्षको से

रहित परमभट्टारक, आदित्य, शिव और बुद्ध का पूजन कर सर्वस्व-दान करेगें, उसी दिन यह कार्य करने के लिए शशाक और आदित्यसेन ने धर्मान्ध ब्राह्मणो को नियुक्त किया है।

[माधवगुप्त सिर झुका लेता है। भण्डि और गुप्तचर एकटक माधव-गुप्त की ओर देखते है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

माधवगुप्त—(धीरे-धीरे सिर उठाकर भण्डि से) मित्र, परमभट्टारक ने युद्ध का त्याग किया है, हमने तो नही?

भण्डि—कदापि नही।

माधवगुप्त—तो हमारा इस समय कुछ कर्तव्य है। मैने बाल्यावस्था से ही जिस प्रकार परमभट्टारक का साथ दिया है, उसे तुमसे अधिक कोई नही जानता। आज भी अनेक व्यक्ति जिस सदिग्ध दृष्टि से मुझे देखते है, वह भी तुमसे छिपा हुआ नही है। अब तक गुप्तो और वर्द्धनो के सघर्ष का प्रश्न था, परन्तु आज तो एक ओर मेरे जीवन-सर्वस्व परमभट्टारक और दूसरी ओर मेरे एकमात्र पुत्र का प्रश्न है। मित्र, मेरे हृदय मे परम-भट्टारक के प्रति कितना स्नेह है, इसका प्रमाण देने का आज से बढकर मुझे और कोई अवसर नही मिलेगा। चलो, भीतर बैठकर **(गुप्तचर की ओर संकेत कर)** इनका सारा वृत्त सुन ले और अपना भावी कर्तव्य निश्चित करे। **(कुछ रुककर)** हाँ, एक बात का ध्यान रहे कि इस समय यह सारा कार्य इस प्रकार करना होगा कि परमभट्टारक तक को, हम लोग क्या करनेवाले है, इसका भी पता न लगे।

भण्डि—अवश्य, नही तो न जाने हमारे प्रयत्नो को विफल करने के लिए वे क्या कर बैठेगे।

माधवगुप्त—तो फिर चलो, इस समय एक-एक क्षण अमूल्य है।

भण्डि—अवश्य, अवश्य।

[तीनो का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—प्रयाग का एक मार्ग

समय—प्रात काल

[दूरी पर छोटे-छोटे गृह दिखायी पड़ते है। सकरा मार्ग है। प्रातः काल का प्रकाश फैला हुआ है। दो पुरवासियो का बॉयीं ओर से और दो का दाहनी ओर से प्रवेश। सभी उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने है। आभूषण भी धारण किये है। दाहनी ओर का एक व्यक्ति हाथ में एक कागज़ लिए है।]

बॉयी ओर का पहला—(दाहनी ओर से आनेवाले से) कहो, यज्ञशाला से आ रहे हो ?

दाहनी ओर का पहला—जी हॉ, वही से।

बॉयी ओर का दूसरा—क्या समाचार है ?

दाहनी ओर का वही—अब तो सब व्यवस्था पूर्ण हो चुकी।

बॉयी ओर का पहला—कल प्रात काल ही तो यज्ञ है, व्यवस्था कैसे न हो चुकती ? सब लोग आ गये ?

बॉयीं ओर का दूसरा—हाँ, जिन्हे आना था, वे सब आ गये।

बाँयीं ओर का पहला—कितने माण्डलीक आये है ?

दाहनी ओर का पहला—कामरूप के कुमारराज, वल्लभी के ध्रुवसेन तथा अठारह और ।

बाँयीं ओर का दूसरा—तो प्राय सभी माण्डलीक आ गये ?

दाहनी ओर का पहला—हाँ, प्राय सभी, और सब अपनी-अपनी महिषियो के सग आये है।

बाँयीं ओर का पहला—और धर्म-सस्थाओ के प्रतिनिधि ?

दाहनी ओर का दूसरा—अरे, वे तो वहुत है, कहाँ तक गिनती गिनाऊँ ?

बाँयी ओर का दूसरा—सारे आर्यावर्त की प्रजा भी तो एकत्रित हुई है। ऐसी भीड तो कुम्भ पर भी नही होती।

बाँयीं ओर का पहला—कुम्भ तो हर बारहवे वर्ष होता है, यह तो अश्वमेध और राजसूय-यज्ञ के समान यज्ञ है, जिसका अवसर सैकडो और सहस्रो वर्षों के पश्चात् आता है।

बाँयीं ओर का पहला—इसमे क्या सन्देह है ?

दाहनी ओर का पहला—अब तो यज्ञ का सारा कार्य-क्रम भी लिखकर यज्ञशाला के द्वार पर लगा दिया गया है।

बाँयी ओर का पहला—क्या है, बताओ।

दाहनी ओर का दूसरा—मै तो लिख लाया हूँ।

बाँयीं ओर का पहला—सुनाओ, सुनाओ।

दाहनी ओर का दूसरा—(हाथ का कागज पढ़ते हुए) सुनो, प्रात काल की प्रार्थना के अनन्तर शिविका पर भगवान शिव, भगवान बुद्ध और भगवान आदित्य की मूर्तियो का यज्ञशाला मे आगमन होगा। शिविका-वाहक का कार्य, सम्राज्ञी राज्यश्री, महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन, कामरूपाधि-पति कुमारराज भास्कर वर्मन और वल्लभी-नरेश सेनापति ध्रुवसेन करेगे। शिविका के सम्मुख चलनेवाले पच महावाद्यो को पॉच माण्डलीक नरपति बजावेगे। दो माण्डलीक नरेश शिविका के सामने प्रतिहारी के रूप मे चलेगे। चार माण्डलीक नरपति शिविका पर तने हुए वितान के स्तम्भो को उठावेगे और शेष माण्डलीक नरेशो मे से एक शिविका पर छत्र लगावेगे, दो चामर, दो मोरछल और दो व्यजन डुलावेगे। इसके पश्चात् महाराजाधिराज साम्राज्य के समस्त कोष का दान करेगे जो सब वर्णो के निर्धनो को बॉट दिया जायगा।

बॉयीं ओर का दूसरा—सब वर्णो मे दान का बाँटना ही तो आर्य धर्म के प्रतिकूल माना जाता है।

बॉयीं ओर का पहला—उँह, ऐसे विचारवाले कुछ व्यक्ति तो सदा ही रहते है। स्मरण नही है कि कुछ ब्राह्मणो ने सम्राज्ञी के राज्याभिषेक का भी विरोध किया था।

दाहनी ओर का दूसरा—इतना ही क्यो, शशाक के वर्तमान विद्रोह को कई ब्राह्मण धार्मिक विद्रोह मानते है।

दाहनी ओर का पहला—और बोधि-वृक्ष को कटवानेवाली कृति इस प्रकार के विचारवालो का समर्थन करती है।

बॉयी ओर का पहला—शशाक के विद्रोह का कारण मेरी दृष्टि मे तो धार्मिक न होकर राजनैतिक है।

दाहनी ओर का दूसरा—(मुस्कराकर) तब तो आप यह भी मानते होगे कि भीतर से उसके बडे-बडे सहायक भी है।

बाँयीं ओर का पहला—(मुस्कराकर) मै इस सम्बन्ध मे कुछ न कहना ही अच्छा समझता हूँ।

दाहनी ओर का पहला—परन्तु, यदि आप आदित्यसेन के कारण माधवगुप्त पर सन्देह करते है, और उनका इस समय एकाएक लापता हो जाना इस सन्देह का और भी पुष्ट कारण मानते है, तो मै कहना चाहता हूँ कि आपका सन्देह भारी भूल से भरा हुआ है। देखिए----।

बाँयी ओर का दूसरा—अरे छोडिए, इस चर्चा को। यज्ञ की चर्चा करते-करते हम लोग राजनैतिक चर्चा करने लगे।

दाहनी ओर का पहला—यह आप ही ने आरम्भ की है, महाशय।

बाँयी ओर का दूसरा—मै अपना दोष स्वीकार करता हूँ। (कुछ रुक कर अपने साथी से) चलो न, हम लोग भी यज्ञशाला देख आवे।

बाँयी ओर का पहला—हाँ, हाँ, चलो।

[बाँयीं ओर से आनेवालो का दाहनी ओर और दाहनी ओर से आनेवालो का बाँयीं ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—प्रयाग मे यज्ञशाला

समय—प्रात काल

[दूरी पर गंगा बह रही है, उसका श्वेत नीर उदय होते हुए सूर्य की सुनहरी किरणो से चमक रहा है। बीच में सुवर्ण के रत्नजटित स्तम्भो के सहारे सुनहरी काम का एक वितान तना हुआ है। वितान के पीछे, बीचोबीच कान्यकुब्ज के कोष का समस्त धन सुवर्ण के घटो में भरा हुआ रखा है। ये घट त्रिकोणाकार में एक दूसरे के ऊपर सजाये गये है, अतः उनके समूह सुवर्ण-पर्वत के शिखरों के समान दृष्टिगोचर होते है। इन घटों के आसपास राजकर्म्मचारी बैठे हुए है, परन्तु, इनमें माधवगुप्त और भण्डि नहीं है। वितान के बीचोंबीच सुवर्ण का एक सिहासन रखा है। इस सिहासन की दाहनी ओर महाधर्माध्यक्ष और बॉयीं ओर यानचाग बैठे हुए है। धर्माध्यक्ष के निकट की सुवर्ण की चौकियो पर सुवर्ण के थालों में पूजन की सामग्री रखी है। धर्माध्यक्ष की दाहनी ओर धर्म-संस्थाओ के प्रतिनिधि और राज्य के प्रतिष्ठित पुरुष बैठे है और इनकी दाहनी ओर पुरुष-जन-समुदाय दृष्टिगोचर होता है। सिहासन के बाँयी ओर माण्डलीक नरेशो की रानियाँ बैठी है। इन्हींमें जयमाला और अलका भी है। इनके बॉयीं ओर स्त्री-जन-समुदाय दिखायी पडता है, जिनमें छोटे-छोटे बालक भी है। सब लोग पृथ्वी पर की बिछावन पर ही बैठे है। सिहासन के सामने बीच का भाग रिक्त है। कुछ देर के उपरान्त नेपथ्य में पंच महावाद्य बजते है, जिन्हे सुनते ही सब लोग हाथ बॉध-बाँधकर खड़े हो जाते है। वाद्य बन्द होते ही पॉचवें दृश्य में वर्णित प्रणाली से बुद्ध, शिव और आदित्य की मूर्तियाँ सुवर्ण की रत्नजटित शिविका पर आती है। उसपर चार माण्डलीक नरेश छोटा-सा वितान ताने है। शिविका पर सुनहरी काम है। उसके चारो छोटे-छोटे स्तम्भ सुवर्ण के है जो रत्नों से जड़े हुए है। छत्र, चामर, मोरछल और व्यजनो की डाँड़ियाँ भी रत्नजटित सुवर्ण की है। छत्र श्वेत कौशेय का है जिसपर रुपहरी काम है और मोतियों की झालर। व्यजन सुनहरी वस्त्र के है। सभी नरेशो की वेश-

भूषा हर्ष की सदा की वेश-भूषा के समान है। सबके सिरो पर श्वेत मालाएँ, अर्द्धचन्द्राकार-रूप में बँधी हुई है। शिविका के आते ही 'भगवान शिव की जय, भगवान आदित्य की जय, भगवान बुद्ध की जय' वाक्यो से यज्ञ-शाला गूँज उठती है। शिविका सिंहासन के सामने के रिक्त स्थान पर रखी जाती है और धर्माध्यक्ष आगे बढकर शिविका में-से तीनो प्रतिमाओ को उठाकर एक-एक कर सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है। छत्र, चामर, मोरछल व्यजन लिए हुए सातो माण्डलीक नरेश सिंहासन के पीछे जाकर खड़े होते है और छत्रवाले छत्र लगाते तथा अन्य छः नृपतिगण चामर, मोरछल और व्यजन डुलाना आरम्भ करते है। प्रतिहारी के रूप में आये हुए दोनो माण्डलीक-नरेश अपनी छडियो के संग सिंहासन के उभय ओर खडे हो जाते है। हर्ष, राज्यश्री, कुमारराज और ध्रुवसेन शिविका को जिस मार्ग से लाये थे, उसी मार्ग से बाहर ले जाते है। पंच महावाद्य-वाले माण्डलीक-नरेश शिविका के आगे, तथा वितान के स्तम्भो को लिए हुए जो माण्डलीक आये थे, वे उस वितान को शिविका पर उसी प्रकार ताने हुए, शिविका के साथ-साथ बाहर जाते है। कुछ ही देर में ये लोग खाली हाथ लौटकर आ जाते है। सिंहासन के सामने रिक्त भाग में सिंहासन की ओर मुख कर आगे हर्ष तथा राज्यश्री, इनके पीछे कुमारराज तथा ध्रुवसेन और इनके पीछे अन्य माण्डलीक राजा बैठते है। खड़े हुए शेष जन भी बैठ जाते है। अब धर्माध्यक्ष एव धर्म-संस्थाओ के अन्य प्रतिनिधिगण वेद-ध्वनि आरम्भ करते है। हर्ष तीनो प्रतिमाओ का सक्षिप्त पूजन कर सुवर्ण-थाल में आरती करते है और अन्तिम पुष्पाजलि में सारा जन-समुदाय मूर्तियो पर पुष्प चढाता है। वेद-ध्वनि बन्द होती और हर्ष कान्यकुब्ज के समस्त कोष का दान-संकल्प करते है। संकल्प महा-धर्माध्यक्ष बोलता है। इस संकल्प के पश्चात् हर्ष अपने कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ उतार कर उनका सकल्प करते है।]

हर्ष—(संकल्प करने के पश्चात् खड़े होकर, अपने दोनो हाथ आगे कर राज्यश्री से) सम्राज्ञी, मै आपसे एक वस्त्र की भिक्षा माँगता हूँ, क्योकि ये बहुमूल्य दुकूल भी दान करूँगा।

[राज्यश्री खडे होकर ऑखो में ऑसू भरकर, एक सादा वस्त्र हर्ष को देती है। हर्ष पहले उत्तरीय उतार कर पृथ्वी पर रख देते है, फिर राज्यश्री के दिये हुए वस्त्र को पहन अधोवस्त्र भी उतारकर उत्तरीय और अधोवस्त्र हाथ में ले सकल्प के लिए बैठते है। महाधर्माध्यक्ष संकल्प बोलना आरम्भ करता है। यज्ञशाला 'परमभट्टारक महाराजाधिराज राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय' आदि घोष से गूँज उठती है। इसी समय ब्राह्मणो में से एक ब्राह्मण एकाएक खड़ा होकर अधोवस्त्र में छिपी हुई एक छुरी निकाल हर्षवर्द्धन की ओर शीघ्रता से बढ़ता है। उसकी यह कृति देख उसके निकट बैठे हुए कुछ ब्राह्मण भी इसी प्रकार छुरिकाएँ निकाल कर उस ब्राह्मण पर टूट पडते हैं। सभी लोग सिर उठाकर आश्चर्य से स्तम्भित हो इस घटना को देखते हैं। हर्षवर्द्धन की ओर बढनेवाले ब्राह्मण को पीछे से छुरिकाएँ निकालनेवाले ब्राह्मण आहत कर पकड़ लेते हैं। उसी समय सैनिक वेश में माधवगुप्त का प्रवेश। उसीके साथ चार सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृखलाओ से बॉधे हुए लाते है। माधव-गुप्त के मुख पर अत्यधिक उद्विग्नता और आदित्यसेन के मुख पर अत्यधिक क्रोध दृष्टिगोचर होता है। आदित्यसेन सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है। माधवगुप्त हर्ष का अभिवादन कर एकटक हर्ष की ओर देखता है। आश्चर्य से स्तम्भित जन-समुदाय, जिसके मुख से अब तक एक शब्द भी न निकला था और जो ब्राह्मणो की इस घटना को एकटक देख रहा था, अब माधवगुप्त और आदित्यसेन की ओर देखने लगता है; फिर भी किसी के मुख से कुछ नहीं निकलता।]

हर्ष—[माधवगुप्त और आदित्यसेन को देख, आश्चर्य-भरे शब्दो

में माधवगुप्त से) माधव, तुम कहाँ चले गये थे? कब आये? यह सब क्या है?

माधवगुप्त—(भर्राये हुए शब्द में) परमभट्टारक की हत्या का षड्यन्त्र! इसीका पता पाकर आपसे विना कुछ कहे ही मुझे इस षड्यन्त्र के नाश के लिए दूसरे षड्यन्त्र की रचना कर आपके पास से जाने को वाध्य होना पडा।

हर्ष—और इस षड्यन्त्र का रचयिता कौन है?

माधवगुप्त—(उसी प्रकार के स्वर में) साम्राज्य के विद्रोही मेरे बन्धु शशाक नरेन्द्रगुप्त और (आदित्यसेन की ओर सकेत कर) मेरा पुत्र आदित्यसेन।

[हर्ष चौक पडता और फिर सिर झुका लेता है। जन-समुदाय और भी आश्चर्य से आदित्यसेन की ओर देखता है। अब आदित्यसेन क्रोध से अपने ओठ चबाता और दोनो हाथो को मलता है। कुछ देर सन्नाटा छाया रहता है।]

हर्ष—(धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) एक विद्रोही को तो तुम बन्दी करके लाये, दूसरा विद्रोही कहाँ है?

माधवगुप्त—(कुछ सँभलकर) उसे महाबलाधिकृत भण्डि ने युद्ध मे धराशायी किया है।

हर्ष—(जल्दी से) मेरे युद्ध त्याग देने पर भी तुम लोगो ने युद्ध किया, इन विद्रोहियो के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा नही की?

माधवगुप्त—(फिर उसी प्रकार भर्राये हुए स्वर में) यह युद्ध अनिवार्य था, परमभट्टारक, आततायियो के हृदय मे परिवर्तन नही होता।

हर्ष—और महावलाधिकृत भण्डि कहाँ है, तुम अकेले कैसे लौटे ?

माधवगुप्त—(शान्त स्वर में) चुने हुए सैनिको की जिस छोटी-सी सेना के साथ हम लोग गये थे, उसीको सग लेकर वे लौट रहे हैं। मै इस वन्दी को लेकर शीघ्र इसलिए चला आया कि यज्ञ के अवसर पर पहुँच जाऊँ और देखूँ कि षड्यन्त्र को असफल करने का मेरा षड्यन्त्र सफल हो। फिर भी मुझे आने मे कुछ विलम्ब तो हो ही गया।

[हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। फिर कुछ देर तक सन्नाटा छा जाता है।]

हर्ष—(फिर सिर उठाकर धीरे-धीरे) एक विद्रोही तो युद्ध में मारा गया। (आदित्यसेन की ओर संकेत कर) अव इस विद्रोही को भी तुम दण्ड दिलाना चाहते हो ?

माधवगुप्त—(खखारते हुए फिर अत्यधिक भर्राये हुए स्वर में) जी हाँ।

हर्ष—(पहले माधवगुप्त फिर आदित्यसेन और फिर माधवगुप्त की ओर देखकर) कौनसा दण्ड ?

माधवगुप्त—(कठिनाई से बोलते हुए) प्र प्र प्राण द .... दण्ड।

जन-समुदाय के कुछ व्यक्ति—धन्य है, धन्य है!

कुछ अन्य व्यक्ति—माधवगुप्त की जय!

सारा जन-समुदाय—माधवगुप्त की जय!

[एक ओर से दौड़ते हुए शैलबाला का प्रवेश।]

शैलबाला—कहाँ है, मेरा लाल, कहाँ है ?

[शैलबाला बन्दी आदित्यसेन को देख, दौड़कर उससे लिपट जाती है और फूट-फूट कर रोने लगती है। आदित्यसेन उसी मुद्रा में चुपचाप खड़ा रहता है। केवल अपनी दोनो भुजाओ से माँ का आलिंगन कर लेता है। हर्ष फिर सिर झुका लेते हैं। माधवगुप्त कनखियों से शैलबाला एवं आदित्यसेन की ओर देखता है और जन-समुदाय एकटक शैलबाला की ओर। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

शैलबाला—(एकाएक आदित्यसेन को छोड़कर हर्ष की ओर बढ़, अपनी साड़ी का छोर फैलाकर) भिक्षा माँगती हूँ, परमभट्टारक, अपने इस इकलौते पुत्र के प्राणो-------।

आदित्यसेन—(सिर उठाकर, गरजकर) क्या, क्या, कह रही है, माँ, क्या कह रही है! क्षत्राणी होकर भिक्षा! जो प्राण एक दिन जाना ही है, उसकी भिक्षा! शत्रु से भिक्षा! उत्तम होता, यदि मैं तेरे गर्भ मे ही प्रवेश न करता। उत्तम होता, यदि मैं जन्मते ही मर जाता। मेरा इस लोक का जीवन तो समाप्त हो ही रहा है, पर, मरते समय भी पिता के सदृश क्या माता का भी स्मरण कर मुझे तू गौरव का अनुभव न करने देगी? क्या माता का नाम लेकर भी यह आदित्यसेन सहर्ष अपने प्राण न दे सकेगा? (हर्ष से) वर्द्धनराज, आप मेरी माता की बात न सुनिए, उस ओर ध्यान ही न दीजिए। पिताजी के कथनानुसार इस अन्तिम गुप्तवशीय को प्राणदण्ड देकर मेरे गौरव की रक्षा कीजिए। मेरा गौरव न मेरे पिता पर अवलम्बित है और न माता पर। (अपना वक्षस्थल फुलाकर सिर ऊँचा उठाते हुए) वह मुझ पर अवलम्बित है, केवल मुझ पर।

हर्ष—(शान्ति से मुस्कराते हुए) नवयुवक, तुम सच्चे नवयुवक हो। युवावस्था मे जैसा तेज, जैसा उत्साह, जैसी निर्भीकता होनी चाहिए वैसी ही तुम मे है। परन्तु, देखो, तुम्हारे ये सद्गुण तुम्हारे एक विवेकहीन

विश्वास के कारण तुम्हे ठीक पथ पर न चला कर पथ-भ्रष्ट कर रहे है। आदित्यसेन, तुम मुझे वृथा ही गुप्त-वश का शत्रु मान रहे हो। मैने अपने वश का गौरव बढाने के लिए यह राज्य ग्रहण नही किया है। मेरे विवाह न करने के कारण वर्द्धन-वश का तो कोई वशज ही न रहेगा। अपने उत्कर्ष के लिए भी यह पद मैने नही लिया है, यदि ऐसा होता तो मै स्थाण्वीश्वर को कान्यकुब्ज का माण्डलीक राज्य क्यो बनाता ? पुत्र, मुझे अपने से ओर अपने वश से कभी आसक्ति का अनुभव नही हुआ, न किसी विशिष्ट धर्म और देश से ही अनुराग। इस विशाल विश्व को ही अपना देश मान, सारे धर्मो पर समान रूप से श्रद्धा रख और अपने-पराये सभी को अपना बन्धु समझ, मैने अपने जीवन का अब तक का समय व्यतीत करने का प्रयत्न किया है। हाँ, इतने पर भी मुझे अनेक युद्ध करने पडे है, अनेक विद्रोहियो का दमन करना पडा है, परन्तु उस परिस्थिति मे कदाचित् वह अनिवार्य था। यदि मेरा अब तक का जीवन मेरी अभी कही हुई बातों को सिद्ध करने मे समर्थ नही है, तो मै तुम्हे अपने कथन की सत्यता का अन्य कौनसा प्रमाण दे सकता हूँ ? (कुछ रुककर) मै तुम्हे मुक्त करता हूँ, आदित्यसेन, इसलिए नही कि तुम्हारी माता ने मुझसे तुम्हारे प्राणो की भिक्षा माँगी है, परन्तु इसलिए कि तुमसे अधिक तेजस्वी, तुमसे अधिक उत्साही, तुमसे अधिक निर्भीक अन्य कोई युवक मुझे इस समय इस आर्यावर्त मे दिखायी ही नही देता। तुमने यदि इन सद्गुणो का, अपने और अपने वश के उत्कर्ष मे उपयोग न कर लोक-सेवा मे उपयोग किया तो मै तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस आर्यावर्त के परम प्रतापी, सच्चे लोक-सेवी सम्राट् होगे और तुम्हारी कृति से तुम स्वयं तथा यह जगत् दोनो ही अनुपम सुख का अनुभव करेगे। **(सैनिकों से)** छोड़ दो, सैनिको, आदित्यसेन को मुक्त कर दो।

जन-समुदाय—(एक स्वर से) राजर्षि हर्षवर्द्धन की जय !

[सैनिक आदित्यसेन को लोहे की शृंखलाओ से मुक्त करते हैं। वह बिना कुछ कहे अथवा बिना किसीका अभिवादन किये, कुछ विचार करते हुए धीरे-धीरे जाता है। माधवगुप्त कनखियो से उसकी ओर देखता है। शैलबाला के नेत्रो से आँसू बहने लगते है। हर्ष पहले माधवगुप्त फिर शैलबाला की ओर देख सिर झुका लेते है। जन-समुदाय हर्ष, माधवगुप्त और शैलबाला की ओर देखता है। उसी समय कुछ दूरी पर मण्डप में अग्नि लगती है। हल्ला होता है। कुछ लोग भागते है।]

हर्ष—(माधवगुप्त से) है! यह क्या माधव, यह भी क्या कुचक्रियो का कोई कुचक्र है?

माधवगुप्त—(जल्दी से) जान तो यही पडता है, परमभट्टारक, परन्तु चिन्ता नही, इसके वुझाने का अभी प्रवन्ध करता हूँ। इस अग्नि के सग ही आर्यावर्त के साम्राज्य के प्रति विद्रोहियो की अग्नि भी सदा के लिए शान्त हो जायगी।

यवनिका-पतन

समाप्त